इलाहाबाद विश्वविद्यालय

UNIVERSITY OF ALLAHABAD
QUOT RAMI TOT ARBORES

की

डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

# छायावादोत्तर हिन्दी कविता का दार्शनिक और वैचारिक अनुशीलन

हेमन्त राज उपाध्याय


*निर्देशन*

डॉ० मोहन अवस्थी

पूर्व प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

*प्रस्तुति*

हेमन्त राज उपाध्याय

एम० ए० (हिन्दी)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय



हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सन्-2002

इलाचन्द्र जोशी इस प्रकार के साहित्यकारों में अग्रणी रहे हैं। शेखर एक जीवनी में अज्ञेय ने मानव के संघर्षशील जीवन का अच्छा चित्रण किया हैं। इस उपन्यास का प्रमुख पात्र शेखर जीवन के बिखरे सूत्रों को समेट कर उसे एक सार्थकता प्रदान करना चाहता है।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने पुराने मूल्यों का खण्डन करके नवीन मूल्यों की रचना करने की स्वतन्त्रता प्रदान की। उन्होंने मनुष्य के क्रान्तिकारी स्वभाव का समर्थन किया। वे अहम् का दमन करना उचित नहीं समझते है। मनुष्य की काम वासना को नैतिक मानदण्डों के द्वारा कुंठित करने का प्रयास निरर्थक है क्योंकि यह मनुष्य की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात है। छायावदोत्तर कविता में इन वर्जनाओं को ध्वस्त करने के लिए क्रान्ति का आवाहन किया गया है।

इसी प्रकार मार्क्सवाद को आधुनिक युग के मानव धर्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु कोरी विद्रोह भावना से व्यक्ति का विकास संभव नहीं है। कोरा विद्रोह अभावात्मक होता है। अतः उसे भावात्मक रूप देने के लिए क्रान्ति में सूक्ष्म संवेदनशीलता का गुण होना चाहिए। इस गुण की पहचान यह है कि व्यक्ति दुख की चरम अनुभूति करता है। उसमें यातना सहन करने की अपूर्व क्षमता होती है। पश्चिमी अस्तित्ववाद मनोविश्लेषण वाद और मार्क्सवाद की इन विचार धाराओं का प्रभाव प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता और उसके बाद की कविताओं पर उपलक्षित होता है। किन्तु हिन्दी के छायावाद और छायावादोत्तर हिन्दी कविता पर कोरा पश्चिमी दर्शन का प्रभाव ही नहीं है बल्कि भारतीय आध्यात्मवाद विशेष रूप से वेदान्त, शैव व शाक्त मत, योगी अरिवन्द के विकास वाद और आध्यात्मिक चिन्तन के प्रभाव की झलक उपलक्षित होती है। इस प्रकार पाश्चात्य और प्राच्य दोनों ही प्रकार की दार्शनिक चिन्तन धाराओं के मिश्रित प्रभाव से छायावादोन्तर हिन्दी कविता एक सर्वथा मौलिक और नूतन कालेवर धारण करती है। इसके परिणाम स्वरूप इस कविता का सौष्ठव उसके छंदबद्ध आकारिक स्वरूप के कारण नहीं बल्कि मनुष्य की संवेदनाओं, दुख, सुख, संत्रास, त्रसदी, कुंठा, आदि से मुक्ति का आवाहन करने और मर्मस्पर्शी होने में निहित है।

इस प्रकार यह शोध प्रबन्ध, दार्शनिक अनुशीलन के आलोक में प्रस्तुत किया जा रहा है। इस शोध प्रबन्ध की रचना करने में हिन्दी विभाग के अवकाश प्राप्त आचार्य डॉ० मोहन अवस्थी और डॉ० हरिशंकर उपाध्याय उपाचार्य दर्शनशास्त्र विभाग से महती प्रेरणा और मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त

समय–सामय हिन्दी विभाग के डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, डॉ० मीरा दीक्षित, डॉ० कृपाशंकर पाण्डेय से प्रेरणा और मार्ग दर्शन मिलता रहा। अतः मैं अपने इन गुरजनों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य वरिष्ठ शोध कर्ताओं, सतीश दूबे, डॉ० अरूण दूबे आदि एवं सहयोगी मित्रों अनुराग अवस्थी, अमित, अंशुमान और अभिजात अवस्थी, देवानन्द त्रिपाठी तथा अनुज, रोहित उपाध्याय, वेद प्रकाश उपाध्याय, ज्ञान प्रकाश उपध्याय, पुत्री शिवांगी तथा पुत्र भावेश से विभिन्न प्रकार का सहयोग प्राप्त हुआ इन सभी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, और डॉ० जटाशंकर त्रिपाठी, उपाचार्य, दर्शन शास्त्र विभाग, के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्हों ने समय–समय पर मेरा मार्ग दर्शन किया। इसके साथ ही जय दुर्गे माँ कम्प्यूटर प्वाइंट, मनमोहन पार्क, कटरा, इलाहाबाद के सन्तोष दास, रमेश यादव व चन्द्रभान सिंह के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्हों ने तत्परता से मेरे शोध प्रबन्ध का मुद्रण कार्य सम्पन्न किया। प्रस्तुत शोध प्रबंध के रचना में जिन प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों की कृतियों का सहारा किया गया है मैं उन सब के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ। इसके अतिरिक्त मैं अपने पूज्य पिता श्री अंजनी कुमार उपाध्याय और पूज्यनीया माता श्रीमती सुशीला देवी के आर्शीवाद और प्ररेणा से ही यह ग्रन्थ लिखने में सफल हुआ हूँ। इसके अतिरिक्त मैं अपनी धर्म पत्नी श्रीमती मीनम उपाध्याय के प्रति आभार प्रकट करता हूँ क्योंकि उन्होंने ने इस शोध प्रबन्ध के लेखन में अपना आविस्मरणीय सहयोग और सेवा प्रदान की है।

सधन्यवाद !

कार्तिक पूर्णिमा संवत् 2059
इलाहाबाद

**हेमन्तराज उपाध्याय**
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

समय–सामय हिन्दी विभाग के डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, डॉ० मीरा दीक्षित, डॉ० कृपाशंकर पाण्डेय से प्रेरणा और मार्ग दर्शन मिलता रहा। अतः मैं अपने इन गुरजनों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य वरिष्ठ शोध कर्ताओं, सतीश दूबे, डॉ० अरूण दूबे आदि एवं सहयोगी मित्रों अनुराग अवस्थी, अमित, अंशुमान और अभिजात अवस्थी, देवानन्द त्रिपाठी तथा अनुज, रोहित उपाध्याय, वेद प्रकाश उपाध्याय, ज्ञान प्रकाश उपध्याय, पुत्री शिवांगी तथा पुत्र भावेश से विभिन्न प्रकार का सहयोग प्राप्त हुआ इन सभी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, और डॉ० जटाशंकर त्रिपाठी, उपाचार्य, दर्शन शास्त्र विभाग, के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्हों ने समय–समय पर मेरा मार्ग दर्शन किया। इसके साथ ही जय दुर्गे माँ कम्प्यूटर प्वाइंट, मनमोहन पार्क, कटरा, इलाहाबाद के सन्तोष दास, रमेश यादव व चन्द्रभान सिंह के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्हों ने तत्परता से मेरे शोध प्रबन्ध का मुद्रण कार्य सम्पन्न किया। प्रस्तुत शोध प्रबंध के रचना में जिन प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों की कृतियों का सहारा किया गया है मैं उन सब के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ। इसके अतिरिक्त मैं अपने पूज्य पिता श्री अंजनी कुमार उपाध्याय और पूज्यनीया माता श्रीमती सुशीला देवी के आर्शीवाद और प्ररेणा से ही यह ग्रन्थ लिखने में सफल हुआ हूँ। इसके अतिरिक्त मैं अपनी धर्म पत्नी श्रीमती मीनम उपाध्याय के प्रति आभार प्रकट करता हूँ क्योंकि उन्होंने ने इस शोध प्रबन्ध के लेखन में अपना आविस्मरणीय सहयोग और सेवा प्रदान की है।

सधन्यवाद !

कार्तिक पूर्णिमा संवत् 2059
इलाहाबाद

**हेमन्तराज उपाध्याय**
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

# विषय सूची

# प्रथम-अध्याय

# छायावाद एवं उत्तर छायावाद

# छायावाद एवं उत्तर छायावाद

## (अ) छायावाद का स्वरूप एवं विशेषताएँ

छायावाद परोक्ष जीवन की नहीं प्रत्यक्ष जीवन की ही अनुभूति है। वह कल्पना द्वारा उत्पादित जीवन चित्रों की सरस काव्यधारा है और सरस काव्य प्रत्यक्ष संसार से मुंह मोड़कर नहीं लिखा जा सकता है। वह लाक्षणिक शैली मात्र भी नहीं छायावादी कवियों ने सूक्ष्म संकेतात्मक प्रतीक योजना में निबद्ध अभिव्यंजना की विभिन्न भंगिमाओं को संवेदना के सम्पुट में प्रस्तुत किया है। उनका स्वर मानवतावादी है, वे मुक्ति चाहते हैं। एक ओर कविता की रूढ़ियों से दूसरी ओर सामाजिक और राष्ट्रीय पराधीनता के बन्धनों से।

छायावाद का विकास कैसे हुआ, क्या परिस्थितियाँ थीं, क्या कारण थे, यहां पर इसकी विवेचना आवश्यक हो जाती है। परम्परागत काव्य में व्यक्ति या कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों को स्थान नहीं मिलता था, जो उनके मन में सम्पूर्ण परम्परागत मान्यताओं, धाराणाओं, विचारों आदि से सर्वथा मुक्त और निर्लिप्त रह जीवन और जगत के विभिन्न रूपों को देख उदय हुआ करती है। इन रूपों को देख कभी उनका मन हर्षित तो कभी विषादग्रस्त हो उठता। यद्यपि उसकी यह मनःस्थिति समकालीन परिवेश और परिस्थितियें से प्रभावित होती रहती है, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से ही। उसका उन्मुक्त मन अपनी वैयक्तिक सुख–दुखात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए लालाइत बना रहता है। निज परिवेश में भोगी गई विवशाताएँ उसके मन में सम्पूर्ण परम्परा के प्रति आक्रोश और विद्रोह की भावना उत्पन्न कर देती हैं। उसे अपनी अभिव्यक्ति पर परम्पराओं का अंकुश सहन नहीं होता और यह भावना उन्हीं लोगों में अधिक बलवती होती है जो अमित मेधावी, स्वतन्त्र विचारक और स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले होते हैं ऐसे व्यक्ति जब साहित्य सृजन के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तब उनकी रचना सर्वथा एक भिन्न रूप धारण कर लेती है। ऐसे व्यक्तियों ने जब अंग्रेजी साहित्य में प्रवेश किया था तो उनकी रचनाओं को रोमांटिक कहा गया और ऐसे ही व्यक्तियों ने जब हिन्दी साहित्य में प्रवेश किया तो उन्हें छायावादी कहा गया।

वस्तुतः छायावाद हिन्दी साहित्य की अन्तर्मुखी धारा रही है। इसमें प्रधानतः बाह्य जगत की अपेक्षा अन्तर्जगत (कवि का भाव लोक), बौद्धिकता की अपेक्षा भावात्मकता, जीवन के यथार्थ की अपेक्षा मनः लोक की कल्पना, नग्न सत्य की अपेक्षा कल्पना वेष्टित सौन्दर्य, संघर्ष की अपेक्षा प्रेम और परम्परा की अपेक्षा नूतनता के प्रति अधिक मोह रहा है। द्विवेदी युगीन काव्याभिव्यक्ति में मानव की कोमल भावनाओं, मनोरम कल्पनाओं और वैयक्तिक सुख–दुखात्मक अभिव्यक्ति पर अंकुश लगा दिया गया था और वह काव्य शिल्प की दृष्टि से परम्परा विरूद्ध सा दिखाई पड़ने वाला होते हुए भी घोर परम्परावादी था। छायावादी काव्य में हमें इसी अंकुश और परम्परा बद्धता के प्रति विद्रोह की भावना मिली। परन्तु यह विद्रोह की भावना क्यों उत्पन्न हुई इसका रहस्य उस युग की परिस्थितियों में छिपा हुआ था।

यद्यपि कि हिन्दी का छायावादी काव्य अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य से प्रभावित था, परन्तु प्रश्न यह है कि अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा, हिन्दी में छायावादी काव्यधारा के उदय से लगभग 70–80 वर्ष पूर्व समाप्त हो चुकी थी तो हिन्दी के नये छायावादी कवियों ने अपनी समकालीन अंग्रेजी कविता की उपेक्षा कर उस 70–80 वर्ष पूर्व मृत हो गई काव्य धारा का अनुगमन क्यों किया? मूलतः कोई भी साहित्यिक आन्दोलन अपनी समकालीन परिस्थितियों के कारण ही जन्म लेता है। जिन कारणों ने अंग्रेजी रोमांटिक काव्य को जन्म दिया था वही कारण भारत में भी सन् 1920 के आस–पास उत्पन्न हो चुके थे और उन्हीं कारणों ने यहां छायावाद को जन्म दिया था। किसी भी साहित्य धारा को समझने के लिए उसके युग का अध्ययन अनिवार्य होता है। युग की विषमतायें और आकांक्षाएं साहित्यकार के माध्यम से उसके काव्य को स्वरूप तथा आधार प्रदान करती हैं। साहित्यकार ही नहीं चिन्तक और विचारक भी अपने युग की सीमाओं के भीतर ही कार्यशील होते हैं, क्योंकि उनमें युग की चेतना ही पुंजीभूत और साकार हो उठती है। छायावाद युग की काव्यधारा को समझने के लिए उस युग के जीवन को भी समझना होगा और उन तत्वों और मूल्यों के स्रोत तथा स्वरूप पर भी प्रकाश डालना होगा जो इस काव्यधारा के आदर्श बने। कुछ तत्व और मूल्य तो हमें उस युग में ही प्राप्त होते हैं, जैसे–स्वाधीनता की भावना राष्ट्र प्रेम, अहिंसा आदि और कुछ मूल्यों का शोध करने के लिए हमें अतीत की ओर देखना होगा।

इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के जन्म के उपरान्त एक उग्र सामाजिक उथल–पुथल मच गई थी। समाज में धन का प्रभुत्व बढ़ गया था। धन के सम्मुख ज्ञान अथवा कला को कोई सम्मान नहीं दिया जाता था। कवि और कलाकार समाज के उपेक्षित से प्राणी बन गये थे। धनाधिकारी अपने प्रभुत्व को अक्षुण बनाये रखने के लिए नीति, सदाचार, परम्परा पालन, आदि पर बल दे रहे थे, क्योंकि समाज द्वारा इनका पालन करते रहने पर ही उन्हें अकूत धनार्जन, अबाध व्यापार और जन शोषण का अवसर मिल सकता था। धर्म और राज सत्ता पर भी इसी वर्ग का प्रभुत्व था। इन्हीं अर्थ प्रधान परिस्थितियों ने वहां के समाज के उस युवक वर्ग को विद्रोही बना दिया था, जिन्हें ये स्वार्थ प्रेरित और रूढ़ परम्पराओं के बन्धन स्वीकार नहीं थे। यह युवक वर्ग मेधावी, स्वतन्त्रचेता, और समाज में सम्मान पाने का महत्वाकांक्षी था। इसे यह सह्य नहीं था कि व्यक्ति की स्वाभाविक वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति पर किसी भी प्रकार का अंकुश लगाया जाये। यह ऐसे समाज के विरूद्ध विद्रोह करना चाहता था, परन्तु सामाजिक उपेक्षा और परिस्थति जन्य विवशताओं ने उसके इस विद्रोह को बर्हिमुखी न बना अनर्मुखी बना दिया और वह अपनी वैयक्तिक सुखदुखात्मक अनुभूतियों को नई भाषा और नये काव्य रूप के माध्यम से अभिव्यक्त करने लगा। परम्परागत साहित्य और समाज के ठेकेदारों ने उसका विरोध किया उसे अनैतिक और संस्कृति सभ्यता का द्रोही घोषित किया।

इंग्लैण्ड का यह युवक वर्ग समाज के मध्य वर्ग का अंश था और इसीलिए ऐकाकी भी था। उसमें वह सामूहिकता की शक्ति न आ पाई जो शोषित और निम्न वर्ग की विशेषता होती है। इसलिए इस मध्य वर्ग का यह विद्रोह सामूहिक जनचेतना का रूप न धारण कर सका। क्योंकि इसमें सामूहिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना ही प्रमुख थी। इसी कारण उसका यह विद्रोह क्षणिक जीवन बिताकर ही समाप्त हो गया, परन्तु काव्य क्षेत्र में एक नूतन कला का समावेश कर गया। जिसने काव्य को एक अभिनव कान्ति, दीप्ति और सौन्दर्य से मण्डित कर दिया था।

हिन्दी छायावादी काव्य के जन्म विकास और पतन की कहानी लगभग यही रही है। (लेकिन आचार्य शुक्ल ने आगे चलकर छायावाद और स्वच्छन्दतावाद में भी फर्क किया है)।

व्यापक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि छायावाद युग भारत के लिए अस्मिता की खोज का युग है। सदियों की दासता के कारण भारतीय जनता आत्म केन्द्रित होती हुई रूढ़िग्रस्त हो गई थी। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना ने देश में एक विराट तूफान पैदा कर दिया। पाश्चात्य शिक्षा और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव स्वरूप देश के बुद्धजीवियों के सामने एक क्षितिज का उद्घाटन हुआ। हम पाश्चात्य साहित्य और जीवन मूल्यों के जनने के लिए उत्सुक हो उठे थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अंग्रेजी के रोमेंटिक कवि 'शेली' 'कीट्स' आदि की रचनायें बहुत लोकप्रिय थीं। अंग्रेजी साहित्य उनसे बहुत प्रभावित था। श्रीधर पाठक इस प्रभाव को अपनी रचनाओं में उतार चुके थे। उधर बीसवीं सदी के आरम्भ में अंग्रेजी के रहस्यवादी कवियों से प्रभावित हो रवीन्द्र नाथ ठाकुर 'गीतांजलि' की रचना कर रहे थे। शेली, कीट्स आदि रोमांटिक तथा ब्रउनिंग आदि रहस्यवादी कवियों का यह सम्मिलित प्रभाव उसमें भारतीय औपनिषदिक चिन्तन के समावेश ने हिन्दी में एक नई काव्यधारा को जन्म दिया था जो छायावाद कहलाई। हिन्दी में इसका आरम्भिक रूप श्रीधर पाठक की रचनाओं में अपनी झलक दिखा गया था। बीच में कुछ वर्षों का व्यवधान पड़ गया। कुछ वर्ष उपरान्त भारत में भी वही परिस्थितियां उत्पन्न हो गई जिन्होंने अंग्रेजी रोमेंटिक काव्य को जन्म दिया।

प्रथम विश्व युद्ध (1914–18) के दौरान भारत में युद्ध सामग्री के उत्पादन के लिए नए कल कारखानायें की तेजी से स्थापना हुई। इनमें बड़े–बड़े भारतीय पूंजीपतियों ने धन लगाया। युद्ध काल में जमींदारों और ठेकेदारों ने सरकार के लिए सैनिक और रसद जुटाकर खूब पैसा कमाया। अंग्रेजों ने भारत को यह आश्वासन दिया था कि यदि भारत इस युद्ध में जर्मनी के विरूद्ध अंग्रेज की सहायता करेगा तो विजयोपरान्त उसे आजाद कर दिया जायेगा, इस आश्वासन पर महात्मा गाँधी जैसे नेताओं ने अंग्रेज की सहायता की। युद्ध के दौरान कुछ व्यक्तियों द्वारा अधिक धनोपार्जन के कारण समाज में धन का महत्व बढ़ा। कुछ लोग बहुत अमीर बन गये परन्तु साधारण जनता विशेष रूप से किसान अधिकाधिक निर्धन बनता चला गया, सरकार ने जन साधारण की दशा सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया। जमींदार साहूकार, पुलिस आदि मिलकर जनता को लूटते रहें। अंग्रेज के प्रभुत्व के कारण समाज में धनी एवं अंग्रेजी पढ़े लिखे व्यक्तियों का सम्मान था हिन्दी व समस्त भारतीय भाषाओं की कोई पूंछ नहीं थी। इस कारण समाज के इस चेतन वर्ग में परम्परा और रूढ़ मान्यताओं के

प्रति एक क्षोभ और अवहेलना की भावना भर उठी थी और इसका प्रस्फुटन साहित्य के माध्यम से यत्र–तत्र होने भी लगा था।

सन् 1918 ई०में अंग्रेजों की विजय हुई और युद्ध समाप्त हो गया, परन्तु भारतीयों ने युद्धकाल के दौरान की गई अपनी सेवा और सहायता के प्रतिदान में अंग्रेजों से आजादी मांगी तो विजयोन्माद में उद्धत बना अंग्रेज साफ मुकर गया, जब भारतीयों ने आदोलन किया तो जलियाँ वाला बाग हत्याकाण्ड और रौलेट एक्ट जैसे भयंकर दमनकारी अत्याचारों का सामना करना पड़ा। यह देख महात्मा गाँधी ने खिलाफत आन्दोलन चलाया। हिन्दू और मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर इसमें भाग लिया, अंग्रेजों ने कठोर दमन के साथ–साथ कूटनीति का सहारा लेते हुए हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डाल दिया और धार्मिक दंगे करवा दिए। इन परिस्थितियों ने देश में एक भयंकर निराशा, क्षोभ, और किंकर्तव्य विमूढ़ता की सी स्थिति उत्पन्न कर दी। सत्ता का सम्बल पाकर ईसाई धर्म प्रचारक पाश्चात्य जीवन पद्धति की गरिमा और भारतीय सांस्कृतिक निस्सारता का प्रचार करने लगे, राजनीतिक दासता के साथ–साथ इस सांस्कृतिक आक्रमण ने यहां के चिंतकों को और भी अधिक आन्दोलित कर दिया, इसका परिणाम भारतीय पुनर्जागरण का व्यापक आन्दोलन था। जिसके जन्मदाता थे राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी आदि इसी विराट आन्दोलन के नेता थे। इन सब महापुरूषों ने देश की अतीत परम्परा से मूल्यवान तत्वों को खोजकर उन्हें नये जीवन के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। चाहे व्यक्तिगत रूप से कवियों की आस्था इनमें से किसी एक प्रचारक पर रही हो या न रही हो यह स्पष्ट है कि ये कवि जिस वातावरण में सांस ले रहे थे उसका निर्माण इन्हें महापुरूषों के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ था। इसलिए ज्ञात या अज्ञात भाव से छायावाद युग के अधिकांश कवि इन लोक पुरूषों के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए।

चेतन, शिक्षित, देश प्रेमी, युवक वर्ग परिस्थिति की इस विषमता से त्रस्त था। उसे विषमता के इस शिकंजे से मुक्ति का कोई मार्ग दिखाई नहीं देता था। नवीन शिक्षा पद्धति अंग्रेजी प्रभाव और अंग्रेजी से प्रभावित बंगला साहित्य के सम्पर्क ने व्यक्तिवादी भावना को जगाया, जिससे व्यक्ति का अहम् उद्दीप्त हो उठा। उनका मानसिक क्षोभ अपनी अभिव्यक्ति की राह ढूढ़ रहा था।

परिस्थितियों की विषमता ने उन्हें अन्तर्मुखी बना दिया। साहित्यिक नैतिकता उनकी अपनी क्षुब्ध व्यक्तिगत भावनाओं को अभिव्यक्त का अवसर नहीं प्रदान करती थीं। अतः वे काव्य के माध्यम से कल्पना द्वारा अपनी इन अपूर्ण महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करने लगे। इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ने उनकी संवेदना पर वैयक्तिकता का गहरा रंग चढ़ा दिया। इसीलिए एक ओर तो इस युग के काव्य में द्विवेदी युगीन नैतिकता और स्थूलता की प्रतिक्रिया दिखाई देती है और दूसरी ओर विदेशी दासता के प्रति विद्रोह का स्वर सुनाई देता है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा के कवियों ने विदेशी शासन का विरोध किया और जनता में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न की। यह विद्रोह छायावादी कवियों में भी व्यापक रूप से दिखाई देता है। उन्होंने विषय, भाव, भाषा, छंद आदि सभी क्षेत्रों में नये मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया। छायावादी कवियों ने परम्परागत छन्दों का बन्धन अस्वीकार कर दिया। छन्द में न तो वर्णों का बन्धन रहा न मात्राओं का। निराला ने तो छन्द को पूर्ण मुक्त ही कर दिया। अंग्रेजी के प्रभाव से अनेक अलंकार और प्रतीक अपनाये गये। मनुष्येतर पदार्थों में मानवीय भावनायें दिखाकर उनका मानवीकरण किया गया समष्टि रूप से छायावाद के इस कला पक्ष के उत्कर्ष ने हिन्दी भाषा के शील सौन्दर्य और शक्ति को प्रकर्षित करने में अभूतपूर्व योग दिया।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि छायावाद की शुरूआत कब से हुई और इसकी उपलब्धियां और विशेषतायें कौन–कौन सी हैं?

छायावाद की शुरूआत 1918 ई० के आस–पास मानी जाती है। 1920 तक छायावाद नाम का प्रचलन हो गया था। मुकुट धर पाण्डेय ने श्री शारदा के लगातार चार अंकों में छायावाद शीर्षक से एक लेख माला लिखी थी। जून 1921 ई० में सरस्वती में 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक से ही सुशील कुमार का एक व्यंग्यात्मक निबंध प्रकाशित हुआ। इन निबंधों में छायावाद का प्रयोग रहस्यवाद के अर्थ में ही हुआ है। सुशील कुमार के इस व्यंग्यात्मक निबंध में छायावादी कविता को टैगोर स्कूल की चित्रकला के समान अस्पष्ट कहा गया है।

छायावाद क्या है इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मुकुट धर पाण्डेय ने लिखा है कि, "अंग्रेजी या किसी पाश्चात्य साहित्य अथवा बंग साहित्य की वर्तमान स्थिति की कुछ भी जानकारी रखने वाले तो सुनते ही समझ जायेंगे कि

यह शब्द "मिस्टिसिज्म" के लिए आया है।" इसी प्रकार सुशील कुमार वाले निबन्ध में भी छायावादी कविता को कोरे कागद की भांति अस्पष्ट, निर्मल ब्रह्म की विषद छाया, वाणी की नीरवता, निस्तब्धता का उच्छ्वास एवं अनन्त का विलास कहा गया है।

एक पत्र के जवाब में श्री पाण्डेय ने सन् 1920 की श्री शारदा में प्रकाशित अपने लेखों का हवाला देते हुए लिखा था कि, जो रचनाएं मुझे अस्पष्ट लगी थीं, उन्हें मैनें छायावादी कह दिया था। मुझे क्या पता कि यह शब्द चल पड़ेगा। बाद में उन्होंने इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मध्य प्रदेश सन्देश (13 जुलाई 1968) में एक लेख भी लिखा प्रसंगवश यहां उस लेख के कुछ अंश को यहाँ उद्धृत करना उचित होगा।

झरना के साथ हिन्दी कविता में एक अन्तरमुखी विचार सराणि, अन्तर्गूढ़ भावना और अभिनव शैली का सूत्रपात हुआ। 'मनोहर झरना कठिन गिरि कहीं विदारित करना' क्या यहां प्रसाद जी का अभिष्ट शब्दार्थ की अभिधानिक सीमा का उल्लंघन नहीं करता? एक संकेत था, एक इंगित था जिसे समझने के लिए कुछ सोचना पड़ता था, फिर भी उसका ठीक यही भाव है ऐसा नहीं कहा जा सकता।"[1]

"यह अभिनव शैली थी जो ग्रन्थों में वर्गित ध्वन्यात्मक या व्यंग्यात्मक शैलियों से कुछ भिन्न प्रकार की थी। वह एक कुहासे से आच्छन्न थी। उस पर आवरण पड़ा हुआ था। इस शैली का नामकरण नहीं हुआ था। न बांगला में हुआ था, न हिन्दी में। बांगला में मेरा जहां तक ख्याल है, उसे मिस्टिक ही करते थे। आज से अर्ध शताब्दी पूर्व जब मैंने इस विषय पर कुछ लिखना चाहा, तब मैंने हिन्दी के कई विद्वानों से मिस्टिसिज्म का पर्यायवाची हिन्दी शब्द जानने के लिए पत्र व्यवहार किया। श्री द्विवेदी जी ने आध्यात्मवाद और वक्षी जी ने भक्तिवाद नाम सुझाया।"[2] "मेरे सामने नई शैली के गीत थे। इनके भावों में एक धुंधलापन था, मानों वे भाव नहीं, उनकी छाया हों। बस इसी बुनियाद पर मैंने छायावाद नाम रखा।" बांगला में मैंने एक आलोचना पढ़ी थी जिसमें नई शैली के लक्षणों में छायावादिता भी गिनाई गई थी। पर बांगला में नई शैली को छायावाद नहीं कहा जाता था न कहा जाता है यह बात सही है कि मैंने छायावाद का नामकरण किया।[3]

'श्री मुकुट धर पाण्डेय का ध्यान छायावाद का नामकरण करने में इन चार तत्वों पर केन्द्रित था–धुंधलापन, अन्तर्मुखी विचार सरणि, अमिधानिक सीमा का उल्लंघन नई शैली।"[4]

आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे बाजपेयी एवं राम चन्द्र शुक्ल छायावाद को रहस्यवाद का पर्याय तो नहीं समझते पर उसे आध्यात्मिकता से जोड़कर देखते जरूर हैं। महाबीर प्रसाद द्विवेदी छायावाद को अन्योक्ति पद्यति समझते थे। "शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिए।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद शब्द को उन्हीं अर्थों में लिया है। "एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहां उसका सम्बन्ध कथावस्तु से होता है। दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में। "छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।" लगता है अज्ञात के प्रति जिज्ञासा के भाव को देखकर ही शुक्ल जी ने यह परिभाषा दी जिससे छायावाद की अन्य विशेषतायें उसकी परिसीमा में नहीं आ पाती हैं।

आगे चलकर रहस्यवाद और छायावाद में भेद किया जाने लगा। शुक्ल जी ने छायावाद और स्वच्छन्दता बाद में भी भेद किया। पर कुछ लोग (Romantizism) भ्रमवश शुक्ल जी द्वारा गढ़े हुए स्वच्छन्दतावाद को भी छायावाद का पर्याय मानने लगे। यहां समझ लेना चाहिए कि छायावाद न तो रहस्यवाद है और न ही स्वच्छन्दता बाद बल्कि उसमें दोनों के कतिपय गुण धर्म शामिल हैं। जहां तक रहस्यवाद छायावाद, और स्वच्छन्दतावाद शब्दों के शब्दार्थ और लोक प्रचलित भाव का सम्बन्ध है। निश्चय ही इन तीनों में थोड़ा–थोड़ा अन्तर है। रहस्यवाद अज्ञात की जिज्ञासा है। तो छायावाद चित्रण की सूक्ष्मता और स्वच्छन्दतावाद प्राचीन रूढ़ियों से मुक्ति की आकांक्षा। शुक्ल जी ने छायावाद को नकली साबित करने के लिए जो भगीरथ प्रयत्न किया था, उसको विशेष महत्व न देकर यह जरूर स्वीकार कर लेना चाहिए कि बांगला में इस शैली की जो रचनायें होती थीं उनका एक लक्षण छायावादिता भी था। अर्थात् बांगला में छायावादिता शब्द अवश्य प्रचलित था। छायावाद चाहे न रहा तो। इस प्रकार पाण्डेय जी तथा शुक्ल जी के कथन में कोई अन्तर नहीं है।

डॉ० नगेन्द्र ने छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा है।[5] यह सही है कि छायावाद में सूक्ष्मता है। लेकिन इस सूक्ष्मता की सीमा के कारण हम निराला और प्रसाद की उन कविताओं से वंचित रह जाते हैं। अतः यह परिभाषा भी अर्थात दोष से मुक्त नहीं है।

प्रसाद जी ने जो परिभाषा दी है, उसमें अभिव्यक्ति के निराले ढंग तथा वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति पर बल है। छायावाद ने स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति का माध्यम लिया।

छायावाद पुरानी रूढ़ियों एवं विदेशी पराधीनता से एक साथ मुक्ति का प्रयास है। यह राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इस जागरण में जिस तरह क्रमशः विकास होता गया, इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी विकसित होती गयी और इसके फलस्वरूप छायावाद संज्ञा का भी अर्थ विस्तार हो गया। वैसे प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी वर्मा की कविता के लिए छायावाद शब्द रूढ़ हो गया है। ऐसी परिस्थिति में छायावाद शब्द का अर्थ चाहे जो हो, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी की उन समस्त कविताओं का द्योतक हैं जो 1918 ई० से 1936 ई० तक लिखी गयी।

छायावाद की परिभाषा हम इन शब्दों में दे सकते हैं—छायावाद वह अन्तर्मुखी काव्य है, जिसमें प्रकृति के माध्यम से वेदना धारित स्वानुभूति की अभिव्यक्ति कुछ अस्फुट संकेतों के साथ अभिधानिक अर्थों का उल्लंघन कर निराले ढंग पर की जाती है।

रामकृष्ण विवेकानन्द की आध्यात्मिकता, स्वामी दयानन्द सरस्वती का रूढ़ि खण्डन एवं सांस्कृतिक संदेश, रवीन्द्र नाथ की रहस्यमयता और विश्व मानवता, लोक मान्य तिलक की उग्रता तथा अंग्रेजी शासन के प्रति अंसतोष और शासन द्वारा अभिव्यक्ति पर लगे कठोर नियन्त्रण आदि तत्वों ने विद्रोह और अर्न्तमुखता का विचित्र समन्वय उपस्थित किया। विद्रोह रूढ़ियां तोड़कर नूतन संसार निर्माण करने के रूप में प्रकट हुआ। परिणाम स्वरूप कल्पना तथा भावुकता का आधिक्य हो गया। अर्न्तमुखता के कारण व्यक्तिगत दुखः—सुख का चित्रण हुआ। रूसी क्रान्ति ने विश्व मानवता की भावना को प्रोत्साहित किया। अतैव काव्य में ये दोनों प्रभाव उभरे।

जैसा कि हम जानते हैं कि छायावादी काव्य और छायावादी काव्य शैली का हल्का सा आभास उन्नीसवीं सदी के अन्त में रचित श्रीधर पाठक की रचनाओं में मिल चुका था, परन्तु उसका विकास नहीं हुआ था। उसके उपरान्त प्रसाद द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका 'इन्दु' के प्रकाशन (सन् 1909) के साथ इन नई काव्य प्रकृति का नया रूप सामने आया, परन्तु सन् 1920 तक उसके रूप में कोई उल्लेखनीय निखार नहीं दिखाई पड़ा। सन् 1920 से इसका एक निश्चित स्वरूप उभरकर सामने आने लगा था। इसलिए आलोचकों ने छायावाद का आरम्भ सन् 1920 से ही माना है। इस समय तक द्विवेदी युग समाप्त हो जाता है और छायावादी युग काव्य में प्रधानता प्राप्त कर लेता है। मुकुट धर पाण्डेय, रामकृष्ण दास तथा प्रसाद की प्रारम्भिक कृतियों में छायावादी प्रयोग काल रहा है। इसके प्रथम पांच वर्ष (1920–25) बहुत ही संघर्षपूर्ण और विवादग्रस्त रहे हैं। यह काव्य नई आशा, नया हर्ष और नई उत्तेजना लेकर उपस्थित हुआ था।

रूढ़ियों के प्रति विद्रोह काव्य में नई शैली का जन्मदाता सिद्ध हुआ। अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी काव्य के अध्ययन से इसे और गति मिली। विरोधियों द्वारा छायावादी काव्य को स्वप्न जीवी, पलायनवादी, निराशावादी अनैतिक, मानसिक विलास, पाश्चात्य काव्य का अनुयायी दुरूह, अस्पष्ट, परम्परा का विघातक आदि न जाने क्या–क्या घोषित किया गया, परन्तु छायावाद के जन्मदाता और पोषक साहित्यकार दब्बू या निर्बल नहीं थे। उन्हें अपने कृतित्व में पूर्ण आस्था थी। उन्होंने अपने विस्तृत गहन अध्ययन, अथक परिश्रम, और अपूर्व मेधा द्वारा इस नये काव्य रूप को जन्म दिया था। इसलिए प्रसाद, निराला, पंत आदि ने तत्कालीन शीर्षस्थ साहित्यकारों और साहित्य के कतिपय तथा कथित ठेकेदारों (पत्रकारों) आदि के उस विरोध का तर्क और सृजन शक्ति द्वारा सामना किया। इसका परिणाम यह निकला कि छायावादी काव्य प्रवृत्ति अपने युग की सर्वप्रधान काव्य प्रवृत्ति बन गई।

सन् 1921 में सुमित्रा नन्दन पंत की उच्छवास रचना छपी थी, जिसमें लाक्षणिक प्रयोगों की धूम थी। इस रचनाा की शैली द्विवेदी कालीन कविताओं से एक दम पृथक है, द्विवेदी मण्डल के आलोचकों के लिए नीरव गान सिसकते मानस, आदि प्रयोग प्रिटी नानसेंस मात्र थे। पंत जी में छायावादी शैली का निखरा हुआ उत्कृष्ट रूप मिलता है।

सन् 1925–30 तक छायावाद का प्रयोग काल समाप्त होकर उसमें स्थायित्व आने लगा। इस काल में हिन्दी कविता में सौन्दर्य और गाम्भीर्य का विकास हुआ। सन् 1927 में प्रथम बार प्रकाशित प्रसाद के अमर काव्य 'आँसू' में छायावाद का अत्यन्त परिष्कृत और उन्नत रूप प्रस्फुटित हुआ। वास्तव में प्रसाद में छायावाद का कथ्य और पंत जी में कथन प्रकार अपने चरम उत्कर्ष पर है। उच्छ्वास से युगान्त (सन् 1936) तक छायावाद की विजय वैजयन्ती फहरती रही। इस बीच प्रसाद जी का 'आँसू' हिन्दी काव्य प्रेमियों का हृदय हार बना; महादेवी के 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सांध्य गीत' के गीत गूंजे, निराला ने अनामिका; 'परिमल' में सौन्दर्य के चित्र खींचे और पंत ने पल्लव तथा गुंजन में कोमल कान्त पदावली के दर्शन कराए।

प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी के अतिरिक्त राम कुमार वर्मा (काव्य संग्रह–'रूप राशि', 'निशीथ', 'चित्र रेखा', 'आकाश गंगा'। भगवती चरण वर्मा, मोहन लाल महतो वियोगी (काव्य संग्रह–'निर्माल्य', 'एकतारा', 'कल्पना') नरेन्द्र शर्मा, उदय शंकर भट्ट, अंचल, हरिकृष्ण प्रेमी, जानकी वल्लभ शास्त्री (संग्रह–'राधा', 'रूप अरूप', 'अवंतिका', 'मेघगीत', चित्रधारा') केदार नाथ मिश्र प्रभात आदि की गणना भी छायावादी कवियों में की जाती है।

शैली के क्षेत्र में लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, नूतन छंद प्रयोग, अलंकारिकता, कोमल, सक्षम, तथा सुरीले शब्दों का चयन छायावाद की विशेषतायें हैं। व्यक्तिवादी अभिव्यक्ति प्रगीतात्मक होती है। अतः छायावाद का बहुलांश प्रगीत शैली में है। छंदों में पंत ने अंग्रेजी तथा हिन्दी लय को मिलाकर स्वच्छंद छंद का निर्माण किया और निराला ने लय को मुक्त कर मुक्त छंद की रचना की। वैसे तो अधिकांश छायावादी काव्य मुक्तक ही रहा है। प्रसाद का 'बीती बिभावरी जागरी' जैसे गीत तथा 'आँसू' के अनेक छंद; निराला की 'जूही की कली', 'शेफाली', 'संध्या सुन्दरी', 'बादल राग', पंत की 'नौका बिहार', 'चाँदनी', 'बादल', जैसी कविताएं हिन्दी मुक्तक काव्य का उज्जवलतम मणियां है। इन्हें देखकर लोगों की यह धारणा बन गई थी कि छायावादी शैली केवल मुक्तक काव्य के लिए ही उपयुक्त है, उसमें प्रबंध काव्यों की रचना नहीं हो सकती। परन्तु प्रसाद ने 'कामायनी' (1937) तथा निराला ने 'तुलसी दास' और पंत ने लोकायतन जैसे प्रबंध काव्यों का सृजन कर यह सिद्ध कर दिया था कि, इस शैली में अत्यन्त उच्च कोटि के श्रेष्ठ प्रबंध काव्य भी रचे जा सकते हैं।

लोकायतन यद्यपि बहुत बाद की सन् 1960 के आस–पास की रचना है, परन्तु छायावादी शैली में ही है। वैसे छायावाद की समाप्ति 'कामायनी' के प्रकाशन के उपरान्त ही मान लेनी चाहिए। क्योंकि उसके बाद छायावादी रचनाएं समाप्त सी होने और प्रगतिवादी रचनाएं अस्तित्व में आने लगती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, छायावाद में कुछ हल्की रहस्यमयता भी थी। लेकिन इस रहस्यमयता में अस्पष्टता का महत्व है। वहां किसी तत्व चिंतन के आभास का भाव नहीं है। रहस्यवाद आत्मा परमात्मा के अद्वैत की भावात्मक अभिव्यक्ति है। जब यह अभिव्यक्ति भावात्मक नहीं होती, तो हम उसे सैद्धान्तिक रहस्यवाद कहते हैं। छायावाद में जो व्यक्ति वादिता थी, वही व्यक्तिवादिता रहस्यवाद का मूल है, क्योंकि व्यक्तित्व विसर्जन में अद्वैत है रहस्यवाद नहीं। रहस्यवाद के लिए अद्वैत में आस्था के साथ अहं का श्रेय अनिवार्य है। तभी प्रेम निवेदन संभव हो सकेगा, तभी विरहाकुलता जागृत होगी और अभिलाषा की व्यंजना होगी–

सजनि! मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।[6]

इस भावाकुलता या मिलनानन्द के चित्रणार्थ लौकिक उपादानों का सहारा लेना पड़ता है। इसलिए बाह्य रूप से देखने पर ये रचनाएं भी लौकिक प्रतीत होती हैं। यह रहस्यवाद अधिकतर अध्ययन का फल है। महादेवी ने छायावाद का परिचय देते हुए कहा है कि, "उसने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदांत के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य सूत्र में बांधकर एक निराले स्नेह सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य को पूर्ण अवलम्बन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मष्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मष्तिष्क मय बना सका।"[7] छायावाद का यह स्वरूप वास्तव में रहस्यवाद है। महादेवी की रचनाओं में इस रहस्यवाद का रूप देखा जा सकता है। रहस्यवादी कवियों में प्रसाद, महादेवी, तथा निराला प्रमुख हैं।

छायावाद एक प्रवाहमान काव्यधारा थी; एक ऐतिहासिक उत्थान के साथ उसका क्रमिक विकास तथा ह्रास हुआ। छायावाद के 18–20 वर्षों के इतिहास में अनेक विशेषतायें जो आरम्भ में थीं, वे कुछ दूर जाकर समाप्त हो गई और फिर अनेक नयी विशेषताएँ जुड़ गयीं।

छायावाद की मुख्य–मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित है।

## (क) आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति अर्थात् 'मैं' शैली

छायावादी कवि निर्वैयक्तिकता की ओट नहीं लेता। वह अपने मन की बातें सीधे–सीधे उत्तम पुरूष शैली में पाठक तक पहुँचाकर आत्मीयता के आगोश में उसे समेटना चाहता है। वह चाहता है कि पाठक और उसके बीच संवाद सीधा हो और कोई अन्य पुरूष बीच में न आए। छायावाद में "मैं" शैली इसी कामना का परिणाम है। पहले के कवि अपनी ही अनुभूतियों को निजी बताने में संकोच करते थे। मध्य युग के संत भक्त और रीतिवादी कवि प्रायः निर्वैयक्तिक ढंग से अपनी बातें कहते थे। संतों और भक्तों के विनय के पदों में जो वैयक्तिक ढंग दिखाई पड़ता है, वह केवल भगवान के प्रति निवेदन है। अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में वे प्रायः मौन ही रहते थे और काव्य में अपने प्रणय सम्बन्धों की चर्चा करने की बात तो उस समय सोची भी नहीं जा सकती थी। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय व्यक्ति सामाजिक मर्यादाओं से कितना बंधा हुआ था। राष्ट्रीय जागरण के दौर में व्यक्ति स्वातन्त्र्य की जो लहर चली उसके कारण छायावादी कवियों ने इस संकोच को उतार फेंका। चूंकि छायावाद व्यक्तिवाद की कविता हैं, छायावादी कवि कविता में 'मैं' शैली की निजता और आत्मीयता के साथ उन भारतीय युवकों का प्रतिनिधि बनकर उतरते हैं, जो अपने आपको सीधे–सीधे अभिव्यक्ति करने की सामाजिक स्वाधीनता चाहते हैं। प्रसाद ने स्पष्टतः अपनी 'आत्मकथा' का स्पष्टीकरण ही लिख डाला और निराला ने सबकी ओर से स्वीकार किया कि, "मैंने 'मैं' शैली' अपनाई!" अपनी दुर्बलताएं भी उसने साहस के साथ कहीं और जिन बातों को अब तक लोग समाज के भय से छिपाते थे उन्हें भी छायावादी कवि ने खोलकर रख दिया। यदि कहानी के पात्रों अथवा पौराणिक व्यक्तियों के माध्यम से वे अपनी बातें कह सकते तो अवश्य कहते क्योंकि अभिव्यक्ति की यह नाटकीय प्रणाली आजमायी हुई थी। लेकिन उन्हें लगा कि अपनी बात निजी ढंग से ही वे अच्छी तरह कह सकते हैं। उनकी वैयक्तिकता पुरानी निर्वैक्तिकता में घुट सी रही थी। निर्वैक्तिकता में उन्हें एकदम आत्म निषेध की आशंका थी। इसलिए कविता में उनकी वैयक्तिक अभिव्यक्ति कवि के लिए व्यक्ति की मुक्ति थी।

निराला की कविताओं में आत्माभिव्यक्ति सबसे अधिक है। 'सरोज स्मृति' में जब भी मौका मिलता है, कवि आत्म पराजय की दुःखद दास्तान सुनाने लगता है–

> "दुःख ही जीवन की कथा रही,
> क्या कहूं आज जो नहीं कही।"[8]

अथवा

> "धन्ये, मैं पिता निरर्थक था
> कुछ भी तेरे हित न कर सका!
> जना तो अर्था गमो पाय
> पर रहा सदा संकुचित काय
> लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
> हारता रहा मैं स्वार्थ समर।"[9]

पंत ने 'उच्छ्वास' और 'आँसू' की बालिका के प्रति सीधे शब्दों में अपना प्रणय प्रकट किया। कवि की स्पष्टोक्ति है। "बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।" प्रसाद ने कविता में अपनी आत्मकथा ही लिख दी। महादेवी की कविताओं में भी पर्याप्त आत्माभिव्यक्ति है। महादेवी जी ने कहीं लिखा है कि आज का साहित्यकार अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिख लेना चाहता है। यही नहीं छायावाद पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि इस व्यक्ति प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख–दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छायावाद युग काव्य स्वानुभूति प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास, विषाद् का सफल माध्यम बन सका।

व्यक्तिवाद ने छायावादी कवि में एक ओर वैयक्तिक अभिव्यक्ति की आकांक्षा उत्पन्न की तो दूसरी ओर सम्पूर्ण दृष्टिकोण को व्यक्ति निष्ठ बना दिया। छायावादी कवि संसार की सभी वस्तुओं को आत्मरंजित करके देखने का अभ्यस्त हो गया। विश्व की व्यथा से स्वयं व्यथित होने की जगह वह अपनी व्यथा से विश्व के व्यथित होने की कल्पना करने लगा। द्विवेदी युग का काव्य शुक्ल जी के शब्दों में जहां 'इतिवृत्तात्मक' था वहां छायावादी काव्य रागात्मक हो उठा। इस प्रकार छायावादी कवियों ने चुने हुए तथ्यों को उपलब्ध बना करके अपने जीवन के अनेक सत्यों की अभिव्यंजना की।

## (ख) प्रकृति प्रेम

पुरानी समाज व्यवस्था में एक घुटन थी। संयुक्त परिवार में युवक अपनी पत्नी से प्रेमाभिव्यक्ति के लिए मौके की ताक में रहता था। संयुक्त परिवार की भीड़–भाड़ में उसे लगता था कि "The world is to much with us" अतः अपने आस–पास के अनापेक्षित संसार से मुक्त होने के लिए वह प्रकृति में गया। प्रकृति चित्रण में पहले के कवि जहां पेड़–पौधों का नाम गिनाकर अथवा प्राकृतिक दृश्यों के स्थूल आकार का वर्णन करके संतुष्ट हो लेते थे वहां छायावादी कवि ने प्रकृति के अन्तः स्पन्दन का सूक्ष्म अंकन किया। प्रकृति में आधुनिक युवक को खुला वातावरण मिला, प्रकृति के राज्य में उसे पशु पक्षियों नदी, नालों, हवा, बादल, सबमें उन्मुक्त और निरंकुश स्वच्छन्दता के दर्शन हुए। इसी स्वाधीनता की राह में आधुनिक छायावादी कवि भी प्रकृति के क्षेत्र में आया। उसे भी अपनी अनुभूतियों के निर्बाध अभिव्यक्ति के लिए जड़ सामूहिकता और सामाजिकता से उबरने की आवश्यकता थी।

प्रकृति में प्रवेश करते ही आधुनिक युवक को अपने व्यक्तित्व के विकास की भूमि मिली। वह आत्म प्रसार के लिए इधर–उधर हाथ–पांव मारने लगा। आधुनिक शिक्षा में उसे अपनी नई चिंताओं का समाधान मिला। वह नये सिरे से सामाजिकता और राष्ट्रीयता पर भी सोचने लगा इससे यह बात प्रामाणित हुई कि वैयक्तिक स्वाधीनता से ही स्वस्थ सामाजिकता का विकास संभव है।

प्रकृति से छायावादी कवियों को एक नवीन जीवन दृष्टि मिली। कवियों ने प्रकृति के छिपे हुए इतने सौन्दर्य स्तरों की खोज की, वह आधुनिक मानव के भौतिक और मानसिक विकास का सूचक है। इस सौन्दर्य बोध का विकास प्रकृति और मानव के पारस्परिक सम्बन्धों का परिणाम हैं। इससे कवियों के सामने एक नया संसार अवलोकित हो गया। प्रथम रश्मि में बाल–विहंगिनी गीत गाना तो सीखती ही है, साथ ही प्रथम रश्मि के आलोक से उसका तिमिराच्छन्न जगत सहसा विभिन्न नाम रूपों में बदल जाता है। जहां निराकार तम के अतिरिक्त कुछ भी न दिखाई देता था वहां सुन्दर सृष्टि दिखाई पड़ने लगी।

यथाः–

> ''निराकार तम मानो सहासा ज्योति पुंज में हो साकार।
> बदल गया द्रुत जगत जाल में धरकर नाम रूप ना ना।''

सम्पर्क में आते ही प्रकृति मनुष्य के लिए सहचरी, सखी, प्रेयसी, मां सब कुछ हो गयी। एकान्तवासी कवि पंत के बाल हृदय के साथ तो प्रकृति सखी की तरह धुल मिल गयी। छाया से आत्मीयता जताते हुए पंत कहते हैं–

"हाँ सखि आओ बांह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण।" (पंत)

महादेवी जी ने प्रकृति की विराटता में मां का चित्र देखा–

"दुलरा देना बहला देना, यह तेरा शिशु जग है उदास।" (महादेवी वर्मा)

छायावादी कवियों ने पर्वत, मेघ और समुद्र से सम्बन्धित ऐसे दृश्यों का चित्रण किया जो सर्वथा नये थे। प्रकृति के प्रति छायावादी कवियों का मोह रूमानी था। पंत तो यहां तक कहते हैं–

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।" (पंत)

## (ग) नारी प्रेम और उसकी मुक्ति का स्वर

धीरे–धीरे प्रकृति के प्रति कवि की गहरी तन्मयता भंग होती है। उन्हें लगता है कि प्रकृति चाहे जितनी सुन्दर और भाव प्रवण हो, किन्तु वह पूर्ण रूप से पुरुष के भावों को प्रतिध्वनित नहीं कर सकती या प्रतिध्वनित कर सकती है पर प्रत्युत्तर नहीं दे सकती। वे बड़ी विफलता के साथ अनुभव करते हैं–

"हाय किसके उर में, उतारूँ अपने उर का भार?"

और यहीं प्रकृति की अपूर्णता प्रतीत हुई तथा उसके स्थान पर नारी का अभ्युदय हुआ। निराला के 'तुलसी दास' का मन जब रंग पर रंग छोड़ता हुआ निस्तरंग आकाश में उड़ रहा था तो वहीं उसे रत्नावली के दर्शन हुए। यही स्थिति प्रसाद के मनु की भी हुई। महा प्रलय समाप्त होने के बाद प्रकृति का रमणीय रूप सामने आया तो उसी दृश्य में उनकी अलस चेतना की आँखें भी खुल गयी और फिर तो–

"नव हो जगी अनादि वासना, मधुर प्रकृति मूख समान"

कविता में नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण में हुआ यह परिवर्तन नई शिक्षा द्वारा आयातित नये विचारों के कारण हुआ। शिक्षा के कारण लड़कियों में स्त्री स्वतन्त्रता का भाव पैदा हुआ। नई पीढ़ी की देखा–देखी पुरानी पीढ़ी की महिलाओं में भी अनजाने ही नव जागरण के प्रति आकर्षण दिखाई पड़ा।

छायावादी कविता में प्रेम को अपूर्व महत्व दिया गया है और प्रेम बिना नारी के संभव नहीं है। 'प्रेयसी' शीर्षक कविता में निराला मिलन में तादात्म्य की अनुभूति को अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं–

> ''मिली ज्योति छवि से तुम्हारी, ज्योति छवि मेरी
> नीलिमा ज्यों शून्य से मिलकर मैं रह गई।''[10]

निराला ने कहा है कि, 'प्रेम सदा ही तुम असूत्र हो.।' तब नारी को भी अपने हृदय गत भावों की अभिव्यक्ति की छूट मिली। उसे सामाजिक प्रचीरों से मुक्ति का अहसास हुआ। वह खुले मन से प्यार करने की ओर पुरूष की ओर बढ़ी तो पुरूष ने उसे और अधिक मान दिया, उसे नवीन कल्पनाओं और उपमाओं से मण्डित किया। पुरुष ने उसे जीवन के स्पंदनों से भरकर वासना के ऊपर एक उदात्त ऊँचाई दे दी। छायावादी प्रेम इसी कारण अशरीरी या अतीन्द्रिय है।

> ''तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा स्नान।''

प्रसाद ने लाज भरे सौन्दर्य वाली परम्परागत नारी का मौन तोड़ना चाहा। नारी उन्हें आस्था एवं श्रद्धा का पर्याय लगी।

> ''नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पद तल में।[11]

पंत ने एक कदम आगे बढ़कर कहा–

> ''तेरे बालों का अक्षय श्रृंगार धरा है सिर पर मैंने देख।''[12]

सामान्य नारी के सौन्दर्य का चित्रण तो सभी करते हैं लेकिन वह नारी यदि स्वयं अपनी पुत्री हो तो कवि की परीक्षा हो जायेगी। स्वस्थ मन और समर्थ कवि निराला के लिए ही यह संभव हो सका कि उन्होंने अपनी पुत्री 'सरोज' की स्मृति में शोक गीत लिखते हुए एक स्थल पर उसके सौन्दर्य का भी स्मरण किया है। विवाह के शुभ कलश का जल पड़ने के बाद वह आमूल नवल रूप–

> ''तू खुली एक उच्छ्वास संग विश्वास स्तब्ध बंध अंग–अंग,
> नत नयनों से आलोक उतर कांपा अधरों पर थर–थर–थर।[13]

इस प्रकार महादेवी के शब्दों में, 'सौन्दर्य की स्थूल जड़ता से मुक्ति मिलते ही नारी को प्रकृति के समान ही रहस्यमय शक्ति और सौन्दर्य प्राप्त हो गया। जिसने उसके मानसिक जगत से पिछली संकीर्णता धो डाली। सामंती रूढ़ियों से नारी को मुक्त करना, तिरस्कृत विधवा को इष्ट देव की मन्दिर की

पूजा सी पवित्र कहना, भोग्या नारी के संग में 'पावन गंगा स्नान' करना और देवी मां, सहचरि, प्राण कहकर पुकार उठना आदि बातें आधुनिक छायावादी कवि के नारी आदर्श का सूचक है।

## (घ) राष्ट्रीयता की भावना

छायावाद के बारे में प्रायः कहा जाता है कि इनका सम्बन्ध तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन से कतई न था। आलोचकों का आरोप है कि जिस समय देश स्वतन्त्रता संघर्ष की आग में झुलस रहा था, छायावादी कवि अपने कल्पना लोक में बैठकर हृत्तंत्री के तार बजाया करते थे। वस्तुतः ऐसा वही लोग कहते हैं जो साहित्य को समाज का अविकल अनुवाद समझते हैं। हमें यह तभी पता चल सकेगा कि छायावाद ने अपने युगीन परिदृश्य को स्वर देते हुए अभिव्यक्त किया है, जब हम उसे पूर्वाग्रह रहित दृष्टि से भली प्रकार से देखेंगे।

वस्तुतः हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के दो मोर्चे थे। एक प्राचीन सामान्तवादी मर्यादाओं के विरूद्ध एवं दूसरी अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरूद्ध। हर गुलाम देश में राष्ट्रीयता की भावना का उदय पुनुरूत्थान भावना से होता है। पुनरूत्थान भावना प्रसाद में सबसे अधिक है। प्रसाद ने 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार' या 'शेर सिंह का शस्त्र समर्पण' आदि में राष्ट्रीय संस्कृति और इतिहास को स्मरण कर तत्कालीन भारतीय युवकों में राष्ट्रीयता का संचार करना चाहा था।

भारत भूमि की प्रशंसा में प्रसाद का गया हुआ–

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहां पहुंच अनजान छितिज को मिलता एक सहारा।"
देश प्रेम की भाव प्रवण व्यंजना है।

इसी तरह प्रसाद जी का एक जागरण जी द्रष्टव्य है–

"हिमाद्रि तुङ्ग श्रृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्वला स्वतंत्रता पुकारती!"[14]

निराला ने 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' या 'जागो फिर एक बार' में सांस्कृतिक परम्परा की दुहाई देकर आत्म गौरव के सुप्त भावों को जगाया। निराला का उद्‌घोष है–

"शेरों की मांद में, आया आज स्यार,
जागो फिर एक बार।"[15]

और अपने देशवासियों को जगाने के लिए ही छायावादी कवि अतीत गौरव का स्मरण कराते हुए कहता है –

"हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।"

## (ङ) असीम के प्रति जिज्ञासा

असीम के जिज्ञासा छायावाद की एक प्रमुख विशेषता है और यहीं छायावाद रहस्यावाद से अभेद की स्थिति में पहुँच जाता है। लेकिन फिर भी दोनों में फर्क यह है कि रहस्यवादी भावनाओं के बावजूद छायावाद की भावभूमि लौकिक जीवन से जुड़ी रहती है। यदि उसका रूप–विधान आध्यात्मिक है तो विषय वस्तु अवश्य ही सामाजिक है। ससीम और असीम सामाजिक सीमा और उससे मुक्ति के प्रतीक हैं। महादेवी कहती हैं–

"मैं अनंत पथ में लिखती जो सस्मित सपनों की बातें।
उनको कभी न धो पाएंगी अपने आँसू से रातें।"[16]

यदि असीम से मिलन की बात अविश्वसनीय भी हो तो उन आँसुओं को कैसे झुठलाया जा सकता है जो सीमाओं में बन्द रहने के कारण बहे हैं। असीम प्रेम का यह रहस्यवाद महादेवी के अतिरिक्त प्रसाद, निराला, एवं पंत में भी मौजूद है। अज्ञात के प्रति कौतूहल पंत के बाल–मन में भी है।

"प्रथम रश्मि का आना रंगणि, तूने कैसे पहचाना।"[17]

प्रसाद भी जीवन की गोधूलि में कौतूहल से आने वाले अज्ञात के प्रति निवेदन करते हैं–

"लेचल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे–धीरे,
जिस निर्जन में सागर लहरी अंबर के कानों में गहरी।
निश्छल प्रेम कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे।"[18]

## (च) रूप, पद–विन्यास एवं मुक्त छंद

आचार्य शुक्ल के अनुसार 'छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था, उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था।' भावों की समुचित अभिव्यंजना एवं चित्रात्मकता के लिए भाषा को समर्थ बनाने के प्रयत्न में छायावादी कवियों को कभी–कभी नये शब्द भी गढ़ने पड़े। यहां भी छायावादी कवियों ने कम स्वच्छंदता नहीं दिखाई। जो विचारों एवं भावों की दुनिया में रूढ़ियों को तोड़ने वाले हैं, वे भाषा के क्षेत्र में व्याकरण की रूढ़ियों में बंधकर कैसे चल सकते हैं। फलतः पंत ने 'प्रियाहलाद' की जगह 'प्रिआ हलाद' और 'मरूदाकाश' की जगह मरूताकाश संधियां की । निराला ने समास रचना के क्षेत्र में प्रमापूर्य, तमस्तूर्य आदि समास गढ़कर अपूर्व स्वतन्त्रता दिखाई।

छायावाद की मूल चिंता है कविता की मुक्ति। कविता की मुक्ति भाव, भाषा, एवं छंद की ही मुक्ति है। छायावादी कवियों ने विचारों, भावों एवं सामाजिक मर्यादाओं के साथ–साथ परम्परागत छंदों के बंधन भी ढीले कर दिए। पंत ने लिखा है –

> "खुल गये छंद के बंध, प्रास के रजत पाश।
> अब गीत मुक्त और युगवाणी बहती अयास।।"[19]

मुक्तक छंद छायावाद की प्रमुख उपलब्धि है। छायावादी कवियों ने कुछ मौलिक प्रयास करते हुए नये छंद भी रचे।

छायावादी कविता में भावावेश के कारण पद क्रम बिलकुल उलट–पलट गया है। उसके वाक्य–विन्यास की गुम्फन शीलता भावों की गुम्फनशीलता का परिणाम है। वाक्य में पदों का क्रम विपर्ययय आवेग जनित भावों में क्रम विपर्यय का परिणाम है यथा–

> "विजन वन वल्लरी पर, सोती थी सुहाग भरी,
> स्नेह स्वप्न–मग्न–अमल– कोमल तन तरूणी
> जूही की कली, दृग बंद किए, शिथिल पत्रांक में।"[20]

छायावादियों ने स्थूल प्रतीकों की जगह सूक्ष्म प्रतीकों से अपनी कविता का श्रृंगार किया। निराला 'भारत की विधवा' में विधवा के लिए 'इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी' 'दीप शिखा सी शान्त भाव में लीन' आदि सूक्ष्म उपमानों

का चयन करते हैं। इसी तरह अन्य कवियों ने भी सूक्ष्म उपमानों का सहारा लिया है।

छायावादी कवियों का स्वर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, और साहित्यिक बंधनों, रूढ़ियों एवं पुरानी मान्यताओं से विद्रोह का था।

'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' में रूढ़ परम्परा के ध्वंस का भाव है। इसके अतिरिक्त कल्पना की अतिशयता, भावुकता, सांस्कृतिक नव जागरण, एवं आत्म पीड़ा के दर्शन में भी छायावाद की आस्था है। यों तो छायावाद संज्ञा कविता के लिए ही प्रयुक्त होती है तथापि यह एक व्यापक जीवन दृष्टि थी। इसकी अभिव्यक्ति कविता के क्षेत्र में ही सबसे अधिक हुई; परन्तु कहानी, उपन्यास, नाटक, यहां तक आलोचना भी इससे काफी प्रभावित हुई। जिस प्रकार बारहवीं–तेरहवीं सदी में शुरू होने वाले मध्ययुगीन सांस्कृतिक पुनुरूत्थान का चरमोत्कर्ष सोलहवीं शदी के भक्ति काव्य में हुआ उसी प्रकार उन्नीसवीं सदी में शुरू होने वाले आधुनिक सांस्कृतिक जागरण का चरमोत्कर्ष बीसवीं सदी के छायावादी काव्य तथा प्रेम चन्द्र के उपन्यासों में हुआ और अपनी दुरूहता, व्यक्तिवादिता और अस्पष्टता के बावजूद भी छायावादी काव्य इतना सौन्दर्य वेष्ठित रहा है, कि उसे पढ़ने में आनन्द आता है, भले ही वह पूरी तरह से समझ में न आये।

## (छ) छायावाद का पतन, कारण एवं परिणाम :

कला पक्ष के इस चरम उत्कर्ष को देखकर अनायास ही यह प्रश्न सामने खड़ा होता है कि ऐसे चरम उत्कर्ष पूर्ण छायावादी काव्य के पतन का क्या कारण था? एवं उसका क्या परिणाम हिन्दी साहित्य एवं कविता पर पड़ा? जैसा कि हम जानते हैं कि छायावाद की मूल चेतना विद्रोह की चेतना रही थी। परन्तु यह विद्रोह जितना व्यक्तिगत भावनाओं के प्रकाशन तथा कलाक्षेत्र में क्रियाशील रहा उतना ही सामाजिक क्षेत्र के लिए अकर्मण्य सा बना रहा। यद्यपि छायावादी कवियों ने अपनी अनेक कृतियों में सामाजिक विद्रोह के स्वर भी बुलंद किए परन्तु ऐसे प्रयास एकाकी और छिट–पुट बनकर ही रह गये। उनका एक समग्र, सशक्त, सन्तुलित रूप उभरकर सामने न आ सका। ये कवि अधिकतर व्यक्तिगत भावनाओं के प्रकाशन तथा कला परिमार्जन में ही व्यस्त रहे इसलिए जनजीवन को पूरी तरह से अपनाकर न चल सके। इनकी जनजीवन

से यह विच्छिन्नता इनकी एक बहुत बड़ी कमजोरी रही। इस काव्य की एक दूसरी कमजोरी यह थी कि यह अतिशय बौद्धिक था। इस अतिशय बौद्धिकता ने इसे गम्भीर और प्रभविष्णु तो अवश्य बना दिया था, परन्तु कवियों के मानसिक कल्पना विलास ने उसमें एक ऐसी अस्पष्टता और दुरूहता उत्पन्न कर दी थी जो साधारण जन के लिए सहज संवेद्य न बन सकी। इसी कारण यह काव्य साधारण जन में लोक प्रिय न हो सका।

इस काव्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि यह समाज को एवं जनता को कोई भी जीवन्त एवं नवीन सन्देश देने में असमर्थ रहा था। इतना ही नहीं, उत्तर कालीन छायावादी काव्य में आध्यात्मिकता के प्रभाव के कारण रहस्यमयता और अस्पष्टता और अधिक गहरी होती जा रही थी। वैसे छायावादी काव्य का कुछ अंश इतना भव्य और महान है कि काल का प्रभाव उसे कभी भी धूमिल नहीं बना सकेगा। प्रसाद की 'कामायनी' निराला का 'तुलसीदास' 'राम की शक्ति पूजा' आदि ऐसी सशक्त छायावादी कृतियां हैं जोअपने जीवन्त सन्देश और जिजीविषा के कारण सदैव अमर रहेंगी और आने वाली युगों की मनीषा को प्रेरित और प्रभावित करती रहेंगी।

छायावादी काव्य में एक कमजोरी यह भी रही थी कि यह युग की भावनाओं को अभिव्यक्ति करने में कुण्ठित और संकोचशील रहा था। छायावाद की जीवनावधि 1920 से 1936 तक मानी गयी है। यह युग भारतीय राजनीति का भयंकर उथल–पुथल का युग रहा है। हम छायावादी काव्य में इस युग के जीवन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं पाते हैं। युग की उथल–पुथल एवं स्वाधीनता आन्दोलन की तीव्र गति साहित्य में अभिव्यक्त चाहती थी, परन्तु हमारे छायावादी कवि एवं पंत आदि ने महात्मा गाँधी आदि युग नेताओं के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत कहकर मौन साध लिया। वे अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति आकृष्ट न हो सके। छायावाद साहित्यिक रूढ़ियों और परम्पराओं का उन्मूलन करने में भी लगा रहा था।

इस सम्पूर्ण छायावादी काव्य के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इस काव्य की अधिकांश कविताओं में कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जो ह्रदय या मष्तिष्क पर स्थायी प्रभाव डाल सकती। इसका कारण इसकी अन्तर्मुखी चेतना थी। बहिर्जगत के प्रति वह सर्वथा निष्क्रिय रह गई। उसमें उद्वेग तो था, परन्तु प्रतिरोध और सक्रियता की शक्ति का अभाव था। इन कवियों का जीवन दर्शन

नवीन काव्य शैली में संगठित रूप में न होकर इधर—उधर बिखरा हुआ था, जो शैली की दुरूहता के कारण और भी अधिक दुर्बोध बन गया था। लगभग सभी छायावादी कवि समाज के मध्यम वर्ग से आये थे, इसलिए उनके साथ मध्यम वर्गीय असंगति पराजय पलायन की कुंठित भावनाएं जुड़ी हुई थीं। आगे चलकर इन छायावादी कवियों ने अपने सृजन की इस कमजोरी और एकांगिकता को समझा और अनुभव किया था। उन्होंने यह अनुभव किया कि जीवन के प्रति छायावाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर भावात्मक था, जो युग की तेजी से बदलती हुई संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में स्वीकार नहीं किया जा सकता था, इसीलिए वह निष्क्रिय रहा। यही उसकी सबसे बड़ी निर्बलता और अन्त का कारण बना।

छायावाद का इतिहास इस विचित्र किन्तु एतिहासिक तथ्य का उद्‌घाटन करता है कि छायावाद की अन्त छायावादी कवियों द्वारा किया गया था। कालांतर में इन छायावादी कवियों, निराला, पंत, महादेवी वर्मा ने ही छायावाद के विरूद्ध आवाज उठाई थी, क्योंकि ये लोग छायावाद की असली कमजोरी को जानते थे, युग—जीवन का साथ न दे सकने के कारण ही छायावाद को समाप्त हो जाना पड़ा।

छायावाद युग की मांग थी। यद्यपि कि छायावाद पर रोमेंटिसिज्म, मिस्टिसिज्म, व्यक्तिवादी, और भारतीय विचारधारा—शैवमत, अद्वैत वेदान्त, आदि का प्रभाव अवश्य रहा पर ये सब आगे चलकर परवर्ती युग के भावों को अभिव्यक्त करने में लाचार साबित हुए। फलतः तत्कालीन राजनैकि, सामाजिक, आर्थिक शोषण की प्रतिक्रिया व मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, व्यक्तिवाद एवं फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी विचारधारा से प्रभावित होकर परवर्ती रचनाकारों ने एक नवीन धारा, जिसे छायावादोत्तर काव्यधारा कहते हैं का विकास किया। छायावाद का पर्यवसान, छायावादोत्तर काव्य यथा—प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, नवगीत आदि नवीन विधाओं के रूप में हुआ।

## (ज) छायावादी दर्शन का स्वरूप

छायावाद का क्रीड़ांगण प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक भूमि रहा है और उसका पृष्ठाधार मुख्यतया भारतीय अद्वैतवादी दर्शन रहा है, अवश्य ही यत्र—तत्र उसमें इतर (पाश्चात्य) अद्वैतवादी दर्शनों का भी समावेश हो गया है।

छायावाद युग की सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीति विचार सरणियों को प्रभावित करने वाले मनीषी–विवेकानन्द, अरविन्द, तिलक, गाँधी, टैगोर आदि वैदिक सत्यों को नवीन युग की आवश्यकता के अनुसार व्याख्या करने में संलग्न थे। उन्होंने वैदिक वाङ्मय के अमर सत्यों को जनता के बीच प्रसारित करने का प्रयत्न ही नहीं, प्रत्युत उन्हें जनता द्वारा सामूहिक रूप में सामान्य जीवन में अपना लिए जाने का आग्रह भी किया। उनके व्यक्तित्व के व्यापक प्रभाव से छायावाद युग की काव्यधारा भी विशेष रूप से प्रभावित हुई। स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी और कवीन्द्र रवीन्द्र ने ऐहिकता को भी आध्यात्मिक स्तर पर अपनाया था। अतः उनके प्रभाव से छायावादी काव्यधारा भी स्थूल से हटकर सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन की ओर मुड़ गई और उसमें स्थूल जगत की भावनाएँ भी सूक्ष्म धरातल पर व्यक्त होने लगी। उक्त युग द्रष्टाओं ने सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में वेदों और उपनिषदों के अद्वैत पक्ष को ही प्रधानता दी, अतः उनकी देखा–देखी छायावाद की कविता में भी वैदिक सत्यों–एकं सत्', सर्व खल्विंद ब्रह्म', 'ईशावास्यमिदंसर्व', 'अयमस्मि सर्वः', अयमात्मा–ब्रह्म', 'अहंब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि' आदि की खुलकर अभिव्यक्ति होने लगी।

शंकर वेदान्त, वैष्णववेदान्तवाद तथा शैव दर्शन का आधार भी औपनिषदिक ज्ञान ही है। छायावाद के कवियों ने उपनिषदों का गहन अध्ययन तो किया ही था, जन्म से ही वे वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों के अत्यन्त निकट थे। अतः उनके विचारों एवं भावनाओं पर विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शैवाद्वैत आदि के दार्शनिक पक्ष का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। अतः शांकर वेदान्त के प्रभाव से छायावाद के कवि ने यदि निराशा के क्षणों में संसार को माया अथवा मिथ्या बताया तो वैष्णस वेदान्तवाद तथा शैव दर्शन के प्रभाव से उसने सुख के क्षणों में जगत को सत्य भी घोषित किया। उपनिषद्, वैष्णव वेदान्त तथा शैव दर्शन के प्रभाव से ही छायावाद का कवि सगुणोपासना एवं आनन्दवाद की ओर उन्मुख हुआ।

'द्वैत विशिष्टाद्वैत, अद्वैत, शैव सिद्धान्त, वैष्णव, शाक्त, यहां तक कि बौद्ध और जैन आदि जितने सम्प्रदाय भारत वर्ष में स्थापित हुए हैं, सभी इस विषय पर सहमत हैं कि इस जीवात्मा में अनन्त शक्ति अव्यक्त भाव से निहित है, चींटी से लेकर ऊँचे–ऊँचे सिद्ध पुरुष तक सभी में वह आत्मा विद्यमान है, और भेद जो कुछ है, वह है केवल प्रकाश के तारतम्य में।' वरणभेदस्तृततः क्षेत्रिकवत्'– किसान जैसे खेतों की मेड़ तोड़ देता है और एक खेत का पानी

दूसरे में बहने लगता है, वैसे ही आत्मा भी आवरण टूटते ही प्रकट हो जाती है। सुयोग और उपयुक्त देशकाल मिलते ही यह शक्ति स्वयं को अभिव्यक्त करती है। चाहे व्यक्त अवस्था में हो, चाहे अव्यक्त में, यह शति प्रत्येक में ब्रह्म से लेकर तृण तक सभी में मौजूद हैं।' भारतीय दर्शनों की उक्त स्थापना के आधारभूत ही छायावाद काव्य में सर्वात्मवादी धारा का प्रस्फुरण हुआ। यही भारतीय सर्वात्मवाद छायावाद के व्यापक मानवतावाद का आधार बना। यही कारण है कि छायावाद का मानवतावाद पाश्चात्य मानवतावाद की भाँति उपयोगितावाद अथवा प्रयोजनवाद तक ही सीमित न रहकर आध्यात्मिक मूल्यों को ग्रहण करता है और प्राणिमात्र की निःस्वार्थ सेवा का आदेश देता है।

सर्वात्मवाद का, जो अद्वैतवाद का ही एक रूप है, रहस्यवाद से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। भारतीय सर्वात्मवाद के रहस्यवादी स्वरूप की सम्यक् अभिव्यक्ति छायावाद की कविता में प्रकृति रहस्यवाद के रूप में हुई है। सूफी रहस्यवाद भी अद्वैतवाद, अथवा सर्वात्मवाद पर अवलम्बित है। भारतीय साधाना को सूफी–शाखाओं की मुख्य देन 'प्रेमसाधना' है। सूफी काव्य, कबीर तथा कबीन्द्र रवीन्द्र के माध्यम से अध्यात्म प्रेमी छायावादी कवियों के प्रेम–गीतों पर सूफियों के प्रेम परक रहस्यवाद का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। छायावाद के कवियों ने अपनी कृतियों पर स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक वेदान्त के प्रभाव को भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है, अतः उनकी प्रेम भावना स्वामी विवेकानन्द के प्रेम योग से भी, जिसके अनुसार प्रेम ही परमेश्वर है, सिक्त है। अंग्रेजी के रोमान्टिक कवियों (वर्डसवर्ध, शैली आदि) का रहस्यवाद भी सर्वात्मवादी है। इसके अतिरिक्त काव्यगत होने के नाते वह असाम्प्रदायिक और नितान्त भावनामय है। छायावादी कवियों की रहस्य भावना को असाम्प्रदायिक एवं भावात्मक रूप देने में अंग्रेजी के उक्त भावयोगी कवियों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

छायावादी कवियों का ऐहिक जीवन प्रायः असन्तोषपूर्ण एवं दुखी रहा है, अतः जीवनगत निराशा के संस्कार उनमें कुछ मज्जागत हो गये थे। किन्तु अपनी इस जीवनगत निराशा अथवा दुःख को भी उन्होंने प्रायः आध्यात्मिक दुःख की परिधि में ही व्यक्त करने का प्रयास किया हैं वैसे शांकर वेदान्त भी संसार की असारता सिद्ध करता है और गीता में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य का जन्म अशाश्वत और 'दुःखों का घर' है। किन्तु छायावादी कवियों का बौद्ध दर्शन

से विशेष अनुराग हो जाने के कारण छायावाद के निराशावाद अथवा दुःखवाद पर बौद्ध दर्शन के 'सर्वेदुःखम्' और 'सर्व क्षणिकम्' का ही प्रचुर प्रभाव है। शोपनहार का निराशावाद भी बौद्ध दुःखवाद का ही प्रतिरूप है, अतः एक हद तक वह भी छायावाद के निराशावाद को पुष्ट करने में सहायक हुआ है।

उमर खैय्याम का जीवन दर्शन भी निराशावादी है किन्तु उसकी निराशा का प्रस्फुरण दो विभिन्न धाराओं में हुआ है—(1) पलायनवाद और (2) भोगवाद। छायावाद की पलायन वृत्ति पर उमर खय्याम का भोगवादी जीवन दर्शन ही है। यहां पर स्मरण रखने की बात यह है कि उमर का भोगवाद आध्यात्मिक विद्रोह का परिणाम है, अतः वह अध्यात्मवादी छायावाद काव्य की मूलधारा का विशिष्ट अंग नहीं है। उसका समर्थन प्रायः छायावाद के निम्न स्तर के कवियों तथा छायावाद युग के अन्तिम चरण में बच्चन द्वारा हुआ जो सच्चे अर्थों में छायावादी कवि नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि छायावाद का वास्तविक स्वरूप आध्यात्मिक एवं अद्वैतमूलक है और स्वच्छन्दतावादी छायावादी कवि की विचरण भूमि अद्वैतवाद (सर्वात्मवाद) तथा उसकी विभिन्न शाखाएं विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, शैवाद्वैत आदि हैं। छायावादी पंत ने हीगल, वर्गसा आदि जैसे कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों के प्रति भी व्यामोह अथवा सहानुभूति प्रकट की है, किन्तु उनका प्रतिष्ठान उन्होंने भारतीय दर्शन की परिधि में ही किया है। अतः छायावादी दर्शन की स्थापना में उनका कोई पृथक स्थान नहीं है।

जहां तक अनात्मवादी दर्शन का प्रश्न है, छायावाद के निराशावाद अथवा दुःखवाद पर बौद्ध दर्शन के दुःखवाद का प्रबल प्रभाव है, किन्तु इस दुःखवाद का पर्यवसान भी बहुधा छायावाद की कविता में अध्यात्म विषयक आनन्दवाद में ही हुआ है।

उत्तर छायावाद एवं छायावादोत्तर काल में भी प्रमुख छायावादी कवियों—पंत, निराला, महादेवी का दृष्टिकोण मूलतः आध्यात्मिक ही रहा है। निराला जी की कविता में भक्ति का स्वर उत्तरोत्तर प्रखर होता गया है। पंत जी भूत (मैटर) और आत्मा (स्पिरिट) के समन्वय में संलगन अवश्य हैं, किन्तु उस समन्वय में भी प्रधानता आत्मा की ही है। वस्तुतः पंत काव्य में भूत और आत्मा का उक्त समन्वय औपनिषदिक अद्वैत पर आधारित श्री अरविन्द दर्शन

की पृष्ठभूमि में हुआ है। महादेवी वर्मा पूर्ववत् अपने निर्दिष्ट पथ पर दृढ़ता के साथ चली जा रही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादोत्तर काल में भी प्रमुख छायावादी कवियों का दृष्टिकोण अध्यात्मवादी और अद्वैतमूलक ही है।

## (ब) छायावादोत्तर काल :

छायावादोत्तर काल की रचनाओं की परीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत कालावधि के काव्य साहित्य की अनेक प्रवृत्तियां है। इस बीच का इतिहास कई वादों और धाराओं से होकर गुजरा है। कई नवीन जीवन दृष्टियां और काव्य वस्तु और शिल्प सम्बन्धी मान्यताएं उभरी हैं। किसी धारा में व्यक्तिगत अनुभूति किसी में रोमानी दृष्टि की प्रधानता है तो किसी में बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की। कृतियों के आधार पर यदि हम इन अनेक दृष्टियो, मान्यताओं और रचना रूपों का वर्गीकरण करें तो स्पष्ट रूप से पांच–छह काव्य धाराएं उभरकर आती हैं। उन्हें राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता, क्रमागत छायावादी काव्यधारा, या उत्तर छायावाद, वैयक्तिक गीत काव्य, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता और नयी कविता के बाद की हिन्दी कविता कहा जा सकता है। इसमें पहली दो धाराएं नई नहीं है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा भारतेन्दु काल से प्रारम्भ होकर द्विवेदी काल, छायावाद को पार करती हुई इस काल की कविताओं में समकालीन प्रश्नों, स्वरों से संयुक्त होकर और भी उदार और वैविध्यपूर्ण हो गई। छायावादी काव्यधारा छायावाद काल में अपना पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त कर चुकी थीं और परम्परा के निर्वाह सी इस काल में भी बहती हुई दिखाई पड़ती है। शेष धाराएं प्रस्तुत काल की ही उपज हैं।

### (I) उत्तर छायावाद :

वास्तव में इस अवधि के छायावाद का इतिहास मूलतः प्रगतिवाद के प्रारम्भिक पुरस्कर्ता निराला और पंत के काव्य विकास का इतिहास है। यों तो इस धारा में अनेक लोग आये किन्तु इस शैली में उनका कोई अपना उन्मेष नहीं है। उनका योगदान इस धारा को बढ़ाने में अवश्य रहा किन्तु इसे कोई विशिष्टता नहीं प्रदान कर सके। इसलिए उनकी चर्चा करना यहां अनापेक्षित होगा। महादेवी जी की 'दीपशिखा' उनकी रचनाओं के क्रम में अगली कड़ी के रूप में आयी तो, पर उसे भी पहले की महादेवी के प्रकाश से अलग नहीं किया जा सकता और फिर इसके बाद आधुनिक मीरा चुप सी हो गयीं।

## (क) निराला :

छायावादी कविता के चार प्रमुख स्तम्भों में (प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी) से एक सूर्य कान्त त्रिपाठी निराला हिन्दी प्रगतिवादी काव्य के जनक और मूल प्रेरक शक्ति रहे हैं। वह पंत के समान प्रगतिवादी आन्दोलन से प्रभावित होकर एका–एक प्रगतिवादी नहीं बन गये थे। हमें उनके काव्य में आरम्भ से ही रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, दीन–हीन के प्रति अमित सहानुभूति और शोषण के खिलाफ तीव्र आक्रोश की भावना मिलती है। निराला का जीवन संघर्षमय तथा लोक संपृक्त रहा है। उनकी लोकोन्मुखता दो रूपों में आयी– (1) छायावाद से एकदम अलग हटकर कवि ने प्रगतिशील कविताएं लिखीं। (2) उनकी छायावादी काव्यधारा का स्वर अधिक लोकोन्मुख होता गया। प्रगतिवादी कविताओं में छंद–भाषा और भाव–भूमि सभी छायावाद के प्रभाव से मुक्त हैं। निराला की 'बेला', 'नये पत्ते', 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम संगीत', 'रानी और कानी' 'खजोहरा', 'मास्को डायलाग्स', 'स्फटिक शिला' की अधिकांश कविताएं इसी वर्ग की है। इनमें प्रगतिशीलता अपने दार्शनिक रूप में नहीं है, बल्कि लोकानुभूतियों के रूप में है।

परिमल की कविताओं में 'विधवा', 'भिक्षुक', 'बहू', 'दीन' आदि ऐसी कविताएं भी हैं, जो शैली की दृष्टि से छायावादी होते हुए भी विषय वस्तु और भाषा की दृष्टि से प्रगति शील हैं। उनके समस्त काव्य का प्रधान स्वर ओज और संघर्ष का रहा है। इसलिए जब हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो उसे सहज ही निराला का पूर्ण सक्रिय सहयोग मिला।

निराला छायावादी कवि अवश्य रहे हैं, परन्तु उनके छायावादी काव्य की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि उसमें कहीं भी पलायन पराजय की भावना नहीं आ पायी है, परन्तु निराला की उत्तर छायावाद की कविताओं में उनकी जीवनानुभूति के जो स्वर उभरे उनमें टूटन और पराजय भी थी, टूटन और पराजय की यही प्रवृत्ति कवि को भक्ति की ओर उन्मुख करती है। 'तुलसीदास' इस अवधि की इनकी विशिष्ट देन है। इसमें भारत को सांस्कृतिक और सामाजिक पराजय के गर्त से निकालने का संकल्प है।

निराला ने न कभी छायावाद का विरोध किया और न ही कभी प्रगतिवाद की प्रशंसा। दार्शनिकता के पुट ने निराला के काव्य को अधिक गहन और गंभीर बना दिया।

## (1) निराला की परवर्ती काव्य कृतियाँ प्रगतिशील मार्क्सवादी चेतना के सन्दर्भ में :

निराला एवं पंत की परवर्ती कविताओं का समय 1935–36 ई० से लेकर 1950 ई० तक माना जा सकता है। इन वर्षों में निराला ने व्यंग्यात्मक और परिहासात्मक कविताओं के माध्यम से सामाजिक वैषम्यों और आर्थिक दुर्व्यवस्था का व्यंग पूर्ण आकलन किया है। उनकी ये रचनायें 'अणिमा' के उत्तरार्ध से आरम्भ होकर 'कुकुरमुत्ता' 'बेला' और 'नये पत्ते' तक फैली हुई है। सन् 1950 ई० के पश्चात् उनके 'अर्चना' और 'आराधना' आदि पुस्तकों में भी यत्र–तत्र सामाजिक दुराकरण के प्रति कवि के उद्गार प्राप्त होते हैं, परन्तु वे अपेक्षाकृत कम संख्या में है। अतैव निराला का प्रगतिवादी स्वर सन् 1936 से 50 तक माना जा सकता है।

निराला का सम्पूर्ण जीवन संघर्षों और विद्रोह की एक कहानी रहा है। काव्य से उन्होंने देश की आर्थिक विषमताओं, पूंजीवादी संस्कृति के शोषणों, सामाजिक रूढ़ियों और विश्वासों सजीव व्यंग्यात्मक और परिहासात्मक रूप देकर एक अखंड और क्रान्तिकारी संघर्षशील व्यक्तित्व का परिचय दिया है। व्यंग उनके काव्य का आरम्भ, मध्य और अन्त रहा है। युग की चेतनाओं विविधताओं, आदि को प्रस्तुत कर, नवीन मानव मूल्यों को प्रस्तुत किया। उनका काव्य विकासशील जीवन दृष्टि का ही परिणाम है।

"निराला जी हिन्दी में एक क्रान्तिकारी कवि के रूप में उपस्थित हुए हैं, उन्होंने काव्य और दर्शन का अद्भुद समन्वय प्रस्तुत किया है। उच्च कोटि की उदात्त ओजस्वी और मधुर कला की उन्होंने सर्जना की।"[21] इसी कारण उनका व्यक्तित्व परस्पर विरोधी तत्वों का संगम रहा है। वह एक साथ कवि और योगी हैं, छायावादी एवं क्रान्तिवादी हैं, सरल एवं दुरूह हैं, कोमल तथा कठोर हैं, यथार्थवादी तथा आध्यात्मवादी हैं।[22]

निराला के काव्य में सामाजिक स्वर का प्रारम्भिक रूप उनकी आरम्भिक या पूर्ववर्ती कविताओं में भी देखा जा सकता है–उनके पूर्ववर्ती काव्य में

सामाजिक जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव विद्यमान हैं, परन्तु सभी भावात्मक और करुण रस की भूमिका में अवतरित हुए हैं। कुछ कविताओं में क्रान्तिमूलक भावनायें भी अभिव्यक्त हुई जिनमें वीर रस की प्रधानता के साथ–साथ साम्यवादी दार्शनिक पुट भी है।[23]

करुण भावनाओं से युक्त कविताओं में परिमल की 'भिच्छुक' और 'विधवा' कवितायें उल्लेखनीय हैं। 'भिक्षुक' कविता में निराला ने एक दरिद्र भिक्षुक का सजीव चित्रांकन अपनी कविता के माध्यम से किया है। यह भिखारी भूखा–नंगा सर्वहारा वर्ग का प्रतीक हैं–

"वह आता दो टूक कलेजे के करता पछताता
पथ पर आता पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक।"[24]

समाज का सबसे उपेक्षित अंग वैधव्य है। 'विधवा' कविता में निराला ने एकाकी, करुणा, और पीड़ामय, साधनायुक्त जीवन का मर्म स्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है–

"वह इष्ट देव की मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप शिखा सी शान्त भाव में लीन
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति रेखा सी
वह टूटे तरू की टुटी लता सी दीन।"[25]

वीर रस से युक्त कविताओं में 'बादल राग' और 'जागो फिर एक बार' आदि सर्वप्रमुख है, बादल राग कविता में महान क्रान्ति का आभास गया है। यथा–

"जीर्ण बाहु है जीर्ण शरीर, तुझे बुलाता कृषक अधीर।
हे विप्लव के बीर, चूस लिया है उसका सार।
हाड़ मास ही है आधार, ऐ जीवन के पारावार।"[26]

सामंतवादी व्यवस्था में शोषित कृषक की दयनीय दशा का वर्णन और मार्क्सवादी विचारधारा की क्रान्ति की आवाहन का स्पष्ट स्वर हमें उपर्युक्त पंक्तियों सुनाई दे रहा है। इसके अतिरिक्त 'जागो फिर एक बार' कविता में राष्ट्रीय एकता और देश प्रेम का आवाहन, एवं 'जागो जीवन धनिके, कविता में भारतीय दीनता के निवारण के लिए भारतीय लक्ष्मी का आवाहन है। 'शिवाजी

का पत्र' 'उद्बोधन' आदि कविताएं भी निराला की प्रगतिशील सामाजिक दृष्टि की परिचायक हैं।

युगीन परिस्थितियों का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब साहित्य हुआ करता है 1936 ई० का वर्ष संघर्ष एवं संक्रान्ति का काल है। द्वितीय महायुद्ध के संभावित संकट, राष्ट्रीय आन्दोलन में गतिरोध, व गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन को आशातीत सफलता न मिलना, सरकारी दमन एवं आतंक से समाज जर्जरित हो चुका था, फलतः मंहगाई, कर, बेकारी, आदि से किसानों और श्रमिकों में एक व्यापक असंतोष उत्पन्न हो गया। सन् 36 के प्रारम्भ से ही नवीन युग के प्रथम किरण के दर्शन होते हैं, यह युग साहित्य तथा समाज दोनों क्षेत्रों में नवीन मूल्यों और प्रतिमानों की वैज्ञानिक ढंग से प्रतिष्ठा करता है। यहां ऐसे कवियों ने कल्पना और सौन्दर्य के स्थान पर काव्य को धरती से सम्बद्ध किया। सन् 1936 के पश्चात् निराला के काव्य ने एक नवीन दिशा की ओर प्रस्थान किया।

निराला का परवर्ती काव्य सामाजिक पीठिका पर आधारित व्यंग्यों का केन्द्र बिन्दु है। कहा जा सकता है कि निराला की परवर्ती रचनाएं परिवर्तित जीवन दृष्टि और विचारधारा का परिणाम है। यह काव्य उनके चेतन व्यक्तित्व, एवं नवीन सामाजिक भावों तथा जन जीवन के वास्तविक व्यंग्यों से परिपूर्ण है। उनके काव्य का यह चरण सन् 1942 ई० से आरम्भ होता है। परवर्ती काव्य की कृतियों में 'कुकुरमुत्ता' (सन् 42 ई०) 'अणिमा' (सन् 42 ई०– सन् 43 ई०) 'बेला' (सन् 46 ई०) 'नये पत्ते' (सन् 46 ई०) आदि प्रमुख हैं। जिनके आधार पर निराला की प्रगतिशील प्रवृत्ति और विचारधारा का अनुशीलन किया जा सकता है।

## कुकुरमुत्ता

'कुकुरमुत्ता' में विनोद की सृष्टि अतिरंजित वर्णनों द्वारा की गई है। इसमें एक ओर पूंजीवादी संस्कृति की निन्दा की गई है, और दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग को भी उपहासात्मक स्वरूप प्रदान किया गया है। एक ओर बुद्धिवाद का खण्डन और अन्य पक्ष में अद्वैत खण्डन है। 'कुकुरमुत्ता' में कवि का क्या आशय है? यह एक जटिल प्रश्न रहा है, फिर भी समग्र रूप से समीक्षकों ने गुलाब की निन्दा जो कि पूंजीवादी शोषण का प्रतीक है और कुकुरमुत्ता की प्रशंसा जो कि सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है, से ही लगाया है।

निराला ने पूंजीवादी सभ्यता और संस्कृति पर 'कुकुरमुत्ता' कविता में कठोर प्रहार किया है। उनकी यह पंक्तियां इस सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं—

'अबे सुनबे गुलाब भूल मत जो पाई खुशबू रंगो आब।
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट डाल पर इतरा रहा है केपटलिस्ट।
कितनों को तूने बनाया है गुलाम माली कर रक्खा, सहाया जाड़ा घाम।''[27]

## अणिमा

अणिमा की कविताओं में निराशा और विषाद के चित्र कवि ने रखे हैं। अणिमा के कुछ गीत ऐसे हैं जिनको लेकर निराला महती शक्ति का आवाहन करते हैं, जो हमारे समाज के वर्तमान विकारों और विषमताओं को प्रक्षालित कर सके। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

''दलित जन पर करो करूणा
दीनता पर उतर आये,
प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा।''[28]

निराल की 'उद्बोधन' कविता प्रेरणात्मक कविता है, जिसमें जातीय समानता एवं सभ्यता की भावनाएं व्यक्त हुई हैं। अणिमा के विषय में धनंजय वर्मा लिखते हैं ''विश्वास के स्वर भी साथ–साथ हैं और यथार्थ परक दृष्टि सामाजिक चेतना को अभिव्यंजित करती है।''[29]

## बेला

निराला की चेतना सामाजिक भूमिकाओं पर अधिकांशतः रही है। बेला में इसी कोटि की रचनाएं हैं। 'काले काले बादल छाये न आये बीर जवाहर लाल' तथा 'टूटी वाह जवाहर की' आदि कविताओं में कवि की राजनीतिक सामाजिक चेतना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है। इन कविताओं में प्रगतिवाद का पूर्व रूप मिलता है, जो आगे चलकर विकसित हुआ जिसमें उत्साह और क्रान्ति के स्वर गाये गये और जिसमें समाज को परिवर्तित करने का पूर्ण रूपेण संकल्प था।

## नये पत्ते

नये पत्ते की कविताओं का धरातल कुकुरमुत्ता के आधार पर निर्मित है। इसके द्वारा निराला के युग की सामाजिक राजनीतिक मान्यताओं पर तीव्र प्रहार

किया है। 'खजोहरा' कविता में ग्रामीण जीवन के कुछ चित्र हैं तो 'मास्को 'डायलग्स' कविता में समाजवादी नेताओं पर तीखा व्यंग भी है। 'राजे ने रखवली की' में सामंती व्यवस्था पर कठोर व्यंग है, जिसमें ब्राह्मण, कवि, लेखक, और इतिहासकार सभी राजाओं की प्रशंसा किया करते थे। एक स्थान पर निराला ने लिखा है–

> ''चुपलूस कितने सामन्त आए मतलब की लकड़ी पकड़े
> कितने ब्राह्मण आए पोथियों में जनता को बांधे हुए।''[30]

सामंतवादी व्यवस्था में शोषण को पंडे और पुजारियों या तथा कथित धर्म के ठेकेदारों द्वारा उसको समर्थन देना, इसके चित्रांकन में निराला ने मूलतः मार्क्सवादी दार्शनिक चिंतन को ही अपनाया है।

'गर्म पकौड़ी' कविता में भी व्यंग है। गर्म पकौड़ी में निराशा ने भारतीय समाज को दो वर्णों में देखा है। वम्मन की पकाई घी की कचौड़ी से निराला का समाज के उच्च वर्ग के प्रति लक्ष्य है और तेल की पकौड़ी से निम्न वर्ग का प्रतीक है। 'कुत्ता भौंकरने लगा' आदि कविता में कृषक के दयनीय जीवन के मर्म स्पर्शी चित्रों को चित्रित किया गया है। 'झींगुर डटकर बोला' 'डिप्टी साहब आये' आदि भी जमींदारों और अधिकारियों का एक चित्र प्रस्तुत करती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि निराला के काव्य में 'नये पत्ते' एक महत्वपूर्ण रचना है जिसमें सामाजिक यथार्थवादी प्रगतिशील दृष्टि प्रकाश में आई है। डॉ० कमलाकान्त पाठक ने लिखा है 'नये पत्ते में सामान्य जनता का जागरण दिखाना और जीवन का यथा तथ्य निरूपण करना निराला जी का इष्ट रहा है।'[31]

निराला जी की कविताओं का एक पक्ष सामाजिक भी है। जिसमें भिखारी, कृषक, श्रमिक एवं दीनहीन की करुणा एवं हृदय के सुख–दुःख उद्‌गारों को व्यक्त किया गया है। 'अनामिका' में प्रकाशित 'वह तोड़ती पत्थर' सामाजिक वैषम्य से सम्बन्धित कविता है। इसमें श्रमिक की कर्तव्य शीलता की ओर निराला जी का संकेत है। इस सम्बन्ध में निराला की यह पंक्तियां हैं–

> 'चढ़ रही थी धूप गर्मियों के दिन
> दिवा का तम तमाता हुआ रूप
> उठी झुलसाती हुई लू, रूई ज्यों जलती हुए भू

गर्द चिनगारी छा गई, प्रायः हुई दुपहर।
वह तोड़ती पत्थर।
देखते देखा मुझे तो एक बार,
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार
देख कर कोई नहीं; देखा मुझे उस दृष्टि से,
जो मार खा रोइ नहीं।"[32]

अन्तरमन तक छूने वाली मजदूर की पीड़ा का चित्रांकन निराला की यह कविता करने में सक्षम है। बेला की कुछ कविताएं निराला की सामाजिक प्रगतिशीलता की परिचायक हैं–

"भेद कुल खुल जाय वह सूरत हमारे दिल में है
देश को मिल जाये जो पूंजी तुम्हारे मिल में हैं।"[33]

निराला की इन पंक्तियों में मार्क्सवादी दर्शन का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। पूंजीपतियों एवं श्रमिकों के बीच संघर्ष में पूंजीवाद का समाप्त होना एवं श्रमिकों का उनके धन पर अधिकार होना इन पंक्तियों में ध्वनित हो रहा है, यही मार्क्सवाद का मूल आधार भी है। निराला यह भलीभांति जानते थे कि सामाजिक विषमता तभी दूर हो सकती है जब पूंजीवादी व्यवस्था समाप्त हो जाये।

निराला की कतिपय कविताएं साम्यवादी विचारों और दृष्टिकोणों को लेकर चली हैं, इन कविताओं में सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों को साम्यवादी दृष्टिकोण के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। जिसमें वर्गों एवं जाति–पांति के भेदभाव को समाप्त करने का संकल्प है। 'जल्द–जल्द पैर बढ़ाओं, कविता में साम्यवादी भावना और आदर्शों को कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

"आज अमीरों की हवेली किसानों की होगी पाठशाल,
धोबी, पासी, चमार तेली खोलेंगे अंधेरे का ताला।
एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछाओ।"[34]

निराला की 'कुकुमरमुत्ता' रचना में पूंजीवादी व्यवस्था पर सीधा प्रहार है। 'चूंकि यह दाना' कविता में पूंजीवादी सभ्यता पर तीखा व्यंग है। धन के ही कारण धर्म विकसित होता है, परस्पर प्रेम बढ़ता है। पैसे वाले के घर उनके सास, ससुर भी रहने लगते हैं इस प्रकार धन के ही कारण सामाजिक विकृतियां और विषमताएं उत्पन्न होती हैं। कुछ पंक्तियों यहां ध्यातव्य हैं –

"चूँकि यह दाना है इसलिए दीन है दीवाना है,
लोग हैं महफिल है नग्में हैं साज है,
दिलदार हैं और मिल है शम्मा है परवाना है"।[35]

'झींगुर डटकर बोला' कविता में गाँधीवादी नेताओं पर तीखा प्रहार हुआ हैं—

"गाँधीवादी आये
कांग्रेसमैन टेढ़े के,
देर तक गाँधीवाद क्या है, समझाते रहे।
देश को भक्ति से निर्विरोध शक्ति से
राज अपना होगा जमींदार साहूकार अपने कहलायेंगे।"[36]

यद्यपि निराला मार्क्सवादी चिंतनधारा से प्रभावित अवश्य रहे हैं तथापि निराला की प्रगतिशीलता किसी सिद्धान्तों या वादों की सीमाओं में आंकी नहीं जा सकती है। वह इन सबसे परे तत्कालीन परिस्थितिजन्य है। उसका एक मात्र आदर्श मानवीय कल्याण है। इसका सम्बन्ध धरती से है।

## *(ख) पंत :*

पंत जनभीरू तथा एकान्त स्वभाव के रहे हैं संघर्षों को दूर खड़े रहकर ही समझा है, उसमें कभी भाग नहीं लिया। छायावाद से प्रभावित होकर वे पहले छायावादी बने, जब प्रगतिवाद ने छायावाद का साधारण विरोध किया तो छायावाद का विरोध करने में अग्रणी बन प्रगतिवादी हो गये और जब प्रगतिवाद का अत्यधिक भौतिक और उग्र स्वर उनके कोमल स्वभाव और कोमल कल्पना को अधिक सन्तोष नहीं दे सका तो, प्रगतिवाद का विरोध करके अरविन्दवादी दार्शनिक कवि बन गये। गुंजन में पंत का यही रूप दिखाई पड़ता है। उनका कवि अपनी आत्मा का बालोचित सहज उल्लास खोकर दार्शनिक बन गया हैं वह जन्म में मृत्यु और बसन्त में पतझड़ के दर्शन करने लगा है। अपने युग के आदर्शों में उसका विश्वास नहीं रहा है। इसलिए वह बुद्धिवादी बन आत्म कल्याण और विश्व कल्याण से भर उठा। चुंकि ये अपने संस्कार और भाषा में मूलतः छायावादी ही रहे हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि पंत के माध्यम से छायावाद को इस अवधि में नया चिन्तन और नया विषय जगत प्राप्त हुआ है।

सन् 1936 ई० में युगान्त की घोषणा कर पंत ने 1939 ई० में युगवाणी और 1940 ई० में ग्राम्या की रचना की। इसलिए वे मार्क्सवाद के भौतिक दर्शन और जन जीवन के सत्यों की ओर उन्मुख हुए।

## (1) पंत का परवर्ती काव्य प्रगतिशील मार्क्सवादी चेतना के संदर्भ में

पंत का झुकाव प्रगतिशील काव्य रचना की ओर 'युगान्त और 'रूपाभ' की स्फुट कविताओं में दिखाई पड़ता है, परन्तु उनका प्रौढ़ स्वरूप 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' काव्य संग्रहों में निर्मित हुआ है। इन रचनाओं का समय भी सन् 1935—36 ई० से आरम्भ होकर 40—42 तक चलता है। जान पड़ता है कि पंत जी का यह प्रगतिशील चरण निराला की अपेक्षा अल्प जीवी रहा है। उनके प्रगतिशील काव्य में व्यंग और विद्रूप की अपेक्षा, ग्लानि, करुणा और उपदेशात्मक पक्ष अधिक है।

युगान्त का कवि विगत युग की समाप्ति और नव युग का उल्लासपूर्वक अभिनंदन करता है।

> ''द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र हे स्त्रत ध्वस्त हे शुष्क शीर्ण।
> हिम ताप पीत, मधुवात भीत तुम वीत राग जड़ पुरा चीन'।[37]

इन पंक्तियों में कवि ने पुरानी पूंजीवादी व्यवस्था को शीघ्र ध्वस्त होने की कामना की है। युगान्त में नये युग के अवतरण की पुकार है। नवीन आशा की किरणों से कवि 'गा कोकिल बरसा पावक कण' की घोषणा करते हुए क्रान्ति का आवाहन करता है।

> ''गा कोकिल बरसा पावक कण।
> नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।''[38]

इस प्रकार युगान्त काव्य में एक प्रकार से छायावादी काव्यधारा से विदा लेने का उपक्रम है। जिसके मूल में कवि की नवीन जीवन दृष्टि है। जो एक सौन्दर्य के कवि को समाज और राष्ट्र की यथार्थताओं से परिचित करती है।

पंत की प्रगतिशील काव्य रचनाओं में 'युगवाणी' एक प्रमुख कृति है। 'युगवाणी' में आकर कवि का मार्क्सवादी प्रभाव गहन हो जाता है। श्री प्रकाश चन्द्र गुप्त के शब्दों में, ''हिन्दी प्रगतिवाद का एक बड़ा कदम छायावादी कवि पंत की कला का परिवर्तन था। 'युगवाणी' में पंत की प्रेरणा ने अपने कोमल

अन्तर्मुखी गीत त्याग कर समाजवादी विचार दर्शन अपनाया। कल्पना के रंग महल छोड़कर आपके काव्य ने कठोर और शुष्क धरती का वरण किया।[39]

पंत जी की 'कार्लमार्क्स', 'भौतिकवाद', 'साम्राज्यवाद', 'गाँधीवाद' आदि कविताएं जीवन सम्बन्धी वास्तविकताओं को दृष्टिकोण में रखकर सिद्धान्तों की सीमाओं में बंध गयी हैं। इन कविताओं में एक वर्गहीन संस्कृति और समाज की कल्पना की गई है—

"धन्य मार्क्स' ! चिर तमछन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर,
तुम त्रिनेत्र ज्ञान चक्षु—से प्रकट हुए प्रलयंकर।"[40]

समाजवाद गाँधीवाद कविता में गाँधीवादी विचारों का यथेष्ट प्रतिपादन है। उसकी ये पंक्तियां इस विचारधारा का समर्थन करती हैं—

"गाँधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान।
सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण।[41]

इस सम्बन्ध में कवि के स्वयं के विचार भी उल्लेखनीय हैं। कवि कहता है, 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में मेरी क्रान्ति की भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नहीं होती, उसे आत्म सात करने का प्रयत्न भी करती है।"[42]

युगवाणी में कवि एक नवीन मानवता और संस्कृति का निर्माण करना चाहता है, उसकी नवीन जीवन की कल्पना कार्य रूप में तब तक परिणत नहीं हो सकती जब तक वर्तमान पूंजीवादी सम्यता और संस्कृति स्थापित रहेगी। कवि चाहता है कि इसका पूर्ण रूपेण विनाश हो और यही कारण है कि इसकी तीव्र शब्दों में भर्त्सना करता है—

"वे नृशंस हैं, वे जन के श्रम बल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित।"[43]

छायावादी कविता जीवन दृष्टिकोण से रहित होने के कारण भावना प्रधान थी, युगवाणी में आकर नवीन मानव मूल्यों एवं मार्क्सवादी जीवन दर्शन की कवि ने स्थापना की है।

पंत जी के प्रगतिशील काव्य का अन्तिम चरण ग्राम्या है। इसमें 'युगवाणी' के बाद की रचनायें संग्रहीत हैं। इसमें कवि का उद्देश्य ग्रामीणों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति का प्रदर्शन मात्र ही है। 'ग्राम्या में पंत के काव्य का

अपेक्षाकृत प्रौढ़ स्वरूप प्राप्त होता है। युगवाणी से अधिक परिष्कृत कला यहां सामाजिक चेतना को लेकर प्रस्फुटित हुई है। प्रेमचन्द्र के अतिरिक्त किसी अन्य कलाकार ने भारतीय ग्राम का इतना मार्मिक चित्रण नहीं किया है। 'गाँव के लड़के' कविता में गाँव के बच्चों का बड़ा ही स्वाभाविक, सजीव एवं यथार्थ चित्रण किया गया है—

> ''मिट्टी से भी मटमैले तन, अधकटे कुचैले जीर्णवसन,
> ज्यों मिट्टी के हों बने हुए ये गंवई लड़के भू-के धन।''[44]

इन पंक्तियों में गांव की गरीबी का सचित्र वर्णन है। ग्राम्या में ग्रामीण जीवन और संस्कृति के अतिरिक्त धोबियों, कहारों एवं चमारों के नृत्य पर लिखी हुई कविताएं हैं।

पंत की प्रगतिशील कविताओं में सामाजिक कविताओं का भी महत्वपूर्ण स्थान है। 'युगान्त' में कवि ने नवीन संस्कृति के निर्माण की कल्पना की है। कवि को दीन–हीनों से विशेष सहानुभूति है, कवि कहता हैं—

> ''जो दीन–हीन पीड़ित निर्बल, मैं हूँ उनका जीवन संबल।
> जो मोह छिन्न जग में विभक्त, वे मुझसे मिले बने सशक्त।''[45]

''युगान्त की कविताओं में गाँधीवाद का किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभाव मिलता है जो कि 'बापू के प्रति' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है। 'युगवाणी' की 'मार्क्स के प्रति' में मार्क्सवादी प्रभाव परिलक्षित होता है—

> ''साक्षी है इतिहास, किया तुमने दुदुम्भि से घोषित,
> प्रकृति विभाजित कर, मानव ने की विश्व सभ्यता स्थापित।''[46]

'समाजवाद गाँधीवाद' शीर्षक कविता में कवि ने गाँधीवादी विचारों, सिद्धान्तों, आदर्शों की प्रशंसा की है। कवि कहता हैं—

> ''मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद,
> सामूहिक जीवन विकास की साम्ययोजना है अविवाद।''[47]

कवि ने स्वयं 'रश्मि बंध' की भूमिका में लिखा है कि उसने युगवाणी और 'ग्राम्या' में मार्क्सवादी दर्शन को आत्मसात करने की चेष्टा की है। डॉ० नगेन्द्र इस सम्बन्ध में लिखते हैं, ''युगवाणी एक प्रकार से भारतीय साम्यवाद की वाणी है। भारतीय साम्यवाद का युगवाणी में दो रूपों में ग्रहण है। एक ओर उसके

मुख्य सभी सिद्धान्तों का विवेचन, दूसरी ओर समाजवाद के दृष्टिकोण का ग्रहण।''[48]

निराला और पंत में मुख्य अन्तर यह है कि निराला ने चिन्तन के माध्यम से नहीं, संवेदना और अनुभव के माध्यम से जनजीवन को ग्रहण किया, इसलिए उनकी कविताओं में मार्क्सवाद या समाजवाद का दर्शन कोई स्पष्ट रूप नहीं पा सका वहां जन जीवन अपने समस्त संवेदन के साथ उभरा। दूसरी ओर पंत ने मार्क्सवादी दर्शन को चिंतन के स्तर पर स्वीकार किया, वे प्रायः मार्क्सवादी सिद्धान्तों को ही व्यक्त करते रहे हैं।

''कहता भौतिकवाद वस्तुजग का कर तत्वान्वेषण,
भौतिक भव ही एक मात्र मानव का दर्पण।''

यह बात तब और भी स्पष्ट हो उठती है, जब पंत जी ग्राम्या से आगे की यात्रा में अरविन्द दर्शन से प्रभावित हो उठते हैं। यहां तक स्वामी राम तीर्थ स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक तथा शेली, कीट्स, रवीन्द्र आदि की शैली और विचार से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं।

गुंजन के बाद पंत का बुद्धिवाद उन्हें विद्रोह के पथ पर ले जाता हुआ दिखाई देता है। भौतिकवाद का नया यथार्थवादी स्वर पंत की सम्पूर्ण मान्यताओं को ध्वस्त कर उन्हें प्रगतिवादी बना देता है। उनके आगामी काव्य संग्रहों युगान्त, युगवाणाी, और ग्राम्या में पंत के इसी नवीन चिंतन और बौद्धिकता का समन्वय हुआ है। इसमें भौतिकवाद और मार्क्सवाद के साथ आध्यात्म का भी पुट रहा है। कवि कल्पना को त्यागकर कठोर धरातल पर उतर आया। वह प्रकृति का निरादर कर मानव महत्व की भावना से भर उठा।

''सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर, मानव! तुम सबसे सुन्दरतम।''

अपने इस प्रगतिवादी काव्य में पंत ने जन साधारण के दुख–दर्द के चित्र अंकित किए हैं। पुरानी सामन्ती संस्कृति को मरणोन्मुख घोषित कर नई मानवता की प्रशस्ति की गयी है। परन्तु पंत का कोमल प्राण, प्रगतिवाद के उग्र विध्वंसकारी रूप की कठोरता को पूर्णतः आत्मसात करने में झिझकता तथा गाँधीवाद एवं अरविन्दवाद में आश्रय खोजता रहा है। स्वभाव से ही संघर्ष भीरू होने के कारण पंत का कवि श्रमजीवी वर्ग को केवल अपनी बौद्धिक सहानुभूति ही प्रदान कर सका, जो सुन्दर होते हुए भी निष्प्राण हैं। इसीलिए कुछ लोग पंत

को वर्गहीन बुद्धिवादी कहते हैं। पंत संघर्ष विद्रोह के स्वर गुंजाते हुए भी दर्शन में आश्रय ढूंढ़ते रहते हैं और कुछ समय उपरान्त दर्शन उन पर इतना अधिक हावी हो जाता है कि वह प्रगतिवाद का विरोध कर आध्यात्म द्वारा सांस्कृतिक पुनुरूत्थान की बात करने लगते हैं। पंत की यह स्वभावगत अस्थिरता उन्हें निरन्तर भटकाती रही है। 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', में पंत ने उच्च सांस्कृतिक आन्दोलन को मानवता के कल्याण के लिए अनिवार्य मान दार्शनिक विवेचन किया है, तो वहीं अरविन्द दर्शन से गहरे रूप से प्रभावित होकर 'उत्तरा' और 'अतिमा' नामक काव्य संग्रहों में पंत पूर्ण दार्शनिक बन गये हैं और साथ ही प्रगतिवाद के कट्टर विरोधी भी। 'लोकायतन' महात्मा गाँधी पर 700 पृष्ठों का प्रबंध काव्य है और 'काला और बूढ़ा चांद' में भी पंत का दार्शनिक स्वर ही अधिक उभरा है। कवि ने आरम्भ से मनुष्य मात्र के सुख एवं शान्ति के सपने देखता रहा है, इस वायवी सपने को उसने रूप देना चाहा तो मार्क्सवाद में उसे आलोक दिखाई पड़ा, किन्तु पुनः उसे ऐसा लगा कि मार्क्सवाद एकांगी है, केवल भौतिक योगक्षेम की व्यवस्था कर सकता है। अतः कवि इसे आवययक मानते हुए भी पर्याप्त नहीं मानता और अरविन्दवाद में भौतिकवाद और आध्यात्मवाद का समन्वय ढूंढ़ता है।

## (2) श्री अरविन्द दर्शन एवं पंत का काव्य :

श्री अरविन्द (1872—1950) का दर्शन भी औपनिषदिक अद्वैतवाद एवं पाश्चात्य भौतिकवादी दर्शन की परम्परा में आता है। वी0पी0 वर्मा के अनुसार, भारतीय पुनर्जागरण और भारतीय राष्ट्रवाद की श्री अरविन्द एक महान विभूति थे, नैतिक बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों ने भारत के शिक्षित समाज पर गहरा प्रभाव डाला है। उनके महाग्रन्थ 'लाइफ डिवाइन' के प्रकाशन के समय से संसार के प्रमुख विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ और उनका महाकाव्य 'सावित्री' आध्यात्मिक काव्य के क्षेत्र में एक नये युग का प्रवर्तक माना जाता है। निःसन्देह वे आधुनिक भारतीय विचारकों में सबसे अधिक सुशिक्षितों में से एक थे। टैगोर ने जिनपर अरविन्द के देदीप्यमान व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ा था, कहा है कि उनके द्वारा भारत विश्व को अपना संदेश व्यक्त करेगा। रोमै रोला श्री अरविन्द को एशिया की प्रतिभा तथा योरोप की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट समन्वय मानते हैं। सचमुच श्री अरविन्द की प्रतिभा बहुमुखी थी, वे कवि, तत्वशास्त्री, दृष्टा, देश भक्त मानवता के प्रेमी तथा राजनीतिक सामाजिक

विचारक थे। उनकी रचनाओं में हमें भारत की नवीन व उदीयमान आत्मा का घनीभूत सार देखने को मिलता है और मानव जाति के लिए उनमें आध्यात्मिक संदेश निहित है।"[49]

महर्षि अरविन्द आज के युग के महान विभूति हैं। उनके द्वारा प्रतिष्ठित नवमानवतावादी दृष्टिकोण ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आज के प्रत्येक जागरूक साहित्यकार को प्रभावित किया है। उन्होंने आधुनिक सांस्कृतिक संकट के युग में सामाजिक उन्नति के लिए नये सोपानों का अन्वेषण किया है और यांत्रिक सभ्यता के इस युग में मानव के दैहिक और आध्यात्मिक विकास के समन्वयात्मक रूप की आशा भूमि प्रस्तुत की है।[50]

महर्षि अरविन्द पुनर्जागरण बेला की शशक्त एवं सक्षम भारतीय प्रतिभा थे। उन्होंने यथा संभव समस्त पौरस्त्य, पाश्चात्य, प्राचीन अर्वाचीन दर्शन एवं विज्ञान का अध्ययन कर एक ऐसे दर्शन की सृष्टि की है जो तमाम अतिवादी और विरोधी विचारों का संगत समन्वय करता है। प्रत्येक सन्तुलित विचारक पूर्ववर्ती विचारकों के विचारों का सरवान पक्ष ग्रहण कर समन्वयी वैचारिक सृष्टि को जन्म देता है। ऐसे प्रयासों में से जो जितनी ही व्यापकता में समन्वय एवं संगति ढूंढ़ निकाले वह उतना ही प्रतिष्ठित होता है। दर्शन के समूचे इतिहास में कदाचित ही किसी दार्शनिक ने अब तक इतनी व्यापकता और विस्तार प्रदर्शित किया हो। जड़वाद, चेतनावाद और विकासवाद, पूर्णतावाद की अतियों के पारस्परिक विरोध से हटकर उन्होंने ऐसी अन्वित की स्थापना की कि मनुष्य इसी लोक में इसी पार्थिव देह से दिव्य जीवन का अनुभव कर सके।

श्री अरविन्द ने स्वयं ही लिखा है कि उनका दर्शनशास्त्र भारतीय और पाश्चात्य विचारधारा का समन्वय है। इस रूप में उन्होंने भारत के सन्यासवादी आध्यात्मवाद और पश्चिमी जगत के लौकिकवादी भौतिकवाद की परस्पर विरोधी प्रकृतियों का समन्वय किया। आध्यात्मवाद के क्षेत्र में भारतीय प्रतिभा की उच्चतम उपलब्धि आर्य ऋषि मुनियों के द्वारा संभव हुई। बुद्ध की शिक्षाओं में भी उसी प्रतिभा की झलक देखने को मिलती है। परन्तु परवर्ती काल में मोक्ष प्रति के साधन के रूप में संसार को त्यागने पर अधिक बल दिया गया। लोगों के दिल व दिमाग में यह धारणा घर कर गई कि इस लौकिक जगत का सब कुछ क्षण भंगुर है, मिथ्या है अतः इस लौकिक जगत को त्यागकर भोगमय जीवन से सर्वथा दूर रहना ही उचित है। इसी त्याग में वैराग्य में मुक्ति है। इस

विचारधारा या दर्शन ने हमें अपने व्यावहारिक व प्राकृतिक जीवन से बहुत दूर हटाकर वास्तविक जीवन संघर्ष में हमारी प्राणशक्ति को दुर्बल बना दिया। परिणाम यह हुआ कि, जीवन के शुद्ध लौकिक क्षेत्र में भारत संसार के अन्य देशों के साथ प्रतिस्पर्धा में सफल न हो सका। इससे व्यक्ति और समाज दोनों का ही अहित हुआ, और दोनों की ही रचनात्मक प्रगति रुक सी गई। इसके विपरीत योरोप भौतिकवाद का गढ़ रहा है। वहां ड्रेमोकिट्स, दिदरो, मार्क्स, ऐंगल्स, हेकल, लेलिन आदि भौतिकवादी विचारकों ने इस क्षेत्र में अपना–अपना योगदान दिया है। सच यह है कि अनेक वैज्ञानिकों का ईश्वर में विश्वास रहा है, फिर भी वैज्ञानिक पद्धति और विचारधारा के विकास के साथ–साथ पश्चिमी देशों में घोर लौकिकवाद और भौतिकवाद को प्रोत्साहन मिला है। सर्वत्र बाह्य वातावरण की विजय और समाज को बौद्धिक आधार पर संगठित करने की दिशा में अथक प्रयास किए गये हैं। इस प्रकार के वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने प्रकृति तथा मानवीय जीवन व समाज के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान भण्डार को बहुत विस्तृत किया है। हमारी सृजनात्मक शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि की तथा लोकतन्त्र समाजवाद, समानता, मानवता के आदर्शों को प्रस्थापित किया। पर इतना सब होने पर भी आत्मा और परमात्मा की वास्तविकताओं को न तो समझ सके और न ही समग्र संसार को नियमित व संचालित करने वाली ईश्वरीय शक्ति के रहस्य को खोल सके।

श्री अरविन्द का विचार था कि भारत तथा योरोप दोनों ही अति की ओर चले हैं–भारत आध्यात्मवाद की चरम सीमा पर एवं योरोपीय देश लौकिकवाद या भौतिकवाद के उच्चतम शिखर पर। अपने प्रति या चरम रूप में न तो अध्यात्मवाद व्यावहारिक है और न ही भौतिकवाद अन्तिम आदर्श। अतः दोनों का समन्वय न केवल आवश्यक है, अपितु उपयोगी भी। श्री अरविन्द का यह विश्वास था कि भारतीय आध्यात्मवाद और योरोपीय लौकिकवाद व भौतिकवाद के बीच उचित व्यावहारिक सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है, और ऐसा हो जाने पर वह केवल भारत के लिए ही नहीं, समग्र संसार के लिए कल्याणकारी व क्रान्तिकारी होगा। इस पूर्व पश्चिम के समन्वय के फलस्वरूप जिस नवीन विचारधारा या दर्शन का जन्म होगा उसमें स्वभावतः ही पदार्थ (भूतद्रव्य) तथा आत्मा या परमात्मा दोनों के महत्व को स्वीकार किया जायेगा। श्री अरविन्द ने अपनी कृतियों में इसी समन्वय को उजागर करने का प्रयास किया है, और इस

बात को दर्शाया है कि केवल भौतिकवाद या केवल आध्यात्मवाद पर बल देना उचित न होगा।

श्री अरविन्द के अनुसार परम सत् एक अध्यात्मिक तत्त्व है। वह केवल अविचल, अलक्ष्य, अनुभवातीत, और अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है, अपितु उसमें गतिशीलता, उद्‌विकास तथा एक से अनेक में परिवर्तित होने के गुण मौजूद रहते हैं। अतः विविधता भी उतनी ही वास्तविक है जितनी की एकता अगर एक परमात्मा सत्य है, वास्तविक है, तो असंख्य मनुष्यों में बिखरे हुए उसी परमात्मा का प्रकाश आत्मा भी सत्य है, वास्तविक है। उसी प्रकार यह बाह्य जगत उसी वास्तविक सत्ता (परमात्मा) की वास्तविक सृष्टि है, काल्पनिक या आधार विहीन सृष्टि नहीं। प्रत्येक वस्तु या पदार्थ उस परमात्मा की ही विभिन्न अभिव्यक्तियां है। या यूं कहिये कि पदार्थ भी आवरण युक्त आत्मा ही है। ब्रात्कण्ड के विकास के हेतु आत्मा अपनी चेतना को स्वतः ही समाप्त व सीमित करके अचेतन का रूप धारण कर लेता है। उस अचेतना से ही विकास का क्रम आरम्भ होता है और उत्तरोत्तर द्रव्य, जीवन तथा मन का विकास होता है। यहां पर स्पष्टतः पाश्चात्य दार्शनिक लाइबनीज के दर्शन का प्रभाव अरविन्द पर देखा जा सकता है। इस प्रकार लाइबनीज की भांति श्री अरविन्द ने अपनी विचारधारा में आत्मा और द्रव्य या भौतिक दुनिया के बीच के अन्तर को मिटाकर उन्हें समन्वित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार वास्तव में दोनों एक ही हैं—'एक से अनेक और अनेक से एक' की अद्‌भुद अभिव्यक्ति है।

वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक सभी सृष्टि के विकास क्रम को महत्ता देते हैं। यह जीवन विकासक्रम हमको यह इंगित करता है कि सृष्टि—प्रकृति और मानव निरन्तर विकसित एवं उन्नत होते हुए किसी एक लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं आज मानव चेतना भी खण्डात्मक हैं, विकास क्रम अपनी चरम परिणति पर नहीं हैं। तब यह प्रश्न स्वभावतः ही उठ खड़ा होता है कि जीवन विकास का मानव के बाद अगला सोपान क्या है? जिस तरह वानर से मानव में चेतना अधिक विकसित हुई उस तरह मानव से भी चेतना अधिक विकसित होनी चाहिए और हमको जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि मानव के अगले विकास की अवस्था क्या होगी। क्योंकि प्रत्येक वस्तुओं में उसकी संभावनाएँ निहित हैं अतः यह निश्चित है कि आज के मानव में भी आगे की संभावनायें हैं और वे परोक्ष रूप से हमें किसी न किसी रूप में प्रभावित कर रही होगी। पश्चिमी

मनोविज्ञान 'भूतमुखी' होने के कारण इसको खोजने में असमर्थ है। भारत में योग दर्शन भविष्यमुखी है। योगिराज श्री अरविन्द ने इसे खोजा है। उन्होंने अतिमानस की कल्पना की और इस रूप में मानव जीवन के मौलिक रूपान्तर का एक अपूर्व शक्तिशाली साधन खोज निकाला पूर्णतर ज्ञान, महत्तर सौन्दर्य, एवं आनन्द अनुभूति की यह उच्चतर अभिव्यक्ति है। इसकी चेतना में सरलता, स्फूर्ति सशक्तता और प्रेरणा का प्रमुख स्थान है। यह चेतना अवश्य ही सामान्य मानवीय चेतना के मुकाबले उच्चतर होने के कारण 'अतिचेतना' कही जायेगी। यह सामान्य मानव में प्रसुप्त संभावना के रूप में उपस्थित है। यह पाश्चात्य दार्शनिक लाइबनीज के चिदणु के समान हैं जिसमें संसार की समस्त संभावनाएं यहां तक कि परम चितणु या ईश्वर की भी संभावना प्रसुप्त रूप में निहित है। जिस प्रकार लाइबनीज के चिदणु से सृष्टि का एवं आत्मा का तथा इसके बाद परम चिदणु का विकास होता है उसी प्रकार भी अरविन्द के दर्शन में मनस का विकास अतिमानस एवं चेतना का अति चेतना के रूप में होता है।

श्री अरविन्द ने लिखा है, "हम देखते हैं कि भारत में सन्यासवाद के आदर्श का प्रतिपादन करने वालों ने वेदान्त के एक सूत्र 'एक ही है दूसरा नहीं (एकं सत्–नेहनास्ति किंचन) के अभिप्राय को भलीभांति नहीं समझा है। उन्होंने दूसरे सूत्र 'वह सब कुछ ब्रह्म है' (सर्व खल्विदं ब्रह्म) की ओर अनुचित ध्यान नहीं दिया है। एक ओर जहां मनुष्य में ऊपर उठकर परमात्मा को प्राप्त करने की उत्कट आकांक्षा दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर परमात्मा में भी अपनी अभिव्यक्ति को अपने में शास्वत रूप में समेटने के उद्देश्य से नीचे की ओर उतरने की प्रवृत्ति भी स्पष्टतः देखने को मिलती है। इन दोनों बातों को समुचित ढंग से परस्पर सम्बद्ध करने का प्रयास हमने अब तक नहीं किया है। अर्थात् पदार्थ में निहित ब्रह्म शक्ति की वास्तविकता को उतनी अच्छी तरह नहीं समझा गया जितनी अच्छी तरह आत्मा में निहित सत्य (या परमात्मा) का साक्षात्कार कर लिया गया। दूसरे शब्दों में जिस परम सत् का साक्षात्कार सन्यासी करना चाहता है। उसे तो पूर्णतया समझ लिया गया है पर प्राचीन वेदान्तियों की भांति उस परम् सत् की पूर्ण व्यापकता और विस्तार को नहीं समझा गया। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पूर्ण व्यापकता की खोज में उस परम सत् की वास्तविकता को कम कर दिया जाये। अर्थात् भौतिकवादी आधार को स्वीकार करते हुए भी आध्यात्मवादी आधार के महत्व को कम नहीं किया जा सकता। यह सच है कि भौतिकवाद ने ईश्वरीय प्रयोजन की सिद्धि में

महान योग दिया है। उसी तरह हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि सन्यासवाद के आदर्श ने भी महान सेवा की है। अन्तिम सामंजस्य में हम भौतिक विज्ञान के सत्यों और उसके वास्तविक उपयोगी तत्वों का निश्चय ही संरक्षण करेंगे, चाहे हमें उसके विद्यमान सभी रूपों की तोड़—मरोड़ अथवा परित्याग ही क्यों न करना पड़े और इससे भी अधिक सावधानी हमें प्राचीन आर्यों की विरासत को सुरक्षित रखने में बरतनी पड़ेगी। चाहे वह विरासत कितनी ही न्यून अथवा अवमूल्यित क्यों न हो गई हो।''[51]

श्री अरविन्द का अध्यात्मवाद जगत का त्याग नहीं करता है। श्री अरविन्द का कथन है कि उनके द्वारा प्रस्तुत आध्यात्मवाद और भौतिकवाद का यह समन्वय अरस्तू और हेगल की भांति केवल एक बौद्धिक विचार नहीं है, अपितु मनुष्य के लिए एक व्यावहारिक योजना है, जिसके अन्तर्गत वे अपने भौतिक प्रयोजनों को त्यागे बिना परम सत्य की प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं।[52]

**पंत जी पर महर्षि अरविन्द के दर्शन का** बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। प्रगतिवादी युग में जीवन के भौतिक मूल्य पंत के संस्कारी व्यक्तित्व को तृप्त नहीं कर सके। मार्क्सवाद के प्रति उनमें श्रद्धा है। उसके जनहित अथवा सर्वहारा पक्ष को वे स्वीकार करते हैं, पर वर्ग क्रान्ति का उसका रूप उनको मान्य नहीं। वस्तुतः मार्क्सवाद की दृढ़ता और कठिनता पंत के कोमल आस्थावादी व्यक्तित्व के लिए अपेक्षित नहीं है। भौतिक संघर्ष, निरीश्वरवाद और अनात्मवाद, पंत जैसे आस्थि कामना व्यक्ति के लिए परितोष प्रदान करने वाला नहीं हो सकते। अतः पंत का आस्थिक हृदय रहस्यवाद और अध्यात्मवाद की ओर पुनः उन्मुख हुआ। उत्तरा की भूमिका में पंत ने अपने लिए अरविन्द की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''इस दर्शन से मेरा परिचय सन् 42 के आस—पास हुआ, जबकि द्वितीय विश्व युद्ध का चक्र चल रहा था और जो मेरी मनः स्थिति के लिए अत्यन्त उहापोह का युग था।''[53] किन्तु इसके साथ ही इन्होंने यह भी कहा है कि अरविन्द दर्शन के सम्पर्क में आने के पूर्व मेरे भीतर कुछ ऐसी नवीन अनुभूतियों उदित होने लगी थीं जिनकी पुष्टि अरविन्द दर्शन से अच्दी तरह हो गई।

''अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हें मैं अपनी सृजन चेतना का स्वप्न संचरण या काल्पनिक आरोहण समझता था, मुझे किसी प्रकार के बौद्धिक

तथा आध्यात्मिक आलम्बन की आवश्यकता थी। इन्हीं दिनों मेरा परिचय श्री अरविन्द के 'भागवत जीवन' (दि लाइफ डिवाइन) से हो गया। इसके प्रथम खण्ड के पढ़ते समय मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे अस्पष्ट चिंतन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है।"[54] इससे स्पष्ट है कि छायावाद युग में श्री अरविन्द दर्शन से परिचय न होते हुए भी पंत जी के विचारों में श्री अरविन्द दर्शन के तत्व मौजूद थे और वे तत्व थे 'भूत और आत्मा का समन्वय'—

> "जड़ चेतन है एक नियम के वश परिचालित
> मात्रा का है भेद उभय है अन्योन्याश्रित।"[55]

पृथ्वी पर स्वर्ग लोक की कल्पना आध्यात्मिक अथवा लोकोत्तर मानवता की सृष्टि तथा बहिरत्तर क्रान्ति द्वारा सामूहिक मुक्ति।

जड़ चेतन के इसी समन्वय को ध्यान में रखकर पंत ने युगवाणी में (1939) मे कहा था—

> "भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,
> जहां आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान।"[56]

इसी प्रकार अरविन्द के सम्पर्क में आने से पूर्व उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि पदार्थ (Matter) और चेतना (Sprit) नदी के दो किनारों के समान हैं जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है। अतः सत्य या तो भूत और आत्मा के समन्वय में है या उससे परे हैं—

> "बहिरंतर आत्मा भूतों से है अतीत का वह तत्व।
> भौतिकता आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल,
> व्यथित विश्व के स्थूल—सूक्ष्म से परे सत्य के मूल।"[57]

पंत ने 'युगवाणी' में बहिर्जीवन के साथ अन्तर्जीवन के संगठन की आवश्यकता पर बल दिया है और मार्क्सवाद के लोक संगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक उर्ध्व आदर्शवाद दोनों का समन्वय करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि पंत जी ने भौतिकवाद के सिद्धान्तों का जहां समर्थन किया है। वहां उनका आध्यात्मवाद के साथ समन्वय एवं संश्लेषण करने का भी प्रयत्न किया है।

युगवाणी में भौतिकता को प्रधाना देने के कारण पंत जी ने लिखा हैं–

"जीवन का चिर सत्य नहीं दे सका मुझे परितोष,
मुझे ज्ञान से वस्तु सुहाती, सूक्ष्म बीज से कोष।"[58]

किन्तु आध्यात्मिकता के पक्ष में संकीर्ण भौतिकवादियों को उन्होंने चेतावनी भी दे दी–

"आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम,
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम संवार कर चाम।"[59]

इसी प्रकार 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', तथा 'उत्तरा' में आध्यात्मिकता को प्रधानता देने के कारण उन्होंने जड़ भौतिक वादियों का मजाक उड़ते हुए जड़–चेतन की एकता की विज्ञप्ति भी दे दी है–

"फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय, उनको चेतनता, दुख नितान्त,
है सत्य एक, जो जड़ चेतन, क्षर, अक्षर, परम, अनन्त सान्त!"[60]

जड़–चेतन का समन्वय श्री अरविन्द दर्शन की मौलिक देन है। अतः पंत जी के जीवन दर्शन में श्री अरविन्द के प्रभाव से जड़–चेतन का उक्त समन्वय भिन्न–भिन्न द्वन्द्वों यथा तम–प्रकाश, मर्त्य–अमर, जड़–चेतन, शरीर–आत्मा, सत–असत, श्रेय–प्रेय, इह–पर, स्थूल सूक्ष्म, व्यक्ति–विश्व, अद्यः–ऊर्ध्व, बहिः–अन्तर, स्वर्ग–धरणी, विद्या–अविद्या, बुद्धि–हृदय आदि के रहस मिलन के रूप में व्यक्त हुआ है–

"हो रहा स्वर्ग से धरणी का जड़ से चेतन का रहस मिलन।
भू स्वर्ग एक हो रहे शनैः सुरगण नरतन करते धारण।।"[61]

इस प्रकार से एक अन्य उदाहरण :–

"तम प्रकाश हों, जड़ चेतन हों, इन्द्रिय हों, आत्मा, तन, मन हों,
मर्त्य अमर को एक पांति में पूरक मान बिठाओ।"[62]

पंत को श्री अरविन्द दर्शन द्वारा यह ज्ञात हो गया कि जड़ विज्ञान और चेतना का संचरण दोनों लोक जीवन के विकास में बाधक न होकर सहायक किंवा आवश्यक हैं। इस प्रसंग में संसार से विमुख करने वान्ले सन्यास मार्ग का भी विरोध किया है–

"भू पर संस्कृत इन्द्रिय जीवन, मानव आत्मा को रे अभिमत,
ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी, सन्यासी जीवन से उपरत!"[63]

क्योंकि जीवन की शोभा जड़ चेतन की धूप छांह से ही है–

"जड़ चेतन की धूप छांह से जीवन शोभा का मुख गुण्ठित।"[64]

भौतिकता और आध्यात्मिकता के उक्त समन्वय को उन्होंने भागवत जीवन माना है–

"जन भू पर करना निर्मित नव जीवन बहिरंतर संयोजित,
एक मनुज हो, एक धरा हो, यही भागवत जीवन निश्चित!"[65]

इसी प्रकार श्री अरविन्द के आत्म विकासवादी साधना एवं दिव्य जीवन का प्रचुर प्रभाव पंत जी पर देखा जा सकता है–

"जनमन के विकास पर निर्भर सामाजिक जीवन निश्चित,
संस्कृति का भू स्वर्ग अमर आत्मिक विकास पर अवलम्बित।"[66]

इसी प्रकार जैसे श्री अरविन्द ने दिव्य जीवन के लिए आत्मिक एक्य की अनुभूति को आवश्यक माना है पंत जी ने भी भावी संस्कृति के निर्माण के लिए आत्म एक्य को नींव के रूप में अपनाया है–

"आत्म एक्य हो नींव, मनुष्य समाज का भवन
स्वर्गोन्नत हो, मुक्त व्यक्ति रूचि के वातायन!"[67]

पंत भी श्री अरविन्द की भांति आत्मा को जागृत कर उसे भीतर से दीपित करने के पक्ष में हैं, किन्तु इसके साथ ही वे उसके बाहरी विस्तार और विकास को भी नितान्त आवश्यक मानते हैं–

"मानव आत्मा को जाग्रत हो भीतर से होना दीपित,
बाहर से विस्तृत नव विकसित।"[68]

वास्तव में पंत जी को आदर्श व्यक्तियों द्वारा आदर्श संस्कृति एवं समाज की स्थापना अभीष्ट है और उसके निर्माण के लिए, भूमि के रूप में उन्होंने अरविन्द दर्शन के जड़–चेतन की एकता, आरोहण–अवरोहण, मन–अतिमन, तथा दिव्य जीवन के सिद्धान्त तथा सन्देश को ग्रहण किया है। अतः कभी वे जड़ चेतन की एकता से नव हीरक दल भू जीवन निर्मित करना चाहते हैं, कभी मन के ऊर्ध्व संचरण और दिव्य चेतना के आवाहन द्वारा मर्त्य भूमि को स्वर्ग बना देना, अथवा भू और स्वर्ग को एक कर देना चाहते हैं, और कभी आत्मा के स्वर्णिम प्रकाश से भू जीवन के प्रांगण को शोभा मंगल से भर देना चाहते हैं।

श्री अरविन्द का कहना है कि हमारे वर्तमान प्रकृति जीवन में ऐसा प्रतीत होता है कि संसार ही हमारी सृष्टि कर रहा है, किन्तु आध्यात्मिक जीवन में हमें स्वयं अपनी और अपने संसार की सृष्टि करनी होगी। सृष्टि के इस नवीन नियम के अनुसार आन्तरिक जीवन ही प्रधान होगा शेष उसी का अस्तित्व और परिणाम। हमारी आत्मा, मन और प्राण तथा मनुष्य जीवन का पूर्णता की ओर अग्रसर होने से इसी का आभास मिल रहा है। अन्तर की इस साधना अथवा उत्क्रान्ति का दिग्दर्शन पंत जी ने नीचे की पंक्तियों में कराया है–

"सम्पूर्ण जगत का रहस्य हो रहा रूपान्तर,
आलोकित होते निश्चेतन उपचेतन स्तर,
हँसता चिन्मूर्त प्रकाश शुभ्रमानव तनधर
चैतन्य विम्ब, नव सूर्य चन्द्र शत रहे निखर!
यह अधिमानस की क्रान्ति धरा तल पर बिम्बित,
आत्मा को घेरे रजत शान्ति का व्योम अमित!
संयुक्त हो रहा विश्व चेतना में विकसित,
मानवता को होना भीतर से संयोजित।"[69]

इस प्रकार पंत जी मन और आत्मा के विकास द्वारा इस धरा को स्वर्ग बना देना चाहते हैं। इसी से वे बार–बार कहते हैं कि स्वर्ग भू से दूर नहीं है, विश्व आनन्द से भरा हुआ है, और यह निश्चित है कि इस धरा को छोड़कर कहीं भी स्वर्ग संभव नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत जी के सम्पूर्ण काव्य में आन्तरिक क्रान्ति और सामंजस्य का स्वर अत्यन्त प्रखर है और उस सामंजस्य में श्री अरविन्द दर्शन का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार श्री अरविन्द ने सामूहिक आध्यात्मिक जीवन के लिए एकता, सामंजस्य और समता के सिद्धान्त को अनिवार्य घोषित किया है, उसी प्रकार पंत जी ने भी उसे (एकता, सामंजस्य और समता) अपने नव चेतनावादी, सामाजिक सांस्कृतिक जीवन के लिए आवश्यक प्रमाणित किया है।

अब हम उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि पंत जी का कवि गत्यात्मक है, जो बाहरी भीतरी परिस्थितियों से सदैव प्रभावित होता रहा है। उक्त बाहरी भीतरी परिस्थितियों को सामंजस्य के स्वर्णिम सूत्र में

संग्रंथित करने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहा हैं अतः उनके विकासशील कवि ने श्री अरविन्द दर्शन को भी सामंजस्य की भूमिका में ग्रहण किया है।

## *(ग) महादेवी वर्मा :*

महादेवी की कविता पीड़ा की निष्काम दीपशिखा है। 'दीप शिखा' में उनकी कव्यागत भावधारा का ही उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। उनके काव्य की यह विशेषता रही है कि वे आरम्भ से अन्त तक रहस्यवादी बनी रहीं। आन्दोलनों के झंझावत तथा विचारों के तूफान आकर चले गये, मगर महादेवी का काव्य उनसे अप्रभावित रहा। प्रेम उनका मुख्य विषय है और करुणा की भावना प्रेरक शक्ति। कवियत्री ने संयोग और वियोग में उभरने वाले प्रेम के अनेक कोणों को अपने अनुभव के आलोक में देखा है। वेदना महादेवी की मूल संवेदना है, यह वेदना विरह जन्य है। करुणा, वेदना, और निराशा से आक्रान्त इनका प्रारम्भिक काव्य दीपशिखा में कुछ आलोक पा सका है—

"अब बुझे दीपक जला लूँ।
घिर रहा तम आज दीपक रागनी अपनी जगा लूँ।

जिस प्रकार जगन्नाथ रत्नाकर आधुनिक युग में जन्म लेकर भी मध्यकालीन जीवन जीते थे, उसी प्रकार महादेवी इस धरती पर रहते हुए भी किसी दूसरे लोक में सांस लेती थीं। संघर्ष और विघटन के इस युग में महादेवी का पीड़ामय काव्य पढ़कर यही कहना पड़ता है कि—

"अश्रुमय कोमल कहां तू आ गई परदेशनी री!"

महादेवी के कविता—संग्रह— नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत और दीपशिखा उनके काव्य विकास के क्रमिक सोपान हैं। नीहार, नीरजा, रश्मि और सांध्य गीत का इकट्ठा संग्रह 'यामा' है। जिस पर सन् 1983 ई० में ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। नीहार में विषाद तथा भावों का धुंधलापन है, रश्मि में प्रियतम का स्वरूप स्पष्ट होने से आशा भरी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति है। नीरजा में आनन्द विकसित हृदय कोमल वेदनाश्रुओं से भीगा है। सांध्यगीत साधना पूर्ण होने से पूर्व की स्थिति अर्थात् शांत, स्थिर, मिलनभाव का सूचक है और दीपशिखा में प्रिय विरह में जल—जलकर साधना में अडिग रहने के संकेत हैं। दीपशिखा महादेवी जी की विशिष्ट कृति है।

महादेवी के काव्य की यह विशेषता रही है कि वे आरम्भ से अन्त तक एक रस रही है। उनमें हमें कहीं भी व्यवधान नहीं मिलता। बीच में यद्यपि उन्होंने छायावाद का विरोध किया था, परन्तु फिर भी उनके मूल रहस्यवादी स्वर में हमें कहीं भी अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है। वे आरम्भ से अन्त तक अपने अज्ञात रहस्यमय प्रियतम की एकाकिनी विरहणी बनी रही हैं, और उसी के साथ अपने भावनाओं की आंख मिचौली खेलती रही हैं। इसी कारण उन्हें आधुनिक मीरा कहा जाता है। उन पर बुद्ध की करुणा एवं दुःखवाद तथा विवेकानन्द एवं रामतीर्थ के दार्शनिक विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसी कारण उनके काव्य में परमतत्व, आत्मतत्व, और प्रकृति तत्व की प्रधानता रही हैं। उनके हृदय की वैराग्य भावना क्रमशः प्रबल होती गयी है। नीहार में इन तीनों तत्वों का प्राधान्य मिला है, 'रश्मि में अद्वैतवाद का प्राधान्य है। उस असीम अज्ञात ने सृष्टि का निर्माण किया और अन्त में वह उसी असीम अज्ञात में लीन हो गई।

"तुम्हीं में सृष्टि, तुम्ही में नाश।"

इसी आधार पर उन्होंने आत्मा–परमात्मा की अभिन्नता मानी है।

"मैं तुमसे हूँ एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश।"

अन्त में–

"भूल अधूरा खेल, तुम्हीं में होती अर्न्तधान।"

नीहार में उनका काव्य अनुभूति प्रधान हो उठा है। सांध्यगीत में उनकी वेदना मिश्रित साधना गीतों का रूप धारण कर सुखमय बन जाती है। यहां आकर सुख–दुःख का ऐकीकरण हो जाता है।

विषय वस्तु की दृष्टि से महादेवी की रचनाओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है–(1) रहस्यवादी रचनाएं। (2) प्रकृति संम्बन्धी रचनाएँ। (3) गीतिकाव्य।

महादेवी की रहस्यवादी रचनाओं की मूल भावना अलौकिक प्रेम की रही है। महादेवी ने अपनी इस मधुमयी पीड़ा का प्रकाशन प्रायः ही प्रकृति के माध्यम से किया है। महादेवी के आधुनिक युग के सुन्दर, सरस, करुणापूर्ण गीतों में मीरा की सी वेदना, करुणा और मार्मिकता मिलती है। महादेवी में चित्रकला और

संगीत के मिश्रित प्रभाव ने ऐसा सम्मोहन उत्पन्न कर दिया है कि हमारी चेतना नाद माधुरी का पान करती हुई एक छाया लोक में खो जाती है।

इन कवियों के अतिरिक्त उत्तर छायावाद में जानकी वल्लभशास्त्री, राम कुमार वर्मा (अंजलि, रूपराशि, चित्ररेखा, चन्द्र किरण और एकलव्य), सुमित्रा कुमारी सिन्हा (विहग, पंथिनी) और विद्यावती कोकिल – (अंकुरिता, और सुहागिन') आदि का नाम भी गिनाया जा सकता है।

## (II) व्यक्तिवादी गीत कविता :

जैसा कि छायावाद के विवेचन में बताया जा चुका है कि वैयक्तिकता अर्थात अपनी व्यक्तिगत लालसाओं, आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति, छायावाद की एक प्रधान विशेषता रही है। छायावाद में असंतोष और विद्रोह की भावना प्रबल रही थी, जिसने सम्पूर्ण पुरानी रूढ़ मान्यताओं का विरोधकर स्वच्छन्दतावाद को जन्म दिया था। छायावाद के उत्तरार्ध में एक वैयक्तिकता प्रधान और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति एक नये रूप में प्रकट हुई थी। इस काल में कुछ ऐसे नये कवि सामने आये जो घोर रूप से अहंवादी अतः व्यक्तिवादी थे। ये सभी प्रकार की सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं का विरोधकर, अपनी अतृप्त आकांक्षाओं की तृप्ति करना ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य मानते थे। सन् 1930 ई० से लेकर 1935 ई० तक का समय भयंकर राजनीतिक निराशा, गोलमेज कान्फ्रेन्स की असफलता, क्रान्तिकारियों का दमन, गाँधीवाद की अतिशय नैतिकता का युग रहा था। इस स्थिति ने दो प्रकार की विद्रोह भावना को जन्म दिया था। एक प्रकार की विद्रोह भावना वह थी जिसमें कुछ नवयुवक सामाजिक नैतिकता प्रधान मान्यताओं का विरोध कर, केवल अपने ही सुख–आनन्द की कामना को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे। वे समाज के बंधनों को अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक समझते थे, इसलिए उनका विरोधकर मानसिक उन्मत्त विलास के गीत गा उठे। इसी को हिन्दी साहित्य में 'हालावादी' साहित्य कहा गया। दूसरे प्रकार की विद्रोह भावना वह थी–जो सभी प्रकार के अत्याचार, शोषण आदि का विरोध कर जन–सामान्य अर्थात् सम्पूर्ण समाज की उन्नति और प्रगति की समर्थक थी। यह प्रगतिवादी साहित्य धारा कहलाई। पहली धारा व्यक्तिवादी भावनाओं को प्रकट करती है तो दूसरी समाजवादी। दोनों का लक्ष्य नैतिक मान्यताओं को तोड़कर अधिकाधिक सुख भोगना था।

## (क) छायावादी काव्य में उमर खैय्याम के भोगवादी (हालावादी) दर्शन का प्रभाव :

छायावाद युग में उमर खैय्याम की रूबाइयों की धूम सी मच गई थी। उन्हीं दिनों भारत वर्ष, प्रवासी, माधुरी, सरस्वती, सुधा, वीणा आदि पत्रिका व पत्रों में उमर खैय्याम पर अनेक सुन्दर लेख व चित्र प्रकाशित हुए। मैथिलीशरण गुप्त, केशव प्रसाद पाठक बलदेव प्रसाद मिश्र, डॉ० गया प्रसाद गुप्त, बच्चन आदि अनेक व्यक्तियों ने उमर की रूबाइयों का प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया। पंत ने मधुज्वल नाम से सन् 1929 ई० में उमर की रूबाइयों का हिन्दी में अनुवाद किया। उस काल के साहित्यकारों ने उमर के जीवन दर्शन में भारतीय जीवन धारा की झलक पाई थी। उमर के जीवन दर्शन को हिन्दू धर्म के मायावाद की भूमिका में रखकर परखने की इस प्रवृत्ति से हिन्दू–समाज में उसके प्रति राग उत्पन्न हो गया, साथ ही छायावाद के क्षुब्ध और असन्तोष पूर्ण वातावरण में उसके प्रसार के लिए सुदृढ़ दार्शनिक आधार भी मिल गया।

उमर की प्रतिभा बहुमुखी थी। वह एक महान चिन्तक, विचारक, ज्योतिषी और दार्शनिक कवि था। धर्म के क्षेत्र में ऐकेश्वरवादी था। भौतिक जगत की खोज करते–करते वह आध्यात्म की ओर भी उन्मुख हुआ था। दार्शनिकों की भांति उसे भी यह जिज्ञासा हुई कि हम कौन हैं, कहां से आये, और कहां जायेंगे। किन्तु बुद्धि द्वारा इन प्रश्नों का समुचित उत्तर न पाने के कारण वह सूफियों की रहस्य साधना की ओर उन्मुख हुआ। परन्तु उसके निराशावाद को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उस मार्ग में भी उसे इप्सित तुष्टि नहीं मिली। जिस अल्लाह में कोई बुराई नहीं है, उसी अल्लाह द्वारा निर्मित इस संसार में बुराई कहां और किधर से प्रवेश कर गई यह विकट समस्या उसके सामने सदा बनी रही। अतः वह जीवन पर्यन्त सन्देह वादी बना रहा। उमर स्वाधीन चिन्तन का पक्षपाती था। किसी बात को, जो तर्क सम्मत न हो, मान लेना उसके लिए कठिन था। अतः उसने धर्म गुरूओं के पाखण्ड और धार्मिक अंधविश्वासों का खण्डन किया। ज्ञान के अगाध सागर में डुबकी लगाकर उसने जीवन की निस्सारता का अनुभव किया। संसार की क्षणभंगुरता को देखकर वह अत्यन्त विचलित व विक्षुब्ध हुआ। सांसारिक आपदाओं एवं चिन्ताओं से मुक्ति पाने के लिए उसने भोगवाद का सबल समर्थन किया। उमर की इन समस्त प्रवृत्तियों को पनपने के लिए छायावाद की अध्यात्मवादी, बुद्धिवादी, निराशावादी

एवं विद्रोहवादी (क्रान्तिकारी) वातावरण में उर्वर भूमि मिल गई। छायावाद के निराश कवि के लिए चार्वाक दर्शन का यह सिद्धान्त कि–

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत ऋणंकृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।
उसकी भोग वृत्ति को उकसाने में कम सहायक न हुआ होगा।

व्यक्तिवादी धारा हालावादी थी। हिन्दी के इन नव युवा कवियों को फारसी के प्रसिद्ध कवि उमर खैय्याम की रूबाइयों के रूप में अपनी अतृप्त आकांक्षाओं की तृप्ति का एक सरस माध्यम मिल गया। एक अंग्रेज फिट्जराल्ड उमर खैय्याम की रूबाइयों का अंग्रेजी अनुवाद कर बहुत प्रसिद्ध हो चुका था, परन्तु उसका यह अनुवाद मूल से बहुत भिन्न और विकृत था। लौकिक खुमार में डूबी हुई उसकी दृष्टि उमर खैय्याम की गहन आध्यात्मिकता और उच्च जीवन दर्शन को समझने में असमर्थ रही। हिन्दी में फिट्जराल्ड के इसी विकृत अनुवाद के माध्यम से उमर खैय्याम की रूबाइयां आयी थीं और बच्चन जैसे कवि इसी की मादक धारा में निमग्न होकर सुरा और सुन्दरी के गीत गा उठे। हिन्दी में हरिवंश राय बच्चन हालावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं।

हिन्दी में हालावाद 1933–36 ई० तक केवल चार वर्ष का जीवन व्यतीत करके समाप्त हो गया। हालावाद के उत्पत्ति, विकास और समाप्ति की कहानी बच्चन की तीन पुस्तकों में ही सीमित होकर रह गई। ये तीन पुस्तकें हैं–'मधुशाला', मधुबाला' 'मधु कलश', इन पुस्तकों में सुरा सुदरी के माध्यम से अतृप्त लालसा तृप्त करने की बात है फारसी में शराब, जाम, साकी, आदि शब्द सूफियों ने आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त किए हैं। लेकिन बच्चन द्वारा इसका लौकिक अर्थ ही ग्रहण किया गया।

"इस पार प्रिये हम हैं मधु है उस पार न जाने क्या होगा?"

हिन्दी में उमर के भोगवाद का सबसे अधिक प्रभाव बच्चन पर पड़ा। इसका कारण यह है कि उमर की भांति बच्चन ने भी आध्यात्म के प्रति सन्देहवादी दृष्टिकोण अपनाया है। जीवन में उन्हें कोई विश्वसनीय मंजिल दिखाई नहीं पड़ी। हताश होकर वे अपने संस्कारगत विश्वास खो बैठे। अतः उन्हें सर्वत्र अंधकार ही अंधकार दिखाई देने लगा –

"तेज का विश्वास था उर में कभी, अब तो अंधेरा,
आज तो सन्देह शंका ने लिया है डाल डेरा,
पथ बताये कौन, सब तो हैं भटकते भूलते से,
मच रहा है शोर, मत है ठीक मेरा, ठीक मेरा
हर दिशा की ओर बढ़ता, लौटता, फिर दौड़ता है,
है किधर मंजिल न पाया जान जीवन यान मेरा।"[70]

इस प्रकार पथभ्रष्ट होकर उन्होंने स्वर्ग और अमरता दोनों को ठुकरा दिया–

"अमरों ने अमृत दिखलाया
दिखलाया अपना अमर लोक।
ठुकराया मैंने दोनों को।"[71]

परिणामतः ईश्वर व स्वर्ग की सत्ता में विश्वास खोने के पश्चात् उन्हें आत्मा की अमरता में भी सन्देह होने लगा–

"मिट्टी का तन, मस्ती का मन, क्षण भर जीवन, मेरा परिचय।"[72]

इस प्रकार ईश्वर, परलोक, और मरने के बाद जीव के अस्तित्व को अस्वीकार कर उन्होंने 'देहात्मवाद' तथा इन्द्रियवाद को स्वीकार किया–

"तन भी क्षणभंगुर नौका पर चढ़कर, हे यामी तू आया,
तूने नाना विध नगरों को होगा जीवन तट पर पाया।
जड़ शुष्क उन्हें देखा होगा रक्षित सीमित प्राचीरों से,
इस नगरी में पाई होगी अपने उर की स्वपिनल छाया,
है शुष्क सत्य यदि उपयोगी तो सुखदायक है स्वप्न सरस,
सुख भी जीवन का अंश अमर, मत जग से डर, कुछ देर ठहर।
हे आज भरा जीवन मुझमें, है आज भरी मेरी गागर।"[73]

किन्तु इस क्षेत्र में भी इन्हें निराश ही होना पड़ा। उनकी वासना की तृप्ति यहां भी न हो सकी। अतः उन्होंने कहा–

'अल्पतम इच्छा यहां, मेरी बनी बन्दी पड़ी।
विश्व क्रीड़ा स्थल नहीं रे, विश्व कारागार मेरा।[74]

और यह ठंढी आह भरी कि :–

"विश्व पूरा कर सका है, कौन सा अरमान मेरा।"[75]

इस प्रकार उन्हें जीवन में सुख कणों के बदले दुःख के अश्रुकण ही हाथ लगे। ऐसी ही विकट परिस्थिति में बच्चन ने उमर के क्षणिक भोगवाद का आह्वान किया। जो उन्हें वास्तविक जीवन में न प्राप्त हो सका उसकी पूर्ति उन्होंने 'हाला' द्वारा करनी चाही। इसी से उन्होंने अपनी 'हाला' को जीवन, स्फूर्ति, उत्साह, प्रेम, सौन्दर्य वासना आदि का प्रतीक माना है। अतः उसे ही उमर की भाँति जीवन के अवसाद को विस्मृत करने के लिए पुकारा है।

"मैं कहाँ हूँ और वह, आदर्श मधुशाला कहां है।
विस्मरण दे जागरण के साथ, मधुबाला कहाँ है।"[76]

इस प्रकार बच्चन के 'हलावाद' का मूल उमर की भांति ही जीवन के 'हलाहल' में ही निहित हैं—

'मुझे आया है मधु का स्वाद, हलाहल पी लेने के बाद।'[77]

जीवन की क्षण भंगुरता, मृत्यु आदि को भुलाने के साधन रूप ही उन्होंने सुरा और साकी को अपनाया है—

"सुरा है जीवन का वह स्वप्न फड़कता देख जिसे संसार,
हलाहल जीवन का कटु सत्य जिसे छू करता हाहाकार।
अमृत है जीवन का आदर्श मगर पाता है उसको कौन?
और जो करता भी है प्राप्त साध वह लेता है व्रत मौन।"[78]

इस प्रकार बच्चन ने सुरा से डूबकर या मदिरा के सहारे अपने को, अपने दुख को एवं दुखद समय को अपने गम को भूल जाने की बात की है। हालावाद का कवि जगत और समाज से तटस्थ हो अपने अहं के संकीर्ण दायरे में डूबा हुआ था। विश्व से उसे कोई मतलब नहीं था। अपनी इस वेदना को भुलाने के लिए कवि ने असंख्य मधुमय गान गाये परन्तु समाज उसे स्वीकार न कर सका। निशा निमंत्रण में उन्हें साफ मालूम पड़ गया कि :—

"आज मुझसे दूर दुनिया।"

संसार ने उन्हें सहानुभूति नहीं दी और अन्त में संसार की जीत हुई, कवि हार गया, मिट गया।

"जय हो हे संसार तुम्हारी।
जहां झुके हम, वहां तनो तुम",
जहां मिटे हम, वहां बनो तुम,

तुम जीते उस ठौर
जहां पर हमने बाजी हारी।''

हालावादी काव्य व्यक्तिगत विद्रोह की करुण असफल परिणति है। यह व्यक्ति पर समाज की विजय थी। इसमें छायावादी कविता जैसा संकोच रहस्यात्मकता और आदर्शवादिता नहीं है, साहस के साथ सीधे साफ तौर पर अपने निजी प्रेम संवेग तथा सुख–दुःख को कहने की आकुलता है। छायावादी एवं व्यक्तिवादी कविता प्रायः मैं के माध्यम से अपना अनुभव कराती है, किन्तु छायावाद का मैं संकोच या मर्यादा के आतंक का अनुभव करने के कारण तीव्रता से आलोकित होने के स्थान पर मन्द–मन्द दीप्त होता है। जबकि व्यक्तिवादी गीत कविता का 'मैं' अपने समूचे राग विराग के साथ निर्व्याज भाव फूट चलता है।

बच्चन का परवर्ती काव्य, हालावादी तीन काव्य संग्रहों–मधुशाला, मधुबाला, और मधुकलश, में वर्णित पूर्ववर्ती भावों को निर्ममता पूर्वक छोड़कर यथार्थ की नयी दुनिया में प्रवेश किया। यद्यपि बच्चन अपने 'निशा निमंत्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर', 'मिलनयामिनी' प्रणय पत्रिका आदि काव्य संग्रहों के गीतों और कविताओं में यौवन और प्रेम के गीत गाते रहे थे, परन्तु इनमें उद्यम लालसा के स्थान पर विषाद का स्वर अधिक उभरने लगा था। परन्तु 'बंगाल का अकाल', 'सूत की माला', 'खादी के फूल', 'चार खेमें चौंसठ खूंट', आदि में उनका अहंवादी निरंकुश व्यक्तित्व अपनी वैयक्तिक परिधि को त्याग सामाजिकता के साथ समझौता करता दिखाई देता है।

''प्रार्थना मतकर, मतकर, मतकर
युद्ध क्षेत्र में दिखला भुजबल।
रहकर अविजित अविचल प्रतिपाल
मनुज पराजय के स्मारक हैं।
मठ मस्जिद गिरजाघर।''    (एकान्त संगीत)

यह बच्चन का परिवर्तित रूप है। लेकिन यह सत्य है कि बच्चन का यह परवर्ती समाज परक काव्य अपनी पूर्व मादक कला को खो, नीरस और गद्यमय सा बन गया है। बच्चन यद्यपि आज भी निरन्तर काव्य सृजन करते रहते हैं, परन्तु हिन्दी साहित्य में बच्चन केवल हालावादी साहित्य के लिए ही स्मरण किए जाते रहेंगे।

उमर खैय्याम के इस भोगवाद को बच्चन के अतिरिक्त भगवती चरण वर्मा, राम कुमार वर्मा, अंचल, सुमन आदि ने भी अपनाया है। खैय्याम की भांति भगवती चरण वर्मा भी जीवन की कटुता विषाद तथा क्षणिकता से भयभीत हो अपने प्रेयसी से कहते हैं–

"पीने दे–पीने दे यौवन की मदिरा का प्याला,
मत याद दिला कल की, कल है कल आने वाला।
है आज उमंगों का युग, तेरी मादक मधुशाला।
पीने दे जी भर रूपसि अपने पराग की हाला।"[79]

खैय्याम की तरह जीवन और जगत की परिवर्तनशीलता तथा अस्थिरता ही उनके भोगवाद का आधार है एवं मय एवं मयखाने की विस्मृति का आस्वाद भी इन्हें भरपूर मिला है–

"मधु छलक रहा था उर में मैं था सुख का दीवाना।
अलसाई सी आंखों में था झूल रहा मै खाना।
पागल सा खेल रहा था विस्मृत से मैं मनमाना।
हर रंग उमंग से पूरित हर राग यहां मस्ताना।"[80]

कवि की समझ में जिन्दगी सीमित है, प्रेम बैर धोखा है सब कुछ माया है, अतः भ्रमने का मार्ग ही सीधा है, इसी को उम्र को तमाशबीन में काटने तथा जीवन में छककर छानने की उसकी सलाह है :–

'जिन्दगी तुम्हारी है सीमित इतना सच है,
इससे जो कछ ज्यादा, वह सब तो लालच है।
दोस्त! उम्र काटने दो इस तमाश बीन में,
धोखा है प्रेम–बैर इसको तुम मत ठानो,
कड़वा या मीठा रस तो है छककर छानो,
चलने का अन्त नहीं, दिशा ज्ञान कच्चा है,
भ्रमने का मारग ही सीधा है, सच्चा है।"[81]

भगवती चरण वर्मा जी की गणना यद्यपि छायावादी कवियों में की जाती है, परन्तु उनकी अनेक कविताओं में प्रेम सौन्दर्य, यौवन आदि की उन्मुक्त मांसल अभिव्यक्ति मिलती है। उनके 'मधुकण' 'प्रेम संगीत' 'मानव' 'रंगों से मोह आदि काव्य संग्रहों में जीवन और जगत के साथ मस्ती भरी वैयक्तिक भावनाओं का भी अंकन हुआ है। जहाँ उन्होंने 'प्रेम संगीत' में हालावादी मस्ती भरे गीत

गाये हैं वहीं 'मानव' और 'रंगों से मोह' काव्य संग्रहों में मस्ती भरे वातावरण को त्याग यथार्थ की कटु कठोर भूमि पर उतर आयें हैं। 'भैंसागाड़ी' 'ट्राम' राजा साहब का वायुयान आदि कविताओं में यथार्थ जीवन के कटु तिक्त रूपों के विभिन्न चित्र अंकित किए हुए हैं।

शिवमंगल सिंह सुमन के अपने और पराये के ख्याल को भुलाकर मस्ती का राग अलापने का कारण, भी उमर की भांति जीवन की नश्वरता तथा प्रेम की पराजय ही है, जिस कारण ही वे मधुशाला और मौज के पथगामी बने–

> "हम मौज भरे गाने गाते, दो दिन इठलाते, इतराते।
> अपनी नन्हीं मधुशाला में, इस पथ आते उस पथ जाते
> हम किसका–किसका साथ करें सब ही चल देने वाले हैं।
> हम बड़े विकट मतवाले हैं।"[82]

इसी प्रकार राम कुमार वर्मा ने भी संयोग सुख को ही सुख की राका का मनोरम काल माना है–

> "सुख की राका का केवल है एक मनोरम काल,
> आओ प्रेयसि, बैठो यह है प्रेम मिलन की डाल।[83]

वैसे महादेवी वर्मा आत्मानन्द की कवियित्री हैं, किन्तु उमर अथवा फारसी कविता के प्रभाव से उन्होंने अपने प्रियतम को, प्याला, हाला, मधुशाला तथा साकी के रूप में स्मरण किया है–

> "तेरा अधर विचुम्बित प्याला, तेरी ही स्मित मिश्रित हाला,
> तेरा ही मानस मधुशाला, फिर पूंछूं क्या मेरे साकी
> देते हो मधुमय विषमय क्या?"[84]

अन्तर केवल इतना ही है कि इन्होंने उमर के प्रतिकूल सुरा के प्याले के स्थान पर विपुल वेदना के प्याले की आकांक्षा अथवा अभिलाषा प्रकट की है–

> 'जीवन है उन्माद तभी से निधियां प्राणों के छाले,
> मांग रहा है विपुल वेदना, के मन प्याले पर प्याले।'[85]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी छायावादी व छायावादोत्तर कविता पर उमर के नियतिवाद तथा भोगवाद का प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप में पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, किन्तु भारतीय आध्यात्मवादी चिन्तन धारा में भोगवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः चार्वाक दर्शन की भांति ही हिन्दी में इस हालावाद अथवा भोगवाद का तीव्र विरोध

हुआ जिससे यह धारा बहुत दिनों तक टिक न सकी। यहां तक कि उसके प्रवर्तक बच्चन की विचारधारा में भी आगे चलकर पर्याप्त परिवर्तन हुआ, और वे जगत व जीवन को आशावादी दृष्टि से देखने लगे। सतरंगिनी में उनके इस परिवर्तित दृष्टिकोण का सुन्दर चयन हुआ हैं–

> "दुनिया यह स्वर्ग बेलि, दुनिया यह स्वर्ग बीज।
> अश्रु स्वेद लोहू से जिसको जब सींच–सींच।
> मनुज बढ़ा लेता है, अमृत फल देता है।"[86]

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' हिन्दी में मांसलवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। 'मधूलिका' 'अपराजिता', 'किरण बेला', 'करील', 'लाल चूनर', 'बिराम चिन्ह' आदि इनके विभिन्न काव्य संग्रह हैं। अंचल मूलतः प्रेम यौवन और सौन्दर्य के कवि रहे हैं। उनकी अनेक कविताओं में उद्याम काम भावना की उन्मुक्त अभिव्यक्ति मिलती है।

> "आज सोहाग हरूँ मैं किसका, लूटूँ किसका यौवन?
> किस परदेशी को बन्दी कर, सफल करूँ यह वेदन?"[87]

अंचल के काव्य का एक दूसरा पक्ष भी है, जिसमें जनता के दुःख–दर्द और अनेक समस्याओं का मार्मिक अंकन किया गया है–

> "देवत्व वधा जाता जग में, होती पापों की मनचीती।
> जो ताप धरा के धोते हैं, दुनिया उनका लोहू पीति।।"

ऐसी ही कविताओं के कारण अंचल की गणना प्रगतिवादी कवियों में की जाने लगी थी।

गोपाल सिंह नेपाली के प्रारम्भिक गीत में प्रकृति के मार्मिक एवं सीधे साधे चित्रों से सम्पन्न प्रेम संवेगों का अपना अलग ही वैशिष्ट है। पंछी', उमंग', 'रागिनी', 'पंचमी', 'रिमझिम', नवीन आदि उनकी काव्य कृतियां हैं।

आर. सी. प्रसाद सिंह में छायावादोत्तर गीत कविता की सभी प्रवृत्तियां दिखाई पड़ती है। इनकी कविता के केन्द्र में नारी है। 'कलापी' 'संचयिता' 'जीवन और यौवन' 'पांच जन्य' और प्रेमगीत इनकी काव्य कृतियां हैं।

शंभू नाथ सिंह एवं नरेन्द्र शर्मा का नाम भी व्यक्तिवादी कविता की धारा में लिया जा सकता है, शंभूनाथ सिंह की रूप रश्मि, छायालोक उदयाचल और दिवालोक आदि रचनायें छायावादोत्तर व्यक्तिवादी गीति कविता से प्रभावित हैं।

# सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास : पृ० 286 से उद्धृत।

2. वही, पृ० 286।

3. वही–पृ० 286।

4. डॉ० मोहन अवस्थी अद्यतन इतिहास, पृ० 286।

5. डॉ० नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास।

6. महादेवी वर्मा : प्रो0 मोहन अवस्थी, हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृष्ठ–288 से उद्धृत।

7. वही, पृ० 289 ।

8. निराला : सरोज स्मृति : राग विराग, पृष्ठ 91

9. निराला : सरोज स्मृति राग विराग, पृष्ठ 80

10. निराला : प्रेयसी शीर्षक कविता से।

11. जयशंकर प्रसाद : कामायनी।

12. पंत : हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास : राजनाथ शर्मा से उद्धृत।

13. निराला : सरोज स्मृति : राग विराग, पृ० 90

14. प्रसाद : राजनाथ शर्मा, हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास से उद्धृत।

15. निराला : जागो फिर एक बार 2' राग विराग, पृ० 58।

16. महादेवी वर्मा।

17. पंत बलराम तिवारी से उद्धृत।

18. प्रसाद : कामायनी से उद्धृत।

19. पंत युगवणी से उद्धृत।

20. निराला : जूही की कली : राग विराग, पृ० 48 ।

21. देखिए आधुनिक कविता का मूल्यांकन : इन्द्र नाथ मदान, पृ० 232 ।

22. आधुनिक हिन्दी काव्य : डॉ० कमला कान्त पाठक : पृ० 139 ।

23. निराला का परवर्ती काव्य : रमेश चन्द्र मेहरा।

24. निराला : परिमल : 'भिक्षुक' कविता, पृ० 133

25. निराला : परिमलः विधवा कविता से।

26. निराला : परिमल : बादल राग (छ) राग विराग संपादित। राम विलाश शर्मा, पृष्ठ 56 (संस्करण 1997)

27. कुकुरमुत्ता 9 राम विराग, पृ० 145 ।

28. अणिमा : निराला : राग विराग, पृ० 131 ।

29. निराला काव्य और व्यक्तित्वः धनंजय वर्मा, पृ० 199।

30. निराला : नये पत्ते पृ० 24।

31. आधुनिक हिन्दी काव्य : डॉ० कमलाकान्त पाठक, पृ० 138।

32. तोड़ती पत्थर : निराला : अनामिका : राग विराग, पृ० 199 ।

33. बेला, पृ० 87 ।

34. बेला, पृ० 70 ।

35. अणिमा, पृ० 103 ।

36. निराला नये पत्ते, पृ० 18 ।

37. पंत युग पथ युगान्त पृ० 11 ।

38. युगपथ; युगान्त : श्री पंत, पृ० 12 ।

39. हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : प्रकाश चन्द्र गुप्त : पृ० 146।

40. युगवाणी : पृ० 44।

41. युगवाणी, पृ० 45 ।

42. मैं और मेरी कला : सुमित्रा नंदन पंत : शचीरानी मुर्टू, पृ० 7 से उमेश चन्द्र मिश्र : प्रगतिवादी काव्य, पृ० 100 ।

43. युगवाणी : पंत : पृ० 49।

44. ग्राम्या : पृ० 27।

45. युगपथ, पृ० 30

46. युगवाणी, पृ० 44

47. युगवाणी, पृ० 47 ।

48. श्री सुमित्रा नंदन पंत : डॉ0 नगेन्द्र, पृ० 142।

49. V.P. Verma Modern Indian Political Thought, 195, Page-239 उद्धृत श्री अरविन्द : सामाजिक विचारधारा : रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, विवेक प्रकाशन नई दिल्ली, पृ० 503 (1998–99) नवम संस्करण।

50. पंत : कला, काव्य और दर्शन–गोपाल दास नीरज, पृ० 155 ।

51. श्री अरविन्दो : The Life Divine Val. I Page-30 : उद्धृत रवीन्द्र नाथ मुखजी, पृ० 507 ।

52. पंत और अरविन्द दर्शन : गोपाल दास नीरज, पृ० 159 ।

53. पंत : उत्तरा प्रस्तावना, पृ० 18 ।

54. पतः उत्तराः प्रथम संस्करण, प्रस्तावना, पृ० 18 ।

55. पंत युगवाणी–1939, पृ० 54 ।

56. पंत युगवाणी–1939, पृ० 13 ।

57. पंत युगवाणी–1939, पृ० 42 ।

58. पंत युगवाणी–1939, पृ० 76 ।

59. पंत युगवाणी–1939, पृ० 44 ।

60. उत्तरा प्रथम संस्करण, पृ० 88 ।

61. पंत उत्तरा प्रथम संस्करण, पृ० 75 ।

62. पंत युगवाणी–प्रथम संस्करण, पृ० 45 ।

63. पंत युगवाणी प्रथम संस्करण, पृ० 175 ।

64. पंत युगवाणी प्रथम संस्करण, पृ० 12 ।

65. पंत युगवाणी प्रथम संस्करण, पृ० 173 ।

66. पंत : स्वर्ण किरण : प्रथम संस्करण, पृ० 46 ।

67. पंत : स्वर्ण किरण : प्रथम संस्करण, पृ० 47 ।

68. पंत युगवाणी प्रथम संस्करण, पृ० 82–83 ।

69. पंत युगवाणी प्रथम संस्करण, पृ० 76 ।

70. बच्चन : मधुकलश : पांचवां संस्करण, पृ० 30 ।

71. बच्चन, मधुबाला, पृ० 38 ।

72. बच्चन, मधुबाला, पृ० 38 ।

73. मधुकलश, पृ० 10 ।

74. मधुकलश, पृ० 18 ।

75. बच्चन मधुकलश, पृ० 27 ।

76. बच्चन, मधुकलश, पृ० 53 ।

77. बच्चन, हलाहल, पृ० 50 ।

78. बच्चन, हलाहल, पृ० 89 ।

79. भगवती चरण वर्मा : मधुकरण, पृ० 25 ।

80. भगवती चरण वर्मा, मधुकण, पृ० 27–28 ।

81. अमृत लाल नागर, आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि, भगवती चरण वर्मा–पृ०–39 (उद्धृत डॉ० हरिनारायण सिंह, छायावाद : काव्य तथा दर्शन–1994), पृ० 443।

82. सुमन : हिल्लोल, पृ० 99 ।

83. राम कुमारवर्मा : रूपराशि, द्वितीय संस्करण, पृ० 30 ।

84. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि (1) चतुर्थ संस्करण, पृ० 56 ।

85. वही, पृ० 2 ।

86. बच्चन सतरंगिनी दूसरा संस्करण–1948, पृ० 143 ।

87. रामेश्वर शुक्ल अंचल – राज नाथ शर्मा–हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास पृ० 621 से उद्धृत ।

## द्वितीय-अध्याय

# प्रगतिवाद

# प्रगतिवाद

## (अ) प्रगतिवाद का स्वरूप एवं विशेषताएँ :

### (क) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रगतिवादी काव्य की संज्ञा उस काव्य को दी गयी जो छायावाद के समाप्ति काल में 1936 ई० के आस–पास सामाजिक चेतना को लेकर निर्मित होना आरम्भ हुआ था। यह नाम उस काव्यधारा का है जो मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में सामाजिक चेतना और भावबोध को अपना लक्ष्य बनाकर चली।

यद्यपि प्रगतिवाद का जनक मार्क्सवाद है, तो हिन्दी में प्रगतिवाद का जन्म उन्नीसवीं सदी में ही हो जाना चाहिए था, क्योंकि उस समय योरोप में मार्क्सवाद की धूम मची हुई थी और भारतीय लोग योरोप के सम्पर्क में अच्छी तरह से आ चुके थे। लेकिन वास्तविकता यह है कि हिन्दी में प्रगतिवाद का जन्म 1930 ई० के बाद हुआ। इसका स्पष्ट अर्थ है कि प्रगतिवाद हिन्दी में अपने उचित समय पर आया। जब हिन्दी जाति और साहित्य की जमीन उसके अनुकूल तैयार हो गई थी।

1935–36 ई० तक भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर आशा की एक नई किरण जागी। गाँधीवादी समझौतों के युग का अन्त एवं कांग्रेस का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। कांग्रेस में दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का संघर्ष प्रारम्भ हो गया था, एक का नेतृत्व नेता सुभाषचन्द्र बोस आदि करते थे जो कि कांग्रेस के पुराने नेतृत्व गाँधी, पटेल आदि की समझौतावादी नैतिकता परक राजनीति का विरोध कर समाजवादी विचारधारा का प्रबल समर्थन कर रहा था। पं० जवाहर लाल नेहरू इन दोनों वर्गों के बीच मिलन सेतु का कार्य कर रहे थे। कांग्रेस की युवा पीढ़ी को पूंजीपतियों का बढ़ता हुआ प्रभाव स्वीकार नहीं था, वह जनान्दोलन को व्यापक रूप प्रदान कर स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ने का हामी था। कांग्रेस का युवक वर्ग गाँधीवादी अहिंसा का विरोध कर सशस्त्र संघर्ष द्वारा देश को आजाद कराने का नारा लगाने लगा, उसे कांग्रेस पर देशी पूंजीपतियों का बढ़ता हुआ प्रभाव स्वीकार नहीं था। विचारधाराओं की इस टकराहट के परिणाम स्वरूप देश में एक नई समाजवादी जन चेतना का प्रसार हो रहा था।

कांग्रेस का नेतृत्व अभी भी गाँधी जी एवं उनके समर्थकों के हाथों में था फलतः इसने नये युवक वर्ग का विरोध किया जिसका परिणाम सुभाष बाबू को कांग्रेस से त्यागपत्र दे, अलग हो जाना पड़ा। विचारधाराओं के इसी संघर्ष का परिणाम आगे चलकर विदेश में 'आजाद हिन्द फौज' का जन्म और 1942 ई० का उग्र जनान्दोलन था। 1946 ई० का नाविक विद्रोह और आजाद हिन्द फौज पर मुकदमा इसी के परिणाम थे। अतः कहना चाहिए कि 1935–40 ई० से देश में गाँधीवादी विचारधारा का प्रभाव क्षीर्ण और समाजवादी विचारधारा का प्रभाव प्रबल होना आरम्भ हो गया था और देश को कुछ नवीन अन्तर्राष्ट्रीय विषम परिस्थितियों और उग्र समाजवादी विचारधारा के कारण ही सन 1947 ई० में स्वतन्त्रता मिली थी। आजादी मिलने के समय कांग्रेस का नेतृत्व गाँधीवादी नेताओं के हाथ में रहा था। यद्यपि कि गाँधी जी देश के विभाजन के सख्त खिलाफ थे लेकिन इन्हीं गाँधीवादी नेताओं ने गाँधीजी के समझौतावादी नीति का अनुसरण करते हुए देश का विभाजन स्वीकार कर लिया। देश के नये कर्णधार अंग्रेजों की पुरानी साम्राज्यवादी नीति और पद्धति के देशी संस्करण बन स्वतन्त्र भारत में उसी पुरानी, विदेशी शासन प्रणाली, अर्थनीति, शिक्षा नीति आदि को यथावत कायम रखने में जी जान से जुटे हुए थे। इस समय देश की राजनीति में गाँधी युग पूर्णतः समाप्त हो चुका था, इन परिस्थितियों में गाँधी जी ने निराश एवं हताश होकर अपनी सांध्यकालीन प्रार्थनाओं में उपदेश देना आरम्भ कर दिया था।

सत्ता प्राप्त नव कर्णधारों ने कांग्रेस के समाजवादी वर्ग पर प्रहार व दमन करना आरम्भ कर दिया था, जिसके कारण स्वतन्त्रता के एक वर्ष पश्चात् ही सन् 1948 ई० में समाजवादी कांग्रेसी कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने प्रथक समाजवादी दल बनाया।

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का आर्विभाव सन् 1935 ई० से लेकर 1947 ई० के मध्य की इन्हीं राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में हुआ था। इसके अतिरिक्त अनेक विदेशी जनान्दोलनों और विचारधाराओं का भी प्रगतिवाद के जन्म एवं विकास में पर्याप्त योगदान रहा था। योरोप में साम्राज्यवादी पूंजीवादी और समाजवादी विचारधाराओं का संघर्ष चल रहा था। स्पेन का गृहयुद्ध, फ्रांस, जर्मनी और इटली में हुए समाजवादी आन्दोलन और उनका दमन इसका प्रमाण है। तत्कालीन भारत इन विचारधाराओं के प्रभाव से बच

नहीं सका। इसलिए साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि समाजवादी विचारधारा का प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में निरन्तर बढ़ता जा रहा था, और हिन्दी के अनेक उदीयमान लेखकों विचारकों, कवियों आदि ने साहित्य के माध्यम से इस विचारधारा का अंकन आरम्भ कर दिया था।निराला आदि अनेक पुराने कवियों के काव्य में यह जनवादी स्वर बहुत पहले से उभरना प्रारम्भ हो गया था। गद्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द्र जैसे कथाकार में यह स्वर 1920 ई० के आस–पास (प्रेमाश्रय) से ही उभरता चला आ रहा था। परन्तु सन् 1935 ई० तक इस स्वर का कोई एक स्पष्ट, सामूहिक जनवादी रूप नहीं बन पाया था। साहित्यकारों की भावनाएँ जनवादी तो थी परन्तु वे ये नहीं जानते थे कि अत्याचारों से पीड़ित जनता को कैसे मुक्ति दिला कर एक ऐसे समाज की स्थापना करें जो शोषण मुक्त एवं भयमुक्त हो।

प्रगतिवाद ने एक सशक्त वैज्ञानिक, सुस्पष्ट, व्यावहारिक विचारधारा के रूप में सामने आकर जनवादी कलाकारों की इस दुविधा को दूर कर उन्हें एक निश्चित पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान किया। छायावाद अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण के कारण व्यष्टिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षाा में अनुत्तीर्ण रहा था। पंत के अनुसार, "छायावाद के शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली, अथवा रहस्य के निर्जन अदृश्य शिखर पर विश्राम करने वाली कल्पना को जन जीवन का यथार्थ चित्र अंकित करने के लिए एक हरी–भरी ठोस जन पूर्ण धरती की आवश्यकता थी। क्योंकि यह नये युग की मांग थी इसलिए प्रगतिवाद ने इस मांग को पूरा करने का बीड़ा उठाया और वह छायावाद के व्यष्टिगत दृष्टिकोण का विरोध कर समष्टिगत चेतना से अनुप्राणित हो हिन्दी साहित्य को पूर्णतः जन जीवन के साथ ला मिलाया। छायावाद के रोमानी परिवेश में आंखे बन्द किए सोई हुई काव्य मेधा को प्रगतिवाद ने 'रोटी का राग, और 'क्रान्ति की आग' लेकर झकझोर कर एक नवीन समस्या, एक नवीन चेतना नग्न वास्तविकता का आलोक दिखाया। उसने छायावादी अति सूक्ष्म काल्पनिक भावनाओं का विरोध कर उसे स्थूल जगत की कठोर वास्तविकता के सामने ला खड़ा किया।

प्रगतिवादी चेतना के उग्र जनवादी स्वरूप को देख साहित्य के रूढ़िवादी आदर्शवादी कर्णधार उसी प्रकार भौचक्के रह गये जिस प्रकार छायावाद के नए

रूप को देखकर चौंके थे। छायावाद यदि इस सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उपज था तो प्रगतिवाद राजनीतिक जागरण की। दोनों की प्रकृति में अन्तर होने का यही मूल कारण है। प्रगतिवादी चेतना बुद्धिजीवियों, नव युवा साहित्यकारों और समाजवादी विचारों के समर्थकों सभी को प्रभावित कर रही थी। इसके मूल में समष्टि रूप से दो प्रभाव कार्य कर रहे थे। पहला प्रभाव उस विचारधारा का था जो सब प्रकार के शोषण और अत्याचार का विरोध कर एक समाजवादी समाज की स्थापना का स्वप्न देख रही थी, यह एक बौद्धिक सहानुभूति मात्र थी, उसे साकार करने की कोई निश्चित, वैज्ञानिक, चिन्तन और कार्य पद्धति इसके पास नहीं थी। दूसरा प्रभाव उस विचारधारा का था जो साम्यवादी थी, जिसके पास इन सम्पूर्ण समस्याओं का हल और एक सुनियोजित वैज्ञानिक कार्य प्रणाली थी। वस्तुतः प्रगतिवादी साहित्य इसी विचारधारा की उपज था।

कुछ आलोचकों ने इस साम्यवादी विचारधारा को विदेशी मानकर इसका विरोध किया था। उनके अनुसार यह विचारधारा भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। दूसरे इसमें नास्तिकता और हिंसा का स्वर अत्यधिक प्रबल था। इसलिए धर्माश्रित गाँधीवादी अहिंसा के साथ उसका मेल नहीं बैठता था। अतः पुराने रूढ़िपंथी साहित्यकार, जो प्रधानतः गाँधीवादी थे। चूंकि तत्कालीन राजनीतिक परिवेश में गाँधीवादी प्रभाव क्षीर्ण पड़ रहा था और उनकी समझौतावादी अहिंसात्मक नीति असफल सिद्ध हो चुकी थी। फलतः देश की नई पीढ़ी ने साम्यवादी विचारधारा का उन्मुक्त हृदय से स्वागत किया। यह विचारधारा एक नवीन एवं युगानुरूप उत्साह लेकर आयी थी। इसने भारतीयों के मन में वर्षों से व्याप्त असन्तोष एवं विद्रोह की भावना को और अधिक उभारकर उनके सम्मुख एक निश्चित कार्य पद्धति प्रस्तुत की थी। आज भारत के अनिगिनत लेखकों एवं पाठकों ने प्रगतिशील साहित्य को अपना कर इसकी भारतीयता प्रमाणित कर दी है और इस तरह उन्होंने तमाम विरोधी आलोचकों को मुंहतोड़ जवाब दिया है।

## (ख) प्रगतिवाद का मूल सिद्धान्त

असमान वितरण, व सभी प्रकार के शोषण का उन्मूलन ही प्रगतिवाद का मूल उद्देश्य है और लक्ष्य ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम द्वारा उसके लिए जीवन की मूलभूत सामान्य सुख

सुविधाएं जुटाने के अवसर की स्वतन्त्रता हो और व्यक्ति के श्रम का शोषण किसी अन्य व्यक्ति द्वारा न किय जा सके। साम्राज्यवाद, सामन्तशाही, जमींदारी प्रथा, चूंकि जनसामान्य के अबाध शोषण पर आधारित थे इसलिए प्रगतिवाद ने इनका विरोध मुखर स्वर में किया। तथाकथित धर्म के ठेकेदार महन्त, पंडे, पुजारी आदि ईश्वर के नाम पर राजाओं व जमींदारों के प्रति स्वामी भक्ति का प्रचार कर, धूर्ततापूर्ण ढंग से अपने स्वार्थ के निमित्त धर्म की व्याख्या कर शोषण का माध्यम बने हुए थे। इसी कारण प्रगतिवाद धर्म, ईश्वर, पर लोक, भाग्यवाद आदि का विरोध कर समाज को इनके धूर्तता का परिचय देता हुआ जनता को सावधान करता रहता था।

प्रगतिवाद किसान, मजदूरों की एकता व संगठन का प्रबल समर्थक और पूंजीपति मिल मालिकों साहूकारों आदि का उग्र विरोधी था। सरकार के समर्थ व सहायता तथा स्वदेशी आन्दोलन ने पूंजीपतियों के समृद्धि व विकास में ऐतिहाकिस योगदान प्रदान किया था। प्रगतिवाद का मूल लक्ष्य समस्त शोषित जनता का संगठन कर विभिनन हथकण्डों द्वारा होने वाले शोषण का अन्त कर देना था। प्रगतिवाद के इस जनवादी स्वरूप से समाज का धनी, सम्पन्न शोषक वर्ग आतंकित हो उठा था। उस समय प्रगतिवाद के दो रूप सामने आये राजनीतिक और साहित्यिक। राजनीतिक क्षेत्र में क्रियाशील भारतीय साम्यवादी दल का विरोध विदेशी साम्राज्यवादी व देशी पूंजीपतियों के समर्थक राजनीतिज्ञ कर रहे थे। साहित्यिक क्षेत्र में पूंजीपति अपने धन के बल पर साहित्य एवं उसके प्रकाशन पर हावी हो उसका विरोध कर रहे थे। परन्तु पूंजी और शासन की यह सम्मिलित शक्ति भी प्रगतिवाद का समर्थ और सफल विरोध करने में असफल रहीं थी और प्रगतिवाद तीव्रगति से जन सामान्य में लोकप्रिय होता चला जा रहा था।

## (ग) प्रगतिवाद के मूल तत्व

(1) यह जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

(2) इसके लिए वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विश्लेषण कर धन को ही सम्पूर्ण विषमताओं का मूल कारण मान समाज में उसके समान विभाजन पर बल देता है।

(3) इसका दृष्टिकोण पूर्णतः भौतिकवादी है, इसलिए यह किसी भी प्रकार की, अदृश्य शक्ति, ईश्वर, परलोक कर्मवाद, आत्म की अमरता आदि में विश्वास नहीं करता है। क्योंकि ये उच्च वर्गों द्वारा निम्न वर्गों के शोषण के प्रमुख साधन रहे हैं।

(4) इसका उद्देश्य पूंजीवाद, साम्राज्यवाद एवं सामन्तवाद का अन्त कर ऐसे समता मूलक समाज की स्थापना करना है, जिसमें सभी को उन्नति के स्वतन्त्र एवं समान अवसर उपलब्ध हों।

(5) यह कला को कला के लिए न मान उसे जीवन के लिए मानता है।

(6) यह साहित्य में व्यक्ति के ऊपर समाज की सत्ता का अंकुश चाहता है। यह प्रगतिवाद की मोटी रूप रेखा मानी जा सकती है।

इन सबके मूल में पूंजीवाद का विरोध एवं वर्ग संघर्ष की भावना ही निहित थी जिसका कि प्रगतिवादी साहित्य में प्रेमचन्द्र, निराला, आदि में सर्व प्रथम प्रभाव देखा जा सकता है।

## (घ) हिन्दी में प्रगतिवाद

संगठित रूप में हिन्दी में प्रगतिवाद का आरम्भ 'प्रगतिशील लेख संघ' द्वारा 1936 ई० में आयोजित उस अधिवेशन से होता है जिसकी अध्यक्षता प्रेमचन्द्र जी ने की थी। 1935 ई० में ई० एम० फोस्टर ने 'प्रोगेसिव राइटर्स एसोसिएशन' नामक एक संस्था की नींव रखी थी। इसी की देखा–देखी सज्जाद जहीर और डॉ० मुल्कराज आनन्द ने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की थी। किन्तु प्रगतिवाद का वास्तविक प्रस्थान विन्दु 1930 ई० है। इस सन्दर्भ में जागरण 'हंस' युवक' कर्मवरी 'सुधा' 'प्रभाव' आदि पत्रिकाओं के प्रकाशन तथा उसमें प्रकाशित रचना के भीतर निहित राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा सामाजिक क्रान्ति के विचारधाराओं के अनेक हवाले दिए जा सकते हैं। सन् 1930 ई० के बाद ही साहित्य में यथार्थवादी रूझानों का आरम्भ होता है। प्रेमचन्द्र का मोह भंग हो चुका था वे 'गोदान' 'पूस की रात' एवं 'कफन' जैसी रचनाएं दे रहे थे। निराला 'चतुरी चमार' एवं कुल्ली भाट जैसे रेखाचित्र तथा

उद्बोधन, वन बेला, एक कुकुरमुत्ता जैसी कविताएँ लिख रहे थे और पंत युगान्त', 'युगवाणी' और ग्राम्या के माध्यम से धरती पर उतर आये थे।

"गा कोकिल, बरसा पावक कण,
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन"—पंत

का नारा बुलंद करते हुए घोषित किया था—

"साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण[1]

जिस तरह कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि छायावाद की विशेषता है और अन्तर्मुखी बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद की उसी तरह सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को अपना लक्ष्य मानकर चलता है। इस क्रम में वह शोषण और शोषक में कोई फर्क नहीं मानता वह शोषक के प्रति उत्कट घृणा की भावना को सक्रिय रूप देकर उत्कट प्रतिरोध में बदल देता है। यह घृणा मुट्ठी भर शोषकों के विरूद्ध बहुसंख्यक आवाम के हित से जुड़ी होती है। इसलिए डॉ० नगेन्द्र मानते हैं कि 'प्रगतिवाद साम्यवाद की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है' भगवती चरण वर्मा भी इसे एक राजनीतिकवाद के रूप में स्वीकार करते हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था में सामाजिक यथार्थ विषमता मूलक यथार्थ ही होता है। रचनाकार विषमता की खाई को पाटने के लिए कामगार वर्ग के मुक्ति की हिमायत करता है। वह यह भी मानता है कि कामगार तबका कच्चा लोहा है। जिसे राजनीतिक प्रशिक्षण की आग में तपाकर अभिजात्य वर्ग के खिलाफ अनुकूल प्रतिरोध के योग्य बनाया जा सकता है।

"मार हथौड़ा कर—कर चोट,
लाल हुए काले लोहे को जैसा चाहे वैसा मोड़"[2]

शुरू से ही छायावाद के निराला, पंत, प्रसाद, और महादेवी के काव्य में मुक्ति का एक स्वर विद्यमान है। यही स्वर आगे वैज्ञानिक दृष्टि से युक्त होकर जनमुक्ति की धारणा में परिवर्तित हो गया। गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही: एवं नवीन आदि के राष्ट्रीय जागरण एवं छायावादी विद्रोही भावना के विकास के रूप में ही बच्चन, भगवती चरण वर्मा आदि के काव्य को समझा जा सकता है। इनके काव्य को भले ही प्रगतिवादी न कहा जाये किन्तु उनमें मजदूर, किसान जनता के प्रति बाहरी सहानुभूति, रूढ़ियों के प्रति उपेक्षा और विरोध तो है ही।

हिन्दी कविता में 'प्रगतिवाद के लिए 1936 ई० में एक ठोस भूमि तैयार हो चुकी थी। इसी व्यापक और मजबूत परम्परा को आधार बनाकर जनता के संघर्षों को वाणी देने वाली वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लैस प्रगतिवादी परम्परा की शुरूआत हुई। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, राम विलाश शर्मा, शील 'सुमन' गिरजा कुमार माथुर, त्रिलोचन, शमशेर, मुक्ति बोध, नरेन्द्र शर्मा, भारत भूषण अग्रवाल आदि कवियों के काव्य परम्परा की परख को इसी परिप्रेक्ष्य में आंका जा सकता है। इनके काव्य में जीवन के यथार्थ का चित्रण, उसमें वर्ग चेतना के प्रसार की चेष्टा तथा उसके भौतिक और सांस्कृति जीवन को ऊपर उठाने का भरसक प्रयास था। इन कवियों ने कविता को एक नई जनवादी शैली प्रदान की। यद्यपि नरेन्द्र शर्मा, गिरजा कुमार माथुर आदि कुछ कवियों में 1947 ई० के बाद भटकाव भी आये लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा उनकी कविताओं में प्रगतिवादी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट एवं निर्णायक है।

1936 से 46 ई० के बीच प्रगतिवाद के क्षेत्र में राष्ट्रवादी, जनवादी, एवं समाजवादी लेखकों का एक व्यापक मोर्चा बन चुका था। इसका कारण यह था कि सन् 1930 ई० से सन् 46 ई० तक हिन्दी के यथार्थवादी साहित्य का मुख्य सन्दर्भ साम्राज्यवाद विरोधी जन आन्दोलन था। राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा सामाजिक बराबरी को सिद्धान्त रूप में राष्ट्रवादी, जनवादी, एवं समाजवादी तीनों प्रकार के दृष्टिकोण वाले लेखक मानते थे। सन् 1942 ई० के बाद प्रगतिशील आन्दोलन से राष्ट्रवादी लेखक अलग हटने लगे। प्रगतिवाद के दूसरे चरण अर्थात् 1951 ई० के बाद लेखकों का एक वर्ग पीड़ित जनता की जातीय संस्कृति से जुड़कर प्रेम चन्द्र, निराला की चेतना को आगे बढ़ा रहा था। इस दौरान एक दूसरा वर्ग भी था जो प्रगतिवाद की आड़ में बुर्जुआ संस्कृति का पोषण कर रहा था।

छायावादी कवि अन्तरिक्ष व्यापी प्रकृति या पर्वतीय प्रकृति की टोह में रहते थे। जबकि प्रगतिवादी कवि ग्राम्य प्रकृति पर अपना स्नेह लुटाते हैं। वे मानवीय उल्लास और स्पन्दन को खेतों की उपयोगी प्रकृति पर बिखेर कर उसे चेतन बना देते हैं। इसी कारण उनकी कविता जीवन्त जनपदीय संस्कृति और कृषक चेतना के साथ उपस्थित हुई है। फसलों का ऐसा गतिशील एवं मुंह बोलता चित्र अन्यत्र नहीं मिलता है। सरसों की उमंग का एकचित्र हैं—

"और सरसों की न पूंछो हो गयी सबसे सयानी,
हाथ पीले कर लिये हैं, व्याह मण्डप में पधारी,
फाग गाता मास फागुन आ गया है आज जैसे"[3]

ग्राम प्रकृति से छेड़छाड़ करती हुई बसंती हवा का चित्र तो केदार नाथ अग्रवाल ने और भी निराला खींचा है। किसान जीवन से जुड़ी हुई प्रकृति उनका प्रिय काव्य विषय है। त्रिलोचन और नागार्जुन ने बादल और वर्षा पर जमकर लिखा है तो केदार नाथ अग्रवाल ने सूरज और धूप पर। इनकी कविता में सूरज श्रमिक उर्जा का प्रतीक है। उनकी प्रकृति मोहक ही नहीं प्रतिरोध मूलक भी है।

"लाखों की अगणित संख्या में ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है,
ताकत को मुट्ठी बांधे हैं, नोकीले भाले ताने हैं,
हिम्मत वाली लाल फौज सा, मरमिटने को झूम रहा है।"[4]

प्रगतिवाद छायावाद के कलावादी सौन्दर्यवादी प्रतिमानों के विरूद्ध जीवन में ही सौन्दर्य देखने का प्रयास करता है। अपनी कला चेतना को जगाना और उसकी मदद से जीवन की सच्चाई और सौन्दर्य को अपनी कला में सजीव से सजीव रूप देते जाना ही प्रगतिवाद साधना का लक्ष्य है। प्रगति चेतना कला विरोधी चेतना नहीं है बल्कि वह जीवन में कला की सार्थकता ढूँढ़ने वाली चेतना है यथा—

"घिर गया है समय का रथ कहीं।
लालिमा से मढ़ गया है राग, भावना की तुंग लहरें,
पंथ अपना अंत अपना जान, खोजती हैं मुक्ति के उद्‌गार।"[5]

प्रगतिवादी कला के संघर्ष को समाज के संघर्ष से भिन्न नहीं मानते। शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, गोरा बादल एवं नागार्जुन की कविताओं में सामाजिक सच्चाई एवं समाजवादी शक्तियां खुलकर बोलती है। नागार्जुन की कविता में तो लोक भावों का मंजकर निखरता हुआ स्वर हैं। जो लोग प्रगतिवादी साहित्य की कलात्मकता पर सन्देह करते हैं उन्हें नागार्जुन की निम्नलिखित पंक्तियों को सामने रखकर स्वयं को परखना चाहिए।

"जली ढूँठ पर बैठकर गई कोकिला कूक
बाल न बांका कर सकी शासन की बन्दूक।"[6]

प्रगतिवादी कविता लोभ और लाभ पर आधारित व्यवस्था की असली सच्चाई को खोलती है। जनपद के दिल की धड़कन, चाहे गांव के पाठशाले का चित्र हो, चाहे आकाल का जहां कहीं भी उसे सुनाई देती है वहां कविता संवेदना के स्तर पर पहुंचकर यथार्थ का जीवन्त चित्र प्रस्तुत करती है एवं साथ ही साथ व्यवस्था पर भी चोट करने से नहीं चूकती है।

> "घुन खाये शहतीरों पर, बाहर खड़ी विधाता बांचे।
> फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिस्तुइया नाचे।
> बरसा कर बेबस बच्चों पर मिनट–मिनट में पांच तमाचे,
> इसी तरह दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के सांचे।"[7]

व्यवस्था की राजनीतिक सांठ–गांठ को प्रगतिवादी कविता बेपर्दा करती है। उसमें पीड़ित जनता के दर्द एवं टीस की दास्तान दर्ज हैं। केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन की कविताओं में व्यवस्था की तीखी आलोचना मिलती है। इन कवियों ने कांग्रेस की दोहरी नीति, नेताओं के छद्म चरित्र और उनके खोखले समाजवाद की खूब खबर ली है–

> "देश की छाती दरकते देखता हूँ,
> थान खद्दर के लपेटे स्वार्थियों को,
> डालरी साम्राज्यवादी मौत घर में आँख मूंदे डाँस करते देखता हूँ।"[8]

प्रगतिवाद 'कला कला के लिए' सिद्धान्त में विश्वास नहीं कर 'कला जीवन के लिए' के सिद्धान्त में विश्वास करता है। परन्तु यह सिद्धान्त बाद में अतिवाद का रुख ले लेता है। कार्ल मार्क्स भी मानते हैं, "लेखक के विचार जितना अधिक प्रच्छन्न रहें, कलाकृति के लिए यह उतना ही अच्छा है। किन्तु प्रगतिवादियों ने अपनी मार्क्सवादी विचारधारा को कविता के कथ्य में पिरो देने के बजाय उसे ही कथ्य बना दिया। यही कारण था कि उनकी कविता जो सोद्देश्य तो थी ही उससे प्रचार की भी बू आने लगी।

> "पासी, अहीर, चमार सभी को बुलाओ,
> एक टाट बिछाओ एक पाठ पढ़ाओ।"[9]

'एक पाठ पढ़ाओ' का समतावाद भी प्रगतिवादियों की उत्तेजना के कारण महज नारा बनकर रह गया। साथ ही रचना और जीवन के दोहरेपन के कारण उनकी सभी रचनाओं में आग नहीं है। प्रगतिवादी साहित्य के सन्दर्भ में अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि का मानना है कि उसमें शिल्प और अभिव्यक्ति सम्बन्धी

मौलिक उद्भावनाएं नहीं हुई है। यह सत्य है कि प्रयोगवादियों की भांति शिल्प प्रगतिवादियों का प्रथम प्रेम नहीं है पर उनके यहां भी शिल्प सम्बन्धी प्रयोगों की विविधता कम नहीं है। मार्क्सवादी दर्शन/समाजशास्त्र शिल्पगत प्रयोगों के विरूद्ध नहीं रहा है, बल्कि वह अभिव्यक्ति के लिए नित नवीन प्रयोगों को आवश्यक मानता है। यहां मुक्त छंद के साथ–साथ लोक धुनों और लोकगीतों पर आधारित कविताएं नए रूप बंध को प्रकाश में लाती हैं। एक ओर सोनेट और गजल की रचनाएं हुई तो वहीं दूसरी ओर वार्तालाप शैली तथा गद्य गीतों का प्रयोग भी किया गया। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, शंकर, शैलेन्द्र, रामविलाश शर्मा, त्रिलोचन, रंगेय राघव की अनेक रचनाएं सार्थक एवं ऐतिहासिक महत्व की है, जबकि उसी दौर में उन्हीं की कुछ रचनाएं इश्तहार की हद तक पहुंच गयी है।–

> "काटो, काटो, काटो, करवी, साइत और कुसाइत क्या है।
> मारो, मारो, मारो, हंसिया, हिसां और अहिंसा क्या है,
> जीवन से बढ़ हिंसा क्या है।"[10]

प्रगतिवादी रचनाओं में मार्क्स तथा रूस का कीर्तिगान अथक ढंग से किया जाता है, नरेन्द्र शर्मा जी की दृष्टि में रूस से बढ़कर संसार में कुछ भी नहीं हैं –

> "लाल रूस है ढाल साथियों! सब मजदूर किसानों का।
> वहां राज है पंचायत का, वहां नहीं है बेकारी,
> लाल रूस का दुश्मन साथी! दुश्मन सब इन्सानों का।
> दुश्मन है सब मजदूरों का दुश्मन सभी किसानों का।"[11]

और शिव मंगल सिंह सुमन तो यहीं बैठे–बैठे देख रहे हैं कि–

> "चली आ रही है बढ़ी लाल सेना।"

इसमें सन्देह नहीं है कि प्रगतिवाद में प्रचारात्मकता है। उसमें राजनीतिक कविता का चरित्र है। वह उद्‌बोधनात्मक है, बहुधा वह लिखित वक्तव्य की तरह लगती है। ग्रेवियल पियर्सन की यह उक्ति भी ऐसी कविताओं की कमजोरी को ढक नहीं पाती है, 'समाजवादी यथार्थवाद की कविता वक्तृत्ववादी इसलिए होती है कि वह पाठकोन्मुखी या श्रोतोन्मुखी होती है।'

प्रगतिवाद का आरम्भिक रूप साम्यवादी विचारधारा एवं रूसी साहित्य से अधिक प्रभावित रहा था। रूस में साम्यवादी विचारधारा का प्रचार करने के लिए बहुत बड़े परिमाण में प्रचारात्मक साहित्य का उत्पादन और विदेशों को उसका निर्यात किया जा रहा था। इस साहित्य में विचारों को प्रभावित करने की शक्ति तो थी परन्तु भावनाओं को अभिभूत कर देने वाला काव्य सौन्दर्य नहीं था। इससे प्रभावित हो हिन्दी के वे युवक साहित्यकार, जो साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित थे ऐसे साहित्य सृजन में लग गये जो सरस कम और प्रचारात्मक होने के कारण नीरस अधिक था। जिसका परिणाम प्रगतिवादी दो दलों में बंट गये। एक दल प्रचारात्मक साहित्य का समर्थन कर राजनीतिक अंकुश की अनिवार्यता की बात कर रहा था, तो दूसरा दल इसके विरोध में स्वच्छन्द रूप में अपनी अभिव्यक्ति की हिमायत कर रहा था। प्रगतिवादी साहित्य पर एक आक्षेप यह भी लगाया जाता है कि इसमें यौन भावनाओं और यौन सम्बन्धों का खुला अश्लील चित्रण होता है। इस आक्षेप के मूल में वे नये कलाकार/साहित्यकार हैं जो फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी दर्शन (यौनवाद/कुंठावाद) से प्रभावित होकर स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों के समर्थक थे। वे लोग कुंठावाद को ही प्रगति का एक मात्र सूचक मान अपनी रचनाओं में कुण्ठित दमित यौन भावनाओं और सम्बन्धों का अश्लील चित्रण करने लगे थे। आरम्भ में अज्ञेय जैसे लेखक भी इसी कारण प्रगतिवादी माने जाने लगे थे, परिणामतः कुण्ठित दमित काम भावनाओं के अश्लील चित्रण को ही मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणवादी कुंठावाद का नकाब पहनाकर प्रगतिशीलता मानी जाने लगी। परन्तु समझदार प्रगतिवादी आलोचकों द्वारा इस प्रवृत्ति का घोर विरोध किया गया, फलतः कालान्तर में ऐसा चित्रण करने वाले कलाकार प्रगतिवाद के विरोधी बन नये शिल्प का आवरण लेकर प्रयोगवाद के जनक व प्रणेता बने।

प्रगतिवाद अपने पहले दौर में इसलिए भी विफल रहा कि कवियों ने सर्वांगतः यह नहीं तय किया था कि (क) किसान–मजदूर के लिए कविताएँ लिखी जाय अथवा (ख) किसान–मजदूरों को विषय बनाकर कविताएं लिखी जाय या किसान मजूदरों को विषय बनाकर किसान–मजदूरों के लिए ही कविताएं लिखी जाएं। दरअसल, व्यवहार के बिना केवल मूल्यों पर आघात् करने की बात करना पेट्टी बुर्जुआ दृष्टि है और किसी न किसी रूप में प्रगतिवादी लेखक इससे ग्रस्त रहे हैं। दूसरी बात शोषित जनता से वे सिर्फ सहानुभूति रखते थे। इसके कारण वे वर्गीय घृणा को भी सार्थक सक्रियता नहीं दे सके।

प्रगतिवाद समूहवाद में विश्वास करते हुए भी मुँह के बल गिर गया और प्रतिक्रिया स्वरूप प्रयोगवादी विचारधारा उसके मलबे से ही पनपी तो जाहिर है कि प्रगतिवाद एक गहरे अन्तर्विरोध का शिकार था।

इस प्रकार प्रगतिवाद के लिए निम्नलिखित विचारणीय बिन्दु रहे हैं–

(1) प्रगतिवाद साहित्य को सोद्देश्य मानता है।

(2) सामाजिक यथार्थवाद प्रगतिवादी कविता का केन्द्रीय बिन्दु है।

(3) प्रगतिवाद व्यक्तिवाद के खिलाफ है, आम जनता को वह उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने की बात करता है।

(4) प्रगतिवाद मानता है कि साहित्य को व्यवस्था परिवर्तन का एक सक्रिय एवं सफल माध्यम बनाया जा सकता है।

(5) प्रगतिवाद सौन्दर्य को जीवन के जीवंत यथार्थ का प्रतिबिम्ब मानता है।

यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि किसी साहित्यिक वाद के लिए उसका घोषणा पत्र ही काफी नहीं होता, बल्कि कविता में उसे पचा लेना अधिक आवश्यक होता है। कोई भी कलाकार साम्यवाद, वर्ग संघर्ष, वर्ग चेतना जैसे शब्दों का प्रयोग करने से ही प्रगतिवादी नहीं बन जाता। वही कृति प्रगतिवादी होती है जो जन–जीवन की यथार्थ समस्याओं का मार्मिक प्रभावशाली उद्घाटन करने में समर्थवान होती है। प्रगतिवाद में स्वनाम धन्य क्रान्तिकारी कवियों के बयान को ही कविता समझने की भूल की गई। सत्ता के लिए क्रान्ति शब्द का अर्थ हो सकता है, परन्तु जनता के लिए शब्द की जगह क्रिया का अर्थ होता है। आज स्थिति बहुत कुछ भिन्न है, प्रगतिवादी साहित्य केवल प्रचार का साधन मात्र न रह गम्भीर युग प्रेरक और कलापूर्ण बन गया है। अब इसे अपने प्रसार के लिए प्रचारात्मक सामग्री की आवश्यकता नहीं है। यह विचारधारा जन–जीवन में गहरे रूप से पैठ चुकी है और इसी से प्रेरणा प्राप्त कर नए पुराने अनेक कलाकार ऐसे साहित्य का सृजन कर रहे हैं जिसमें युग जीवन की सम्पूर्ण वैयक्तिक और सामूहिक दुःख दर्द आशाएं आकांक्षाएं और समस्याएँ अपने यथार्थ रूप में मुखरित हो रही हैं। प्रगतिवाद का मूल उद्देश्य भी इसी जन चेतना को जागृत करना था और इसमें वह पूर्ण सफलता प्राप्त कर चुका है।

कला का शिल्प उसके विषय के अनुरूप ही होता है, चूंकि प्रगतिवादी काव्य का लक्ष्य जन जीवन की सामाजिक वास्तविकता को जनता तक पहुँचाना रहा है इसलिए वह छायावाद के रोमानी परिवेश की असामान्य, मखमली व सूक्ष्म भाषा को त्यागकर साधारण, सामान्य प्रचलित भाषा को ग्रहण करके आगे आयी। उसने अपने प्रतीकों, बिम्बों एवं मुहावरों को जनजीवन से ही ग्रहण करके एक जीवन्त भाषा का सृजन किया, एवं आरम्भिक प्रचारात्मक अभिधात्मक शैली को त्याग कर परवर्ती रचनाकारों ने अधिक चित्रात्मक गहन एवं सांकेतिक शैली को अपनाया।

हिन्दी के अनेक शीर्षस्थ समीक्षकों द्वारा प्रगतिवाद का मूल्यांकन करते हुए उसकी उपलब्धियों एवं न्यूनताओं का विवेचन किया गया है। पं० नन्द दुलारे बाजपेयी ने उस पर एकांगी दृष्टिकोण का आरोप लगाते हुए कहा है कि इसकी सीमा में साहित्य के जो समाजशास्त्रीय विवेचन होते हैं वे आवश्यकता से बहुत अधिक समाजशास्त्रीय हैं और आवश्यकता से बहुत कम साहित्यिक इस कारण मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति साहित्य के भावात्मक और कलात्मक मूल्यों का निरूपण करने में सदैव पश्चात्पद रही है।"[12] इसका उत्तर देते हुए प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक डॉ० राम विलाश शर्मा ने लिखा है कि, "मार्क्सवाद पर जो एकांगी होने का दोष लगाया गया है, वह वस्तुगत सत्य नहीं है। मार्क्सवाद हमें संसार की घटनाओं को उसी परस्पर सम्बद्धता में देखने के लिए कहता है। वह सामाजिक विकास के नियमों से भी हमें परिचित कराता है और उनके प्रकाश में वह अपने युग की गतिविधि को पहचानने में हमारी सहायता करता है।"[13] अन्त में बाजपेयी जी को यह स्वीकार करना पड़ा था कि, "साहित्य के सामाजिक लक्ष्यों और उद्देश्यों का विज्ञापन करने वाली यह पद्धति साहित्य का बहुत कुछ उपकार भी कर सकती है।[14] प्रगतिवादी समीक्षा ने हिन्दी को दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं, प्रथम यह कि काव्य साहित्य का समन्वय सामाजिक वास्तविकता से है और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना दूर होगा वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जाएगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव सम्बन्धी एक नई माप रेखा, एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है जिसका उचित उपयोग हम करेंगे।

बाबू गुलाब राय ने प्रगतिवाद की उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हुए लिखा कि, "प्रगतिवाद हमें स्वार्थ परायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को शैया–सेवी अकर्मण्य नहीं रखा।"[15] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रगतिवादी साहित्य के सम्भावनाओं के प्रति आशान्वित होकर कहा कि, "इनके सिद्धान्त और उद्देश्य बहुत सुन्दर हैं, लेकिन ये लोग कम्युनिष्ट पार्टी के साथ जुड़े हुए हैं, यही जरा खटकता है। यदि ये लोग दल द्वारा परिचालित होना छोड़ दें तो सब ठीक हो जाय।"[16] आज प्रगतिशील कलाकारों पर साम्यवादी दल का अंकुश नहीं है, और वे स्वतन्त्र भाव से नए एवं स्वस्थ मानव समाज के निर्माण की बलवती इच्छा लिए हुए साहित्य सृजन कर रहे हैं, अतः प्रगतिवाद के विरोधियों का यह कहना कि प्रगतिवाद आज समाप्त हो गया गलत है। यह सत्य है कि आज उसका बाह्य संगठित रूप छिन्न–भिन्न सा दिखाई पड़ता है, परन्तु यह भी सत्य है कि आज भी प्रगतिशील समाजवादी विचारधारा ही जनवादी स्वरूप ग्रहण कर साहित्य की मूल प्रेरणा बनी हुई है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रगतिवादी आन्दोलन विदेशी था? इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि कोई भी विचारधारा किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों की उपज होती है। मार्क्सवादी विचारधारा का प्रणेता कार्ल मार्क्स स्वयं जर्मनी का निवासी था, किन्तु विपरीत परिस्थितियों के कारण यह विचारधारा जर्मनी में अपना प्रभाव जमाने में असमर्थ रही थी। साम्यवादी विचारधारा आभाव, दरिद्रता, पिछड़ेपन, व निरंकुशता के गर्भ से जन्म लेती है। बीसवीं सदी के आरम्भ में रूस में ऐसी ही परिस्थितियां थी। वहां जारशाही निरंकुशता के साथ नया पूंजीवाद पनप रहा था। कृषक दीन अवस्था में था। फलतः वहां साम्यवादी विचारों के पनपने का अनुकूल माहौल तैयार हो गया। रूसी साहित्य में साम्यवादी विचारों का चित्रण होने व 1917 ई० में रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना का विश्व व्यापी प्रभाव पड़ा। भारत भी इस प्रभाव से बच नहीं सका क्योंकि भारत में भी बिल्कुल वही परिस्थिति विद्यमान थी जिसमें रूस में साम्यवादी विचार पनपे थे। इसलिए भारतीय साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। आरम्भ में यह प्रभाव राजनीति से मुक्त रहा, प्रेमचन्द्र ने इस प्रभाव को अपने विभिन्न उपन्यासों में चित्रित किया प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' नामक उपन्यासों में यह प्रभाव क्रियाशील रहा। इन दो लेखकों ने अप्रत्यक्ष रूप से वर्ग चेतना को जागृत किया, परन्तु उन्होंने साम्यवाद

का नाम तक नहीं लिया। यह इस बात का प्रमाण है कि वर्ग चेतना नितान्त स्वाभाविक थी,जिसे यहां की विषम परिस्थितियों ने जन्म और बढ़ावा दिया था।

अतः प्रगतिवाद युग की पुकार थी। हमारी अर्थव्यवस्था यान्त्रिक होती जा रही थी। पाश्चात्य यान्त्रिकता से प्रभावित हमारे जीवन दर्शन, जीवन मूल्यों का हमारे साहित्य में चित्रण होना स्वाभाविक था। इसलिए प्रगतिवाद को विदेशी प्रभाव मात्र न मान, उसे नये युग की नयी समस्याओं का प्रतिफलन ही मानना चाहिए। यहां समाजवादी विचारधारा के पनपने के लिए अनुकूल परिस्थितियां मिल गयी थी, इसलिए यह यहां पर पनपा जिन विचारधाराओं का प्रतिकूल परिस्थितियों में आयात किया जाता है वे क्षणिक प्रभाव उत्पन्न कर प्रायः समाप्त हो जाती हैं।

प्रगतिवाद एक जनवादी विचारधारा थी, जो साहित्य के सम्पूर्ण क्षेत्र गद्य पद्य दोनों को अपने प्रभाव क्षेत्र में समेट आगे बढ़ी थी। प्रगतिवाद के इस व्यापक प्रभाव का कारण यह था कि यह युग चेतना को अभिवयक्ति प्रदान कर एवं वैचारिक संकीर्णता को त्याग, विश्व के विशाल मानव समूह की भावनाओं, आशाओं एवं आकांक्षाओं को समष्टिगत रूप में देखने, समझने, एवं उन पर विचार करने की शक्ति रखता था। यह आन्दोलन स्थानीय न होकर एक विश्व व्यापी आन्दोलन था।

प्रगतिवाद ने अपनी सीमाओं में रहते हुए भी हिन्दी काव्यधारा के विकास में एक महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ा। उसने काव्य की अवरुद्ध धारा को व्यक्तिवादी यथार्थ के बन्द कमरे से निकाल कर जन जीवन के बीच प्रवाहमान कर दिया। जीवन एवं साहित्य के मूल्यों को सौन्दर्य बोध एवं लक्ष्य को कोहरे की धुंध से बाहर निकालकर उज्जवल धरातल प्रदान किया। निराला, सुमित्रानन्दन पंत, केदारनाथ अग्रवाल, राम विलाश शर्मा, नागार्जुन, शिवमंगल सिंह सुमन, त्रिलोचन, और मुक्तिबोध इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

जैसा कि विदित है कि सम्पूर्ण प्रगतिवादी काव्य साहित्य मार्क्सवादी दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित है इस धारा के शीर्षस्थ कवियों व उनकी रचनाओं में युगीन विषमता, वर्गभेद, शोषण, पूंजीवादी व्यवस्था से आक्रांत सर्वहारा वर्ग की दयनीय स्थिति, व सामाजिक क्रान्ति के स्वर स्पष्टतः सुनाई देते हैं। साम्यवादी आदर्श लिए हुए हिन्दी साहित्य की प्रगतिवादी विचारधारा का

मूल आधार मार्क्सवाद माना जाता है। कार्लमार्क्स ने इसे एक सुनिश्चित दार्शनिक आधार प्रदान किया। प्रगतिवाद के इस विवेचन को आगे बढ़ाने से पूर्व हमें पहले इसके दार्शनिक आधारों एवं सिद्धान्तों को समझ लेना चाहिए जिसका विवेचन प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार शीर्षक में किया जा रहा है।

## (ब) प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार

### (I) मार्क्सवाद

मार्क्सवाद पर आधारित समाजवाद समकालीन युग की एक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय विचारधारा है। वस्तुतः समाजवाद दर्शन का एक पूरा संसार है, जो धर्म के क्षेत्र में नास्तिकता का, राज्य के क्षेत्र में एक अनन्त आशावाद का, आध्यात्म के क्षेत्र में एक प्रकृतिवादी भौतिकवाद का तथा पारिवारिक क्षेत्र, गार्हस्त्य सम्बन्धों तथा वैवाहिक बंधनों की लगभग पूर्ण शिथिलता का द्योतक है। इसका प्रभाव प्रायः समाज, राजनीति, साहित्य, दर्शन, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, कला इत्यादि पर सभी क्षेत्रों में उपलक्षित होता है। दार्शनिक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, एवं साहित्यिक दृष्टिकोणों की एक पूरी वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में मार्क्सवाद का विकास हुआ है। वह अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर वर्ग का एक विश्वव्यापी दृष्टिकोण है। इसका लक्ष्य समाजवादी और कम्यूनिष्ट विचारधारा के आधार पर नई जीवन पद्धति और सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना है। इसका आर्विभाव पूंजीवाद के विकास, उसके शोषण परक अन्तर्विरोधों की तीव्रता, सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक परिपक्वता की वृद्धि एवं बुर्जुआ वर्ग के विरूद्ध उसकी शक्तिशाली कार्यवाहियों द्वारा हुआ है।

**समाजवाद की प्रमुख विशेषताएं :**

***(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद :***

तात्विक दृष्टि से समाजवाद का प्रमुख सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। मार्क्स के अनुसार यह सिद्धान्त संसार के सभी समस्याओं के समाधान में सक्षम हैं। मूल प्रश्न यह है कि मानव समाज अपनी वर्तमान स्थिति में कैसे पहुँचा? समाज का विकास कोई अंधी प्रक्रिया नहीं है, बल्कि इसका एक व्यवस्थित प्रारूप है। इसके विकास में कुछ महत्वपूर्ण कारण हैं जिनकी पुष्टि ऐतिहासिक

घटनाओं और तथ्यों से होती है। समस्त विकास प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है, जो आर्थिक शक्तियों के परस्पर संघर्ष का प्रतिफल है। मार्क्सवादी दृष्टि में एक मात्र मूल तत्व जड़ प्रकृति है। संसार स्वरूपतः भौतिक हैं यह भौतिकता उत्पादक और शोषक शक्तियों के निरन्तर संघर्ष से शनैः शनैः सम्पन्नता के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर बढ़ रही है। मनुष्य को अपने चिन्तन का आधार प्रत्यक्ष गोचर भौतिक वस्तुओं को बनाना चाहिए। आत्मा और ईश्वर की मृग मरीचिका में भटकने से कोई लाभ नहीं है। जड़ प्रकृति स्वतः गतिशील है। प्रत्येक परमाणु में सृजनात्मक शक्तियां इलेक्ट्रान तथा प्रोट्रान निरन्तर गतिशील हैं। परिवर्तन सृष्टि का विधान है। यहां कुछ भी स्थिर नहीं हैं सदैव उद्‌भव, विकास, ह्रास और विनाश का क्रम चलता रहता है। भौतिक जगत की सभी घटनाएं परस्पर सापेक्ष हैं, वे एक दूसरे को प्रभावित करते रहती हैं। प्रत्येक जड़ पदार्थ विरोधी तत्वों का संघात है, इसे मार्क्सवाद के अन्तर्गत आन्तरिक विसंगतियों (Theoury of Inter Contradicatiion) के नाम से जाना जाता है। मार्क्स के इस सिद्धान्त पर हेगलीय द्वन्द्व न्याय और उसके संदूषित अनन्त का प्रभाव उपलक्षित होता है।

उल्लेखनीय है कि हेगल के द्वन्द्व न्याय में भी निषेध विरोध को सभी प्रकार के परिवर्तन विकास और क्रान्तियों का आधार माना जाता है। हेगल के दर्शन में द्वन्द्व न्याय संभूति की प्रक्रिया है, जो पक्ष, विपक्ष और समन्वय के रूप में तब तक चलती रहती है, जब तक पूर्णता की अवस्था न प्राप्त कर जाये। विकास की यह प्रक्रिया पूर्णतः विरोध या निषेध पर आधारित है। मूर्त निषेध की अवधारणा हेगलीय द्वन्द्वन्याय का मेरूदण्ड है। आज के वैज्ञानिक विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व का संचालन अपरिवर्तनशील नियमों से नहीं बल्कि निरन्तर परिवर्तनशील और गतिशील नियमों के अनुसार ही समझा जा सकता है। महान विचारक कार्ल मार्क्स ने हेगल के इस सिद्धान्त को संशोधित रूप में अपनाया किन्तु उसने हेगल के आध्यात्मवाद के विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन और समाजवादी विचारधारा का सूत्रपात किया। मार्क्स के अनुसार इतिहास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया भौतिक, और आर्थिक है। इसका अन्तिम लक्ष्य वर्गविहीन समाज की स्थापना करना है। इस प्रकार मार्क्स हेगल का कृतघ्न शिष्य सिद्ध हुआ। उसने हेगल के द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपनाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि एतिहासिक विकास के सन्दर्भ में जो कभी तर्कसंगत और विवेक पूर्ण होता है वही अन्य अवसरों पर अविवेकपूर्ण हो जाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अन्तर्गत तीन तत्व विद्यमान है।

(1) शक्तियों का द्वन्द्व।

(2) रूपान्तर की अवस्था।

(3) भौतिक विकास

सर्जनात्मक शक्ति मानव समाज के विकास को आगे बढ़ाती है। एक क्रियात्मक शक्ति के रूप में पहले उत्पादन या निर्माण प्रारम्भ होता है। इस निर्माणकारी शक्ति को ही पक्ष (Thesis) कहते हैं, इसकी विरोधी शक्ति को प्रतिपक्ष (Anti Thesis) कहते हैं। इसका उत्पादक शक्ति के साथ संघर्ष होता हैं उसके बाद क्रान्ति की अवस्था आती है जिसे समन्वय (Synthesis) कहते हैं। समन्वय के अन्तर्गत पक्ष और प्रतिपक्ष तत्व का बाधक तत्व नष्ट हो जाता है और निर्माणकारी तत्वों का समन्वय हो जाता है। किन्तु कालान्तर में इस समन्वयात्मक शक्ति के अन्दर से पुनः उसकी विरोधी शक्ति का जन्म होता है। इस प्रकार पुनः द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है। सामाजिक आर्थिक विकास में यह द्वन्द्व तब तक चलता रहेगा जब तक विरोधी शक्ति को उत्पादक शक्ति से पैदा होने का अवसर मिलता रहेगा। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक संघर्ष के बाद विकास के स्तर पर मौलिक परिवर्तन होता जाता है। जब समाज में उत्पादक और विरोधी शक्तियों के बीच में संघर्ष होता है तो क्रान्ति के फलस्वरूप एक नवीन आर्थिक ढांचे का जन्म होता है। इसमें गुणात्मक वृद्धि हो जाने से समाज का विकास उत्कृष्ट अवस्था में पहुंच जाता है। प्रगति स्वभावतः परिमाणात्मक से गुणात्मक अवस्था की ओर होती है। अर्थात् निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर होती है। पुरानी शक्तियां नई शक्तियों का विरोध करती हैं और अन्त में पराजित होकर सकारात्मक प्रगति को जन्म देती हैं। किन्तु वस्तु के अन्दर चल रहे अन्तर द्वन्द्व से पुरानी व्यवस्था नष्ट होती है और नई व्यवस्था का जन्म होता है। मार्क्स ने आदिम साम्यवाद को पक्ष, संघर्षरत साम्यवाद को प्रतिपक्ष और सर्वहारा वर्ग को समन्वय के रूप में प्रस्तुत किया है। सर्वहारा वर्ग की पूर्ण विजय के बाद प्रगति बिना किसी अन्तर्द्वन्द्व के निरन्तर चलती रहेगी।

मार्क्स के अनुसार प्रत्येक वस्तु में उसका विरोधी गुण निहित है, और उनमें एकता की संभावना भी निहित है। जब तक विरोध प्रस्तुत होता है तब तक परिवर्तन नहीं होता है। जैसे ही दोनों में विरोध शुरू होता है वैसे ही

परिवर्तन के साथ प्रगति प्रारम्भ हो जाती है। मार्क्स के इस द्वन्द्व वाद में भौतिक उद्देश्य अन्तरनिहित है। विकास का मूल आधार और प्रयोजन दोनों भौतिक है। सुन्दर विचार, नैतिक भावनाएं, कला, और काव्य सब कुछ भौतिकता की देन है। सारा द्वन्द्व आर्थिक अपूर्णताओं के कारण होता है। यदि आर्थिक शोषण की विरोधी शक्तियों पर मनुष्य नियन्त्रण कर ले तभी समाज का उद्देश्य पूरा होगा। इस नियन्त्रण के लिए वर्ग विहीन समाज की रचना करनी होगी। क्यों कि सम्पूर्ण संघर्ष वर्गोंकी उत्पत्ति के साथ प्रारम्भ होता है। मार्क्स को विश्वास है कि वर्गों का विभेद मिटेगा और मनुष्य को भौतिक समृद्धि मिलेगी। क्रान्ति एक अपरिहार्य सामाजिक घटना है। इसके फलस्वरूप नवीन सामाजिक व्यवस्था का जन्म होता है। पक्ष और प्रतिपक्ष के रूप में समाज में भी दो विरोधी वर्ग स्वामी और दास, राजा और प्रजा, पूंजीपति और मजदूर के रूप में दिखाई पड़ते है। इस विद्रोह का शमन सर्वहारा वर्ग में शान्त होकर समन्वय का रूप ले लेता है। मार्क्स को यह विश्वास है कि भविष्य में पूंजीवाद का नाश होगा और वर्गहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी।

समाजवाद व्यक्ति की अपेक्षा समूह और समुदाय को अधिक महत्व देता है। यह व्यक्तिवादी विचारधारा तथा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विरोध पर आधारित है। आर्थिक विषमता ही सामाजिक भेदभाव और असमानता का कारण है। इससे राष्ट्र की प्रगति बाधित होती है। पूंजीवाद के अमानवीय प्रभावों का उल्लेख करते हुए एरिकफ्राम ने लिखा है, "व्यक्ति और भी एकाकी तथा अकेला पड़ गया, वह अपने अधिकार के बाहर की अतिशय सबल शक्तियों के हाथों का साधन बन गया, वह एक व्यक्ति बन गया, किन्तु एक असमर्थ और असुरक्षित व्यक्ति।" समाजवाद व्यक्तिवाद की तरह प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा को प्रश्रय नहीं देता है, अपितु सहयोग और सहभागिता को बढ़ावा देता है। क्यों कि प्रतियोगिता होने पर मजदूर वर्ग पूंजीपतियों का मुकाबला नहीं कर पाते हैं, इससे स्पष्ट है कि समाजवाद असमानता और शोषण का विरोधी है। यह प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर प्रदान करने का पक्षधर है। वह ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निषेध करता है। जिसमें कुछ लोग काम न करने पर भी जीवित रहें और कुछ लोग काम करने पर भी न जी सकें। कोई भी समाज शोषण मुक्त तभी हो सकता है। जब उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित हो। इस सन्दर्भ में ब्लेचफोर्ड का यह कथन उल्लेखनीय है, "भूमि तथा उत्पादन के सभी साधनों को राष्ट्रीय सम्पत्ति बना दो, सारे खेतों खानों, जहाजों, तथा

रेलों को राष्ट्रीय नियन्त्रण में रख दो, इससे व्यावहारिक समाजवाद पूरा हो जायेगा।" इस विवेचन से स्पष्ट है कि मार्क्सवादी जीवन दर्शन व्यक्तिवादी न होकर समष्टिवादी है। इसलिए व्यक्तिगत हित की अपेक्षा सामूहिक हित और जन सामान्य के कल्याण को प्राथमिकता दी गयी है। चूंकि समष्टिगत कल्याण में व्यक्तिगत कल्याण भी निहित होता है। इसलिए व्यक्ति के हित को सामूहिक हित के अपेक्षा अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि सामजवाद व्यक्तिवाद के विरूद्ध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा वैयक्तिक हित के स्थान पर सामूहिक हित प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग और सहभागिता की स्थापना करके उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा आर्थिक समानता स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

### *(2) ऐतिहासिक भौतिकवाद या सामाजिक क्रान्ति का सिद्धान्त :*

ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्सवादी, लेनिनवादी दर्शन का एक संघटक अंग समाज की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। समाज क्या है? उसकी उत्पत्ति कैसे हुई? उसका विकास कैसे होता है? उसके विकास की नियम संगतियां क्या है? इतिहास, राजनीतिक अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र आदि जैसे समाज के ठोस विद्वानों से भिन्न ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक विकास के सामान्य नियमों का अध्ययन करता है।

मार्क्स और ऐंगल्स ऐतिहासिक भौतिकवाद अथवा इतिहास की भौतिकवादी समझ के संस्थापक थे। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने समस्त ऐतिहासिक परिवर्तनों को भौतिक या आर्थिक कारणों से मानते हुए इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या की। मानव को अपने जीवन रक्षण के लिए प्राकृतिक साधनों पर निर्भर रहते हुए पारस्परिक सहयोग करना पड़ता है, इसलिए उसे अपनी आवश्यक, आवश्यकताओं व तत्सम्बन्धित पदार्थों के उत्पादन हेतु समाज की रचना करनी पड़ती है। राजनीति, कला, विज्ञान आदि में लगने से पहले रोटी, कपड़ा और मकान की अपनी आवश्यकताएं पूरी करनी पड़ती है। सीमित क्षमताओं व वस्तुओं के उत्पादन से समाज सभी को संतुष्ट नहीं कर पाता है फलतः असन्तुष्ट निर्धन व्यक्तियों के कारण समाज में अशान्ति बनी रहती है। जिसका परिणाम यह होता है कि समाज में दो परस्पर विरोधी वर्ग आमने–सामने निरन्तर दिखाई देते रहते हैं। पहला वर्ग साधन सम्पन्न होता

है जिसे शोषक वर्ग एवं दूसरा साधन विहीन, जिसे शोषित वर्ग कहा जाता है। इन सबके मूल में आर्थिक असमानता ही है। इस तरह से समाज में आचार संहिता धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, सामाजिक राजनीतिक संस्थाओं और कला सभ्यताओं आदि के निर्माण में आर्थिक कारक ही प्रमुख है।

मार्क्स ने आपने सांसारिक ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि इसके समस्त विकास का आधार आर्थिक, एवं इसके विकास को प्रयोजन भौतिक सुख एवं शान्ति है। मार्क्स ने हेगलीय प्रत्ययवाद की आलोचना करते हुए धर्म को जनता के लिए अफीम के समान माना है। मार्क्स के अनुसार सामंजस्यपूर्ण उच्चतम समाज (समाजवाद/साम्यवाद) की स्थापना तभी हो सकती है जब सभी मनुष्यों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाये। जिससे सभी संघर्षों या क्रान्तियों का सदा के लिए अन्त हो जाये। मार्क्स का यही ऐतिहासिक भौतिकवाद है। सेवाइन ने इसे 'आर्थिक भौतिकवाद की संज्ञा दी है। लेनिन की दृष्टि में "आर्थिक भौतिकवाद वह केन्द्र विन्दु है जिसके चारों ओर व्यक्त विचारों का जाल सा बिछा हुआ है।" मार्क्स व उसके समर्थकों ने मानव के ऐतिहासिक विकास पर आर्थिक कारकों का प्रभाव दर्शाते हुए इसे पांच युगों में बांटा है–

## (क) आदिम साम्यवादी युग :

आदिम काल में सभी वस्तुओं पर सभी का अधिकार था, व्यक्तिगत सम्पत्ति नाम की कोई वस्तु नहीं थी। आदिम मानव की आवश्यकताएं सीमित थीं, न कोई वर्ग था, और न वर्ग संघर्ष। उसका आहार शिकार पर ही निर्भर था। शिकार के उत्तम साधन एवं हथियार नहीं होने के कारण लोगों में संग्रह की प्रवृत्ति नहीं जमी थी। सभी लोग अपनी आवश्यकता भर ही ग्रहण करते, और प्रत्येक दिन शिकार करते थे और ये शिकार सामूहिक हुआ करते थे, इस प्रकार समाज का विकास वर्गहीन सामूहिक जीवन से आरम्भ हुआ, जिसमें विषमता और शोषण का नामोनिशान नहीं था। समाज की इस दशा को आदिम साम्यवाद कहते हैं।

## (ख) दासता का युग :

आदि साम्यवादी अवस्था के बाद दासता का युग प्रारम्भ होता है। दासता के मूल में संग्रह की प्रवृत्ति रही है। इस युग का मानव शिकारी जीवन त्यागकर श्रमसाध्य कृषिकार्य व पशुपालन में लग गया। फलस्वरूप बिना परिश्रम के ही जीवनयापन करने वाले शक्तिशाली व बलवान लोगों ने निर्बलों को दास बना कर कृषि कार्य में लगाना शुरू कर दिया जिसका परिणाम समाज में दो वर्गों का अस्तित्व उभर कर सामने आया एक दास वर्ग और दूसरा स्वामी वर्ग। ये दास स्वामियों के लिए सम्पत्ति के समान थे जिसे वे क्रय व विक्रय कर सकते थे। दास व स्वामी नीति शोषण व सेवा पर आधारित थी। उत्पादन में दासों को केवल उतना ही हिस्सा दिया जाता था जितने वे मात्र जीवित रह सकें। जब तक दासों में काम करने की क्षमता रही तब तक भू स्वामियों ने उनका शोषण किया। सम्पत्ति पर अधिकार स्वामियों का था और दास उससे वंचित थे। दास भी स्वामियों की भांति सुखमय जीवन बिताने की सोचने लगे। उत्पादन के सम्बन्धों में आये परिवर्तन और एक वर्ग के श्रमहीन हो जाने का परिणाम यह हुआ कि बहुमत की क्षुधापूर्ति नहीं हो सकी, उत्पादन अवरुद्ध हो गया।

## (ग) सामन्तवादी युग :

कुछ समय के पश्चात् राजतन्त्र का विकास होता है, और इन राजाओं को सैन्य सहायता देने वाले एक सरदार या सामन्त वर्ग का भी अभ्युदय इसी युग की देन हैं। समस्त भूमि पर राजतन्त्र का अधिकार तो रहा, परन्तु अनुदान रूप में सामन्तों को देने के कारण वास्तविक कब्जा सामन्तों का ही रहा। परिणामतः शेष जनता अपने क्षुधापूर्ति के लिए इनकी कृपा दृष्टि पर निर्भर हो गई। चूंकि भूमि पर कृषि के लिए मजदूरों की आवश्यकता थीं इसलिए यह भूमि हीन जनता श्रमिकों के रूप में सामन्तों के खेतों में काम करने लगी। श्रमिकों को रियाया या प्रजा कहा जाता था। श्रम के बदले उत्पादन का कुछ निर्धारित अंश ही इन्हें प्राप्त होता था। इनकी स्थिति दासों से कुछ ही बेहतर थी, इन्हें बेचा एवं खरीदा नहीं जा सकता था। सामन्त इनके संरक्षण का दायित्व अपने ऊपर लेते एवं इन्हें न्याय भी प्रदान करते थे।

सामन्तवादी व्यवस्था में समाज चार भागों में विभाजित था। (1) पुरोहित वर्ग (2) राजा या सामन्त वर्ग (3) व्यापारी वर्ग (4) सर्फ या दास वर्ग। पुरोहित

बुद्धिजीवी थे, एवं सामन्तों का साथ दिया करते थे, इन्हीं का साथ पाकर सामन्तों एवं राजाओं ने जीभर जनता का शोषण किया। राजा के आधीन सामन्त थे, प्रजा कृषि कार्य करती एवं सामन्तों की सेवा में संलग्न थे। सामन्तों द्वारा जनता के शोषण के फलस्वरूप उत्पादन की शक्तियां क्षीर्ण होती गई। सामन्तों से असन्तुष्ट सभी वर्ग बुर्जुआ (नगरवासी) के समर्थन प्राप्त कर विद्रोह कर बैठे जिसका परिणाम सामन्तवाद का पतन एवं पूंजीवाद का अभ्युदय से हुआ।

## (घ) पूंजीवादी युग :

औद्योगिक क्रान्ति एवं वाष्पचलित इन्जन के आविष्कार ने कारखानों के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि कर दिया, फलतः अधिक धन की प्राप्ति की आकांक्षा लेकर वही सामन्त वर्ग औद्योगिक क्षेत्रों में अपने को स्थापित कर पूंजीवादी व्यवस्था का श्री गणेश कर दिया। सामन्तशाही व्यवस्था से ऊब चुकी प्रजा भी कृषि कार्य छोड़ औद्योगिक श्रमिक का जीवन अपना लिया और आगे चलकर सामन्त रियाया का वर्ग पूंजीपति और श्रमिक के वर्ग में परिवर्तित हो गया और व्यापारिक लाभ प्रलोभन से बच नहीं सका। श्रम मजदूर करता एवं पूंजी व्यापारी की बढ़ती थी। बहुसंख्यक श्रमिकों का शोषण अल्पसंख्यक पूंजी पतियों द्वारा किया जाने लगा, और भूख से बचने के लिए श्रमिकों को ये सब सहना पड़ता था। चूंकि व्यापारियों ने धन के बल पर मजदूरों को संगठित कर सामन्तवाद का अन्त किया था, लेकिन इस क्रान्ति का सही लाभ श्रमिक क्रान्तिकारियों को नहीं मिल पाया। पूंजीपति वर्ग के हाथों में नेतृत्व होने के कारण सारा लाभ पूंजीपतियों को ही हुआ, श्रमिक वहीं का वहीं रह गया। औद्योगीकरण एवं मशीनीकरण ने हाथों से काम करने वाले श्रमिकों की रोजी उनसे छीन कर बेकारी के दल–दल में ढकेल दिया।

कल कारखानों की संख्या एवं उत्पादन बढ़ने से माल की खपत कम हो गई फलस्वरूप पूंजीपति/उद्योगपतियों द्वारा श्रमिकों की छटनी की जाने लगी। हृदयहीन उद्योगपति सस्ते में उत्पादन बेचने के बजाय उसे नदी में डुबो देना बेहतर समझते थे। प्रूधां ने इस निर्दय अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि किस प्रकार रातों–रात बोरे के बोरे अनाज मार्सलीज के बन्दरगाह में डुबो दिए गये। पूंजीपतियों का इनके पीछे मन्तव्य वस्तुओं के मूल्यों में कमी न आने पाये एवं श्रमिकों को उपलब्ध न हो सकें जिससे वे कम मजदूरी में भी काम करते रहें।

पूंजीवादी व्यवस्था सार्वजनिक हित के प्रतिकूल थी। पूंजीवादी व्यवस्था का मन्तव्य था उत्पादन में वृद्धि, बेकारी को प्रोत्साहन, और पूंजीपति को लाभ, अत्यधिक उत्पादन एवं माल की धीमें निकासी द्वारा यह व्यवस्था लोगों को भूखों रखना चाहती थी। चूँकि राज्य पर पूंजीपतियों का आधिपत्य कायम हो चुका था, एवं ग्रामीण व कुटीर उद्योग धन्धे बन्द हो जाने से सर्वसाधारण जनता का बेकार व बेरोजगार होना स्वाभाविक था। मार्क्स के अनुसार यह दुर्दशा तब तक बनी रहेगी जब तक समाज में पूंजीवादी व्यवस्था बनी रहेगी।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में अत्यधिक लाभ पाने के लिए पूंजीपति अनेक हथकण्डे अपनाते हैं– जिनमें कुछ इस प्रकार से हैं।

(1) इस पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों के पारिश्रमिक का विदोहन कर अतिरिक्त मूल्य द्वारा लाभ कमाने का उपक्रम देखा जाता है। उत्पादन और उसके पारिश्रमिक के बीच अधिक अन्तर ही लाभ है। इस प्रकार से पूंजी अतिरिक्त श्रम का परिणाम है। जो कि श्रमिकों द्वारा कम मूल्य पर अधिक श्रम से होता है।

(2) यन्त्रीकरण से पूंजीवादी व्यवस्था में लाभ की प्रवृत्ति का और भी विकास हुआ, फलतः श्रमिकों की संख्या में गिरावट आती है और पूंजीपतियों का उत्तरोत्तर लाभ बढ़ता जाता है।

(3) पूंजवादी व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा का मुख्य आधार मशीनीकरण है। बड़े–बड़े पूंजीपति भारी व अत्याधुनिक मशीनों द्वारा इस प्रतिस्पर्धा में बाजी मारकर अत्यधिक लाभ कमाने लगते हैं और छोटे पूंजीपतियों के कारखाने बन्द, और श्रमिक बेकार।

(4) उत्पादन की अधिकता नये बाजारों की तलाश एवं उपनिवेशों की स्थापना पूंजीपतियों के शोषण को बढ़ावा दिया। उपनिवेशों के घरेलू उद्योगों को समाप्त कर उनसे सस्ते में कच्चा माल प्राप्त करके उससे तैयार माल को मंहगी कीमत में बेचकर पूंजीपति दोहरा लाभ कमाने लगा।

(5) औद्योगिक क्षेत्र में एकाधिकार स्थापित हो जाने से लाभ प्राप्ति की प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाती है। जिस तरह बड़ी मछलियां छोटी

मछलियों को खा जाती हैं ठीक उसी प्रकार बड़े उद्योगपति छोटे व्यवसाइयों को समाप्त कर अपना एकाधिकार स्थापित करके अपने मुनाफे में आशातीत वृद्धि कर लेते हैं।

उपर्युक्त परिस्थितियों में मार्क्स ने समाज के पुनः शोषित व शोषक वर्ग में विभाजित होने का ही वर्णन किया है। पूंजीवाद के दुष्प्रभाव से बेरोजगार जनता भूखों मरने लगी व सामाजिक विषमता तेजी से उभर कर सामने आ गई। विलासिता और भुखमरी के बीच बढ़ती हुई खाई ऐसे संघर्ष की तरफ बढ़ रही है जिससे कभी भी क्रान्ति की ज्वाला फूट सकती है। धीरे–धीरे अन्तर्विरोधग्रस्त, पूंजीवाद अपने व दुष्परिणामों से घिरता जा रहा है, और उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व स्थापित करने की मुहिम तेज हो रही है। इस क्रान्ति के बाद पूंजीवादी व्यवस्था का समूल नाश एवं समाजवादी व्यवस्था की स्थापना कर सर्वहारा वर्ग अपना अधिनायकत्व स्थापित करेगा।

### (ङ) साम्यवादी युग :

अन्तिम युग साम्यवाद का युग है। इस युग में उत्पादन के समस्त साधनों पर समाज का अधिकार होगा और आवश्यकता के अनुसार लोगों में उसका वितरण होगा। उत्पादन में सभी का उसकी योग्यता के अनुसार योगदान होगा एवं आवश्यकता के अनुसार वितरण होगा। शोषक व शोषित का वर्गभेद एवं वर्ग संघर्ष समाप्त हो जायेगा।

चूँकि समाज का आर्विभाव वर्गहीन अवस्था से हुआ था इसलिए उसका पर्यवसान वर्गहीन अवस्था में ही होगा, परन्तु दोनों में अन्तर है। आदिम साम्यवाद के गर्भ में वर्गयुक्त अवस्थाएं छिपी थी और मानव जीवन असंगठित था, उनमें केवल अपने झुण्ड के हितों की ही चिन्ता थी, किन्तु लक्ष्य साम्यवाद वर्गभेद रहित समग्र समाज की चिन्ता करने वाला होगा।

साम्यवाद ही मार्क्सवाद का अन्तिम लक्ष्य है। यह एक संघर्षहीन, वर्गहीन, राज्यविहीन, धर्मविहीन और समृद्ध समाज की मार्क्सवादी कल्पना है। आवश्यकता के अनुरूप उत्पादन से ही संघर्ष की स्थिति से बचा जा सकता है। यह उत्पादन लाभ प्रेरित न होकर लोगों के जीवन स्तर को उठाने के लिए

होगा। अब हम पूंजीवाद, समाजवाद एवं साम्यवाद के सूक्ष्म अन्तरों का वर्णन करेंगे जो निम्नलिखित हैं–

(1) पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधन सीमित लोगों के स्वामित्व में होते हैं और व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुरूप वेतन दिया जाता है। समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन शक्तियों पर सार्वजनिक स्वामित्व होता है और प्रत्येक को उसके काम के अनुसार वेतन मिलता है। साम्यवाद समाजवादी की विसित अवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार वेतन मिलेगा।

(2) पूंजीवादी व्यवस्था में श्रम एक भार है, समाजवाद में यह जीवन की सर्वोच्च आवश्यकता और साम्यवाद में श्रम जीवन का आनन्द है। पूंजीवाद में श्रम बेचा जाता है, समाजवाद में श्रम आनुपातिक रूप से फलप्रद होता है और साम्यवाद में बिना फल के प्रलोभन के स्वस्थ जीवन के लिए स्वाभाविक रूप से कर्म किया जाता है।

(3) व्यक्ति की समस्त योजनाओं को विकसित होने का अवसर पूंजीवादी व्यवस्था में नहीं मिल पाता है, जबकि समाजवाद में विकास हेतु परिस्थितियों का निर्माण किया जाता है और साम्यवाद में प्रत्येक व्यक्ति का विकास समूचे समाज के विकास की शर्त होगी।

(4) परस्पर अपने हितों को लेकर संघर्षरत पूंजीवाद अनेक वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है। समाजवाद में दो वर्ग देखे जा सकते हैं कृषक और श्रमिक। साम्यवादी व्यवस्था एक वर्गहीन सामाजिक व्यवस्था है। यहां कृषकों और श्रमिकों के बीच का भेद भी समाप्त हो जाएगा।

(5) पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य पर पूंजीपतियों का अधिकार होता है। समाजवाद में राज्य सर्वहारा दल के हाथ में होता है। साम्यवादी व्यवस्था में राज्य का लोप हो जायेगा।

(6) पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादित वस्तुएं विनिमय योग्य वस्तुओं में परिणित हो जाती हैं, समाजवादी व्यवस्था में सरकारी व सहकारी क्षेत्र दोनों के उत्पादन के विनिमय हेतु बाजार की आवश्यकता होती है, जिसमें एक क्षेत्र अपने उत्पादन को दूसरे क्षेत्र के हाथों ऐसे मूल्य पर बेंचता है भले ही उसे लाभ या मुनाफा न मिले। साम्यवादी व्यवस्था में इन क्षेत्रों बीच की खांई को पाटकर वस्तुओं का वितरण बिना मूल्य निर्धारण के आवश्यकता के अनुरूप लोगों में की जायेगी। इस व्यवस्था में हानि एवं लाभ की समस्त संभावनाएं समाप्त हो जायेगी।

(7) पूंजीवाद की स्थापना हेतु राजनीतिक क्रान्ति की आवश्यकता होती है, जबकि समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना के लिए श्रमिक वर्ग के नेतृत्व में सामाजिक क्रान्ति आवश्यक है।

साम्यवादी व्यवस्था में कभी भी आवश्यकता से अधिक उत्पादन नहीं होगा। जब स्वामित्व सार्वजनिक हो जाएगा तो अधिक उत्पादन का तात्पर्य होगा समस्त जनता की समृद्धि। योजनाबद्ध उत्पादन एवं वितरण से इसके बीच सही सन्तुलन बना रहेगा। मांग व पूर्ति के बीच अन्तर घटने बढ़ने से पूंजीवादी व्यवस्था में कीमतें घटती बढ़ती हैं। साम्यवादी व्यवस्था में कीमतों के घटने बढ़ने का प्रश्न ही नहीं पैदा होगा, क्योंकि लोगों की आवश्यकता ही उत्पादन का नियन्त्रण करेगी। पूंजीवादी व्यवस्था में कीमतों पर नियन्त्रण उत्पादन पर रोक लगाकर एवं बाजार में उसकी कमी लाकर की जाती है। जिस प्रकार घर में रोटी का बंटवारा किसी सिद्धान्त पर न आधारित होकर व्यक्ति की आवश्यकता व भूंख पर निर्भर करती है। इसी तरह शुद्ध साम्यवादी समाज में वितरण का सवाल नहीं होगा। वितरण की कोई नाप तौल न होकर आवश्यकता के अनुरूप वितरण होगा। व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुरूप कार्य करेगा और आवश्यकता के अनुरूप प्राप्त करेगा या ग्रहण करेगा। साम्यवादी व्यवस्था में बिना श्रम के कोई नहीं रहेगा। रंग, जाति, लिंग राष्ट्रीयता के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहेगा। ग्रामीण एवं शहरी जीवन का अन्तर समाप्त हो जायेगा। बौद्धिक श्रम व शारीरिक श्रम का भेद दूर हो जायेगा। स्वार्थ के स्थान पर मानव प्रेम व मानवता की बात की जाएगी। व्यक्ति समाज के उत्थान के लिए कार्य करेगा। प्रेम के कारण संघर्ष की प्रवृत्ति समाप्त हो जायेगी और

राष्ट्रों का द्वन्द्व स्वतः समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार साम्यवादी व्यवस्था में व्यक्ति में उसके पूर्व के दृष्टिकोण में परिवर्तन होगा। व्यष्टिवादिता के स्थान पर समष्टिवादिता की बात करेगा।

### *(3) श्रम और मूल्य का सिद्धान्त :*

पेटी (Petty) स्मिथ (Smith) और रिकार्डो (Recardo) द्वारा विकसित श्रम सिद्धान्त से मार्क्स सर्वाधिक प्रभावित थे। एडम स्मिथ ने दो प्रकार के मूल्यों की चर्चा की है। एक वह जो तैयार वस्तु की उपयोगिता के कारण होता है एवं दूसरा उस वस्तु को तैयार करने में मानवीय श्रम द्वारा उत्पन्न होता है। मार्क्स के अनुसार किसी वस्तु का विनिमय मूल्य वह श्रम है जिसे उस वस्तु को तैयार करके विक्री योग्य बनाने में लगाया जाता है। अर्थात् किसी भी सौदे का विनिमय मूल्य उसके निर्माण में लगे श्रम के बराबर होता है। व्यय किया हुआ श्रम ही पूंजी है और संचित श्रम का दाम ही लाभ है। जो वस्तुएं आवश्यकताओं की पूरा करने या किसी अन्य वस्तुओं में बदली जा सकती हैं उसे पण्यद्रव (Commodity) कहते हैं। एक उपयोगी वस्तु से दूसरी उपयोगी वस्तु को बदलना विनिमय मूल्य या मूल्य ;Exchange Value or Value) कहा जाता है। इस प्रकार उपयोगिता मूल्य एवं विनिमय मूल्य, मूल्य के दो प्रमुख आधार हैं।

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की महानतम उपलब्धि अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त है। जिसका मार्क्स ने महत्वपूर्ण राजनीतिक आर्थिक कृति 'पूंजी' में गहन विश्लेषण किया है। अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को लेनिन ने मार्क्सवादी आर्थिक सिद्धान्त की आधारशिला कहा है। इस सिद्धान्त ने पूंजीवादी शोषण के रहस्यों का पता लगाया और पूंजीपतियों की समृद्धि के स्रोतों को छिपाने वाले आवरण का पर्दाफाश किया। पूंजीवादी शोषण प्रच्छन्न ढंग से होता है। वह दास स्वामित्व वाली प्रणाली और सामन्तवादी शोषण से बहुत कम दृष्टिगोचर है। अतिरिक्त मूल्य का मुख्य स्रोत हैं मजदूरों का श्रम जिसका एक हिस्सा श्रम शक्ति खरीदने वाले पूंजीपति बिना प्रतिपूर्ति के हस्तगत कर लेते हैं। अतः अतिरिक्त मूल्य वह मूल्य है, जो उजरती मजदूरों के श्रम द्वारा अपनी श्रम शक्ति के मूल्य के अतिरिक्त निर्मित किया जाता है और पूंजीपति बिना प्रतिपूर्ति के उसे हस्तगत कर लेते हैं। अधिकतम अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन और उजरती (मेहनतकश) मजदूरों के शोषण के माध्यम से पूंजीपतियों द्वारा उसका हस्तगतकरण पूंजीवाद का मुख्य आर्थिक नियम है।

अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन और हस्तगतकरण की विधि यह है कि समस्त कार्य दिवस को सामाजिक रूप से आवश्यक काल और अतिरिक्त काल में विभाजित किया जाता है। कार्य दिवस के पहले भाग में श्रमिक अपनी श्रमशक्ति के मूल्य के बराबर मूल्य का निर्माण करता है। कार्य दिवस का यह भाग स्वयं श्रमिक और उसके परिवार के जीविका के साधनों के उत्पादन के लिए आवश्यक है। यह आवश्यक श्रम काल है, जबकि आवश्यक श्रम काल में किया गया श्रम आवश्यक श्रम है। अपने कार्य दिवस के दूसरे भाग में श्रमिक अतिरिक्त मूल्य का निर्माण करता है। कार्य दिवस का यह भाग अतिरिक्त श्रम काल है। जबकि अतिरिक्त श्रम काल में किया गया श्रम अतिरिक्त श्रम है।

मुनाफे के बारे में रिकार्डो का मत है कि "एक उद्योगपति अपना मुनाफा उस अतिरिक्त उत्पादन से प्राप्त करता है, जिसके लिए वह श्रमिक को कोई मजदूरी नहीं देता है।" इस सन्दर्भ में प्रूधां का विचार है, "उद्योगपतियों द्वारा किराए, सूट, और मुनाफे के रूप में अर्जित सभी धन अतिरिक्त श्रम द्वारा पैदा किया हुआ धन होता है।"[17]

मार्क्स ने इन्हीं सिद्धान्तों को अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का आधार बनाया एवं स्पष्ट किया कि कोई भी वस्तु अपने सही मूल्य से अधिक में नहीं बेची जाती मुनाफा उससे चोरी किए गये अतिरिक्त श्रम से प्राप्त होता है। मान लीजिए एक पूंजीपति 100 रु० की लकड़ी खरीदता है और बढ़ई से फर्नीचर तैयार कराने के लिए उसे 50 रु० मजदूरी देता है। इस प्रकार 150 रु० में फर्नीचर तैयार होता है, जिसे पूंजीपति 200 रु० में बाजार में बेचता है। 50 रु० का यह मुनाफा उसे अधिक मूल्य पर बिक्री करने से नहीं प्राप्त होता है। 100 रु० लकड़ी का मूल्य घटाने से फर्नीचर तैयार कराने में 100 रु० का श्रम लगा है। पूंजीपति ने बढ़ई को केवल 50 रु० दिया है और 50 रु० का अतिरिक्त श्रम अपनी जेब में रख लिया है। सही मुनाफा यह अतिरिक्त मूल्य ही है। जिसके लिए वह बढ़ई को कोई पारिश्रमिक नहीं देता है। अर्थात् पूंजीपति श्रमिकों से अधिक काम लेकर कम पारिश्रमिक देता है। इस प्रकार मजबूर मजदूर अपना श्रम कम मूल्य पर बेचने को बाध्य हो जाता है। उसके समक्ष दो ही विकल्प है या तो भूखों मरो या अपनी श्रम शक्ति फैक्टरी मालिक को बेचो। पूंजीपति किसी वस्तु को जितने दाम पर बेचता है, वही उसका सही मूल्य है,

परन्तु वस्तु की तैयारी में कम धन देने के कारण ही उसे लाभ या मुनाफा होता है।

श्रम मानवता को परिभाषित करने वाली एक मानवीय प्रक्रिया है। पूंजीवादी व्यवस्था श्रम के मानवीय गुणों को समाप्त कर श्रमिक स्वातन्त्रय पर वंधन लगाता है वह स्वेक्षा से कार्य न करके अपने अस्तित्व की संरक्षा की मजबूरी में कार्य करता है। कार्य उसकी आत्म तुष्टि न होकर जीवित रहने की विवशता है। इस प्रकार श्रम उसके स्व की अभिव्यक्ति न होकर उसकी बाध्यता है। परकीय श्रम या विरसन की अवधारणा मार्क्सवादी साम्यवाद के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है। मैल्विन सीमेन द्वारा इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, "परकीय श्रम के सम्प्रत्यय का प्रयोग शक्तिहीनता, अर्थशून्यता, विच्छेदन अथवा आत्मविरसन जैसे विभिन्न अर्थों में किया जाता है।"[18] इस्तवेन मैसजारोज के अनुसार मार्क्स के परकीकरण की अवधारणा के चार प्रमुख पक्ष हैं। (1) व्यक्ति का प्रकृति से विरसन (2) उसका स्वयं से विरसन (3) मानव जाति से विरसन (4) व्यक्ति का व्यक्ति से विरसन। श्रमिक को यह ज्ञात है कि जो कुछ भी वह उत्पादित करता है उस पर उसका अधिकार नहीं है। इस प्रकार श्रमिक और उत्पादन के बीच प्रथकत्त्व ही परकीकरण या विरसन है। पूंजी इसी परकीय श्रम का परिणाम है, जिसमें वह स्वयं को नकारता है, दरिद्रता व शारीरिक मानसिक पीड़ा झेलता है। यह श्रम एक प्रकार से बेगारी का श्रम है।

परकीय श्रम पर प्रतिबन्ध साम्यवादी व्यवस्था में तभी लगाया जा सकता है जब श्रम का उचित विभाजन व वितरण प्रणाली का आधार मानवीय होगा। व्यक्ति स्वातन्त्रय की भावना तभी साकार हो सकती है जब श्रम आन्तरिक आवश्यकता का परिणाम हो न कि बाह्म दबाव का। पूंजीवादी समाज में श्रमिक गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ यन्त्र कार्य करता है, मार्क्स का मत है, "पूंजीवादी राजनैतिक अर्थशास्त्र सर्वहारा को वैसे ही समझता है जैसे वह कोई घोड़ा हो, उसको ठीक उतना ही मिलेगा जिससे वह श्रम करने के लिए जीवित रह सके। जब वह श्रम नहीं कर पाता है तो वह पूंजीपति की निगाह में मनुष्य नहीं है।"[19] श्रमि के श्रम से प्राप्त पूंजी अन्तोगत्वा उसी के शोषण का साधन बनती है।पूंजी एक शक्ति रूप में श्रमिक के श्रम पर शासन करती है, धर्म इसे और तीव्रता प्रदान करके श्रमिकों को भ्रमित करता है कि वे कठिन से कठिन परिश्रम करते जायें, क्योंकि उन्हें स्वर्ग में वे चीजे प्राप्त होंगी, जो धरती पर

उन्हें नहीं मिल पा रही है। इस सन्दर्भ में मार्क्स का कथन दृष्टव्य है—"धर्म परकीय जीवन की अभिव्यक्ति है।"[20] पूंजीवादी समाज में धनवान अधिक धनवान बनता है और गरीब अधिक गरीव यहां मनुष्य ही मनुष्य का शोषक है। साम्यवादी समाज में पूंजीपति एवं श्रमिक में लाभ का समानुपातिक वितरण होगा। ऐसी स्थिति में नाफाखोर भी श्रमिक हो जाएगा। जब समाज में सभी श्रमिक हो जायेंगे तो वर्ग भेद मिट जायेगा और शोषण की प्रवृत्ति का समूल नाश हो जायेगा।

## *(4) धर्म और साम्यवाद :*

मार्क्स का यह कथन प्रसिद्ध है कि धर्म गरीब जनता की अफीम है। जिसके नशे में उसका शोषण किया जाता है। "धर्म निर्बल आत्मा की बौखलाहट भरी चीख पुकार और मिथ्या कल्पना के सिवा कुछ नहीं है।"[21] जब युक्ति संगत विचार श्रृंखला टूट रही थी और सामन्ती मानसिकता से ग्रस्त लोग धर्म का घटाटोप खड़ा कर रहे थे उस समय मार्क्सवादी विचारधारा मानवता को सामाजिक यथार्थ और मूल्यों से जोड़ने का प्रयास कर रही थी। मार्क्स ने जिस विश्व दृष्टि की स्थापना की है वह प्रकृति तथा समाज के वस्तुगत नियमों पर आधारित है, न किसी धर्म के हवाई किले पर मार्क्सवादी दृष्टि में धर्म की आलोचना इसलिए भी आवश्यक है कि मनुष्य को मनुष्यत्व का बोध कराकर उसे उदात्त विचार के उच्च स्तर पर स्थापित किया जा सके। मार्क्स के द्वारा की गयी धर्म की आलोचना धार्मिक भ्रम को मिटाती है और धर्म के नाम पर किए जाने वाले शोषण पाखण्ड और अंध विश्वास का निराकरण करती है। उसका लक्ष्य मनुष्य को मनुष्य की तरह सोचने और कार्य करने की शक्ति प्रदान करना है। इससे स्पष्ट है कि मार्क्स ने धर्म के नाम पर किए जाने वाले पाखण्ड और धूर्ततापूर्ण आचरण अर्थात् धर्म के मिथ्या स्वरूप का पर्दाफाश करता है। मार्क्स का दर्शन मनुष्य की चेतना को उत्कृष्टता प्रदान करता है। अपने एक निबन्ध में (हेगल अधिकार सम्बन्धी आलोचना मे योगदान) वह कहता है कि "मनुष्य ही धर्म बनाता है, धर्म मनुष्य का सर्जक नहीं है, यह कैसी विडम्बना है कि मनुष्य ज्यों—ज्यों धर्म के समीप आता जाता है त्यों—त्यों वह अपने स्वयं से दूर हो जाता है। मनुष्य कोई ऐसा हवाई प्राणी नहीं है जो संसार के बाहर कहीं बैठा हो। मनुष्य स्वयं अपना संसार है और धर्म इस वास्तविक संसार का खोखला सिद्धान्त है एवं मन को बहलाने का श्रद्धोन्माद है। अतः धर्म

के विरूद्ध संघर्ष उस काल्पनिक संसार (स्वर्ग) के विरूद्ध संघर्ष है, धर्म जिसका आत्मिक सौरभ हैं"[22] मार्क्स का दावा है कि इतिहास के आदिम काल में लोगों को धर्म की जानकारी नहीं थी भविष्य में वैज्ञानिक प्रगति के साथ–साथ धर्म का समूल नाश हो जायेगा। वस्तुतः प्राकृतिक शक्तियों का सामना न कर पाने के कारण अज्ञान वश ईश्वर को जगत का सृष्टा मान लिया गया होगा जहां से धर्म का सूत्रपात हुआ। धर्म वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग में बाधक, शोषक को बढ़ावा देने के कारण मानवता का विध्वंसक है। अतः वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग में बाधक और मानवता विरोधी धर्म का उन्मूलन अपरिहार्य है। उसका विश्वास है कि ईश्वर के राज्य के नष्ट हो जाने के बाद ही भौतिक संसार की सार्थकता का सही अनुभव होगा। जनता अपने लौकिक अधिकारों के प्रति तभी जागरूक होगी जब उसे स्वर्ग को भ्रम से मुक्ति मिल जायेगी।

उल्लेखनीय है कि मार्क्स ईश्वरवादी धर्म का विरोध रहा है, न कि मानव धर्म का मार्क्सवाद की केन्द्रीय समस्या मानव की समस्या है मार्क्स का मनुष्य महामानव या नीत्शे का अतिमानव नहीं बल्कि हमारे बीच में विराजमान साक्षात मानव है जो मूलतः श्रमिक व सर्वहारा है। उसमें निहित मनुष्यत्व कोई अमूर्त कल्पना नहीं बल्कि वास्तविक रूप में मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों का योग है। वह सर्वहारा को पूंजीवादी बेड़ियों को तोड़ने वाली चालक शक्ति मानता है। वह कहता है कि, "पूंजीपति के लिए मजदूर मनुष्य नहीं रह जाता है, बल्कि मुनाफा कमाने मशीन बन जाता है। भेड़ियों के समान खूंखार पूंजीपतियों द्वारा अतिरिक्त श्रम के आधार पर अधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति और इससे बने पूंजी का प्रयोग मजदूरों पर एक सशक्त हथियार के रूप में किया जाना समाज में शोषण का हृदय विदारक दृश्य उपस्थित करता है। (मार्क्स की इस विचारधारा का प्रभाव हिन्दी साहित्य की प्रगतिवादी कविता में उपलक्षित होता है। निराला का कुकुरमुत्ता और वह तोड़ती पत्थर इसका जीवन्त उदाहरण है)।

मार्क्स और ऐंगिल्स ने "कम्यूनिष्ट पार्टी का घोषणा पत्र" (अध्याय दो एवं तीन) में कहा है, पुरोहितों और सामन्तों का साथ चोली दामन की तरह है उनके अनुसार ईसाई धर्म वह पवित्र गंगा जल है जिसके छींटे मारकर पादरी लोग अमीर उमरा के संतृप्त हृदय को शांत करते हैं। पादरियों और पुरोहितों के इस उपदेश को शासित लोग सही मान लेते हैं कि वे अपने पूर्व जन्म के पापों का फल भोग रहे हैं ईसाई धर्म की कटु आलोचना करते हुए मार्क्स ने कहा है,

"ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धान्त कायरता, आत्म प्रवंचना, पर वशता तथा निराशा का उपदेश देते हैं, वे उन सारे गुणों की शिक्षा देते हैं जो कुत्ते के गुण हैं सर्व हारा वर्ग यह नहीं चाहता है कि उसके साथ कुत्ते की तरह व्यवहार किया जाये, वह रोटी से भी अधिक महत्व आत्म सम्मान और स्वतन्त्रता की भावना को देता है। वस्तुतः ईसाई धर्म के सामाजिक सिद्धान्त कायरता पूर्ण हैं और सर्वहारा क्रान्ति को अपना आदर्श मानता है।"[23]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि साम्यवादी जीवन दर्शन स्वभावतः आध्यात्म विरोधी है। ईश्वरवादी नीति शास्त्र एक प्रकार का अनीतिशास्त्र है क्योंकि वह समाज में शोषण को बढ़ावा देता है। जो समाज दर्शन और नीतिशास्त्र शोषक वर्ग को नष्ट करें, श्रमिकों को संगठित करें वर्गभेद का उन्मूलन करके समता मूलक समाज की स्थापना करें वही साम्यवादी नीति दर्शन और विचार हैं इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह धर्म निरपेक्षतावाद का समर्थन करके धर्म संघों की जागीरों को जप्त करने के साथ–साथ पैगम्बरी प्रवृत्ति का उन्मूलन करता है। इस प्रकार मार्क्स ने शोषण मुक्त समाज की स्थापना के लिए धर्म तंत्र को विस्थापित करके अर्थतंत्र की स्थापित करने का प्रयास किया।

## (ii) प्रगतिवादी कविता पर मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव

### *(क) नागार्जुन :*

पं० वैद्यनाथ मिश्र, **'नागार्जुन'** प्रगतिवाद के उन कवियों में हैं। जिन्हें देश और जनता से असीम प्रेम है। इसकी अभिव्यक्ति उक्त दोनों ही रूपों में उनकी रचनाओं में मिलती है। प्रथम रूप में वह अपने हृदय की कोमल मार्मिक अनभूतियों को प्रगट करता है, अपने दूसरे रूप में वह व्यंग्य का अस्त्र ग्रहण कर सामाजिक विषमताओं दैन्यों और विकृतियों को समाप्त करना चाहता है। जो समाज की प्रगति में बाधक कही जा सकती हैं।[24] कवि ने सामाजिक विकृतियों और असंगतियों को यथार्थवादी दृष्टि से परखा है और वैशम्य के मूल कारणों से अवगत होने का भी प्रयास किया है।

कवि नागार्जुन के काव्य में सम्पूर्ण देश का दर्द और दुःख साकार हो उठा है। 'सतरंगें पंखों वाली' काव्य संग्रह की 'देखना ओ गंगा मैया', 'खुरदुरे पैर' इसी प्रकार की ग्रामीण और नागरिक जीवन की विषमताओं को प्रत्यक्ष

करती है। देना ओ गंगा मैया, शीर्षक कविता में कवि ने एक चित्र उपस्थिति कर मल्लाहों के वैषम्य पूर्ण जीवन को चित्रित किया है। जिनके वस्त्रहीन बच्चे पानी में कुछ पैसों को खोजने के लिए खड़े रहते हैं, इस प्रतीक्षा में कि संभवतः वे उन्हें प्राप्त हो जाएं। इस प्रकार कवि ने कविता के माध्यम से जीवन के वैषम्य और दयनीय पक्ष को प्रस्तुत किया है–

> "मल्लाहों के नंग धड़ंग छोकरे दो दो पैर हाथ दो दो
> प्रवाह में खिसकती रेत की ले रहे छोह
> बहुधा अवरित चतुर्भुज नारायण ओह
> खोज रहे पानी में जाने कौस्तुभ मणि।"[25]

नागरिक जीवन के वैषम्य से सम्बन्धित कविताएं भी कवि की लेखनी का विषय रही हैं। 'खुरदुरे पैर' शीर्षक कविता में कवि ने रिक्शे वाले के जीवन की झांकी को प्रस्तुत किया है, जिसके जीवन में सुख नाम की कोई वस्तु नहीं है:–

> "धंस गये कुसुम कोमल मन में
> गुट्ठल घुटने वाले कुलिश कठोर पैर
> दे रहे थे गति खण्ड विहीन ठूठ पैडलों को
> चला रहे थे एक नहीं, दो नहीं, तीन–तीन चक्र
> कर रहे थे मात त्रिविक्रम वामन के पुराने पैरों को
> नाप रहे थे धरती का अनहद फासला
> घंटों के हिसाब से ढोए जा रहे थे।"[26]

नागरिक जीवन के वैषम्य से सम्बन्धित अन्य कविताएं 'प्यासी पथराई आंखें' काव्य संग्रह में संग्रहीत हैं। 'आदम का तबेला' शीर्षक कविता में कवि ने कल्कत्ते के मध्यमवर्गीय परिवारों के दयनीय चित्रों को उपस्थित किया है –

> "ऊपर देखते हैं बाल्टियों के ढेर पितरों की प्यासी रूहें।
> अंगूठा चूसती नवजात बच्ची
> खिड़की से लटका दिया गया है लाल खिलौना।"[27]

कवि सामाजिक विषमता का मूल स्रोत पूंजीवादी सभ्यता और संस्कृति को मानता है। उसका विश्वास है कि इसी के कारण समाज में विभिन्न प्रकार की असंगतियां जन्मी हैं। पूंजीपतियों द्वारा किए गये कृषकों पर अत्याचारों से कवि पूर्णतः क्षुब्ध हुआ है और शोषित वर्ग के प्रति कवि ने पूर्णतः सहानुभूति

प्रदर्शित की है। 'सच न बोलना', 'राम राज्य' आदि कविताओं में कवि ने इस प्रकार के पूंजीपतियों के नृशंस अत्याचारों का वर्णन किया है–

''जमींदार है, साहुकार है, बनिया हे, व्यापारी है,
अन्दर–अन्दर विकट कसाई, बाहर खद्दरधारी है।
सब घुस आये, भरा पड़ा है भारत माता का मन्दिर,
एक बार जो फिसले अगुआ, फिसल रहे हैं फिर, फिर, फिर।''[26]

इसी प्रकार से एक अन्य उदाहरण दृष्टव्य है –

खादी ने मलमल से अपनी सांठ–गांठ कर डाली है।
विडला टाटा डाल मियां की तीसों दिन दिवाली है।
जोर जुलुम की आंधी चलती बोल नहीं कुछ सकते हो।
समझ नहीं पाता कि हुकूमत गोरी है या काली है।[29]

कृषक वर्ग के अतिरिक्त समाज के अन्य उपेक्षित वर्गों के प्रति भी कवि की पूर्ण सहानुभूति देखी जा सकती है। 'घिन तो नहीं आती है' शीर्षक कविता में श्रमिकों के जीवन को कवि ने पूर्ण रूप से आंकने का प्रयास किया है। अधिक अथक परिश्रम करने के पश्चात् भी उनका अपने श्रम का उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता है। कवि नागार्जुन उस वर्ग की झांकी प्रस्तुत करते हुए कहते हैं–

''कुली मजदूर हैं बोझा ठोते हैं खींचते हैं ठेला,
धूल धुआं भाप से पड़ता है सबका
थके मांदे जहां तहां हो जाते हैं ढेर
सपने में भी सुनते हैं धरती की धड़कन।''[30]

कवि नागार्जुन ने केवल भारतीय जनता के दुःख और वैषम्यों के स्वरों को ही अपने काव्य में प्रतिध्वनित नहीं किया है। अपितु आस्था, विश्वास, तथा नये संकल्पों को लेकर एक प्रखर और क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का भी परिचय दिया है। उपेक्षित वर्ग के प्रति सहानुभूति तथा उसकी शक्ति को उभारने और उसकी अन्तिम विजय में विश्वास प्रकट करने वाली बहुत सी कविताएं हैं जिनसे मार्क्सवादी व साम्यवादी क्रान्तिकारी विचारधारा के स्वर प्रतिध्वनित होते हैं।

'तुम किशोर तुम तरूण' शीर्षक कविता में कवि ने नवयुवकों को भावी निर्माण का कर्ता तथा उनसे जीवन संघर्षों में आने वाली बाधाओं को सहन करने की शक्ति के लिए आग्रह किया है–

"तन जर्जर हैं भूख प्यास से, व्यक्ति व्यक्ति दुख दैन्य ग्रस्त हैं,
दुविधा में समुदाय पस्त हैं लो मशाल, अब घर–घर को आलोकित कर दो
सेतु बनो प्रज्ञा प्रयत्न के मध्य, शान्ति को सर्व मंगला हो जाने दो।"[31]

इसी प्रकार कवि ने अपने काव्य में पीड़ित दर्द और कसक के साथ ही उसकी अदम्य जीवनेच्छा की भी अभिव्यंजना की है। जो जीवन से संघर्ष के लिए कटिबद्ध हैं। कवि को पूर्ण विश्वास है कि परिवर्तित परिस्थितियां किसानों और मजदूरों को उनके अधिकारों, व भूमि आदि पुनः वापस दिला देंगी, और पुनः साम्यवाद स्थापित हो जायेगा। कवि अपनी 'लाल भवानी' शीर्षक कविता में इन्हीं संकल्पों को वाणी देता हैं।

"सेठ और जमींदारों को नहीं मिलेगा एक छदाम,
खेत खान–दूकान मिलें सरकार करेंगी दखल तमाम
खेत मजदूरों और किसानों में जमींन बंट जायेगी
नहीं किसी कमर के सिर पर बेकारी मंडरायेगी,
नौकरशाही का यही रद्दी ढांचा होगा चूरमचूर,
सुजलां सुफलां के गायेंगे गीत किसान मजदूर।[32]

इस कविता में मार्क्सवादी दर्शन की अन्तिम या चरम स्थिति साम्यवाद की स्थिति का वर्णन है। प्रगतिवादी काव्यधारा के समस्त कवियों में नागार्जुन का 'एक विशिष्ट स्थान है। मार्क्सवादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में नागार्जुन यद्यपि कि मार्क्सवाद के प्रचारात्मक स्वरूप को नहीं ग्रहण कर सके हैं फिर भी उनकी कविता में इस विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कवि नागार्जुन जन जीवन के कवि है, जन भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान कर जनता तक उसे पहुंचाना ही कवि का प्रमुख लक्ष्य रहा है। इन्हीं जनमत के स्वरों को वाणी प्रदान करने में एक प्रकार की क्रान्तिवादिता मिलती है। जनजीवन के यथार्थ चित्रों को प्रसूत करना उनके काव्य का प्रधान लक्ष्य रहा है। इसी कारण वे आज जीवित न होते हुए भी जन जीवन में लोकप्रिय हैं।

### *(ख) राम विलास शर्मा :*

प्रगतिवादी काव्यधारा को, स्वस्थ नवीन दिशा की ओर प्रस्तुत करने में डॉ० राम विलाश शर्मा का एक प्रमुख प्रदेय है। शर्मा जी समाजवादी विचारधारा पर आस्था रखने वाले समीक्षक व कवि हैं इसी कारण उन्होंने अपनी

समीक्षात्मक कृतियों एवं कविताओं में मार्क्सवादी आदर्शों का दृढ़ता के साथ प्रतिपादन किया है। जो वैज्ञानिक भौतिकवाद की नींव पर आधारित है।

शर्मा जी का कवि रूप 'तार सप्तक' और 'रूप तरंग' में संग्रहीत कविताओं के माध्यम से परखा जा सकता है। प्रगतिशील आन्दोलन के विकास में आपका महत्वपूर्ण हाथ रहा है। इसका स्पष्टतः प्रभाव कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में भी देखा जा सकता है। यद्यपि उसके स्वरों में परवर्ती क्रान्तिवादिता, और प्रखरता आदि के चिन्ह नहीं मिलते हैं, फिर भी वर्गभेद, सामाजिक विषमता आदि के स्वर उसमें मौजूद हैं।

''त्रस्त सभी हो दुष्ट, क्रूरता दूर हो, साम्य समक्ष असीम विषमता दूर हो।
कायरता हो दूर दासता दूर हो, देश सुखी हो सभी देश भरपूर हो।''[33]

इसी प्रकार ग्रामीण जीवन की कारुणिका स्थितियों के चित्रण से सम्बन्धित 'रूपतरंग' की एक प्रमुख कविता 'सिलहाट' है जिसमें कवि ने सीला बीनने वाले उन खेतिहर मजूदरों के प्रति पूर्ण रूप से सहानुभूति प्रदर्शित की है, जो वर्ष भर अथक परिश्रम के पश्चात् उपहार स्वरूप में केवल धरती के बचे हुए दाने पाते हैं। कवि ने इस प्रकार के दैन्य और वैषम्य तथा सामन्तवादी शोषण के चित्रों को निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

''छोटा सा सूरज सिर पर बैसाख का
काले धब्बे से बिखरे वे खेत में।
फटे अंगोछे में, बच्चे भी साथ ले
ध्यान लगा सीला चमार हैं बीनते,
खेत कटाई की मजदूरी
इन्हीं ने जोता बोया सींचा भी था खेत को।''[34]

इसी प्रकार 'बैसवाड़ा' शीर्षक कविता में शोषक जमींदारों एवं पूंजीपतियों के नृशंस अत्याचारों को वर्णित किया है, जिन्होंने श्रमिकों को उनके श्रम का उचित मूल्य न देकर अतिरिक्त पूंजी जो कि श्रमिकों के हिस्से की थी पूंजीपतियों द्वारा हड़प ली गई। श्रमिकों द्वारा अर्जित अतिरिक्त मूल्य के द्वारा ही उसका शोषण अनवरत चलता रहता है। उनका तन सूख गया है और जीवन के झंझावातों से एवं भूख से संघर्ष करते उनकी देह में शक्ति नहीं रही उनके सारे परिश्रम का मूल्य केवल सीला ही है–

"इस धरती पर जो श्रम करते हैं,
उनके तन के पर्तो में अब सूख गया है।
रक्त, रेत पर गिरी हुई जल की बूंदों सा,
जमींदार के 'जन' हैं सब कोठी चमार,
करते हैं जो नित ही बेगार
सीला भर जिनका पगार।"[35]

कवि ने ग्रामीण जीवन के दुःख दैन्य को ही अपने काव्य का विषय नहीं बनाया है, अपितु नागरिक जीवन की विषमताओं और विकृतियों से सम्बन्धित कविताओं की भी सृष्टि की है। पूंजीवादी विषमता के मध्य में पोषित नागरिक जीवन को उसकी काली छायाओं में घुटते हुए चित्रित किया है। एक ओर आर्थिक वैषम्य युद्धों के परिणाम स्वरूप भ्रष्टाचार अनैतिकता आदि तथा इन सारी विकृतियों के बीच जीने वाले नर कंकाल और उनका जीवन इन कविताओं में मूर्त हुआ है। आज की सभ्यता ने नागरिक जीवन को कितना विशाक्त बना दिया है, वह कवि की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है–

"कंकाल हड्डियों के रक्तहीन मांसहीन कंकाल,
मांसल बलिष्ट नहीं भुजायें रक्ताभा नहीं कपोलों पर,
परतन्त्र देश के युवक हैं, कहां है जीवन?
कहां है चिरंतन आत्मा?
हड्डियों का संघर्ष जीवन है
हड्डियों में बसा हुआ ताप ही आत्मा हैं"[36]

'गुरूदेव की पुण्य भूमि' शीर्षक कविता में पूंजीपति द्वारा मनमाने ढंग से एकत्रित की गई लाखों की संख्या में पूंजी से उत्पन्न आर्थिक वैशम्यता का चित्रण निम्न पंक्तियों में किया गया है –

'भाई–भाई से जुदा
चिता पर लड़ते हैं भाई–भाई,
दो भीरू श्वान से कायर,
लाखों की रकमें काट रहे हैं काट रहे हैं,
गले करोणों के छिप–छिप कर कायर।"[37]

'विश्वशान्ति' और 'कलियुग' आदि भी इसी प्रकार की अन्य कविताएं है जिसमें कवि ने इसी प्रकार के विषमतापूर्ण चित्रों को प्रस्तुत किया है। कवि राम

विलास जी की कविताओं एक पक्ष वह है जिसमें उन्होंने आस्था विश्वास और जनशक्ति के ओजस्वी स्वरों का आवाहन किया है। विषमताओं के बीच से वह एक नये भविष्य का निर्माण करने वाली जनशक्ति पर आस्था प्रकट करता है। क्रान्ति के लिए जन साधारण में असंतोष बीज उत्पन्न करना कविता का लक्ष्य रहा है कवि के शब्दों में—

"हाँ जन संस्कृति का पर्व कार्तिकी आयेगा,
ये वियाबान उद्यान नये जीवन से फिर संकुल होंगे।
गत सामन्ती संस्कृति के दूतों पर आश्वस्त सुनाई देंगी फिर,
गंगा की अविरल धारा सी नवयुग की श्रमकर जनता की पदचाप नयी।"[38]

'पंजाब हत्याकाण्ड' शीर्षक कविता में कवि ने यह आशा और विश्वास दिलाया है कि नवीन पीढ़ियां इन अत्याचारों और शोषण को समाप्त कर देंगी और इस प्रकार नवीन सूर्योदय होगा।

"नयी फसल देगी फिर धरती लपटों से झुलसायी।
खाद बनेंगे लूट और हत्या के ये व्यवसायी।
पांच नदियां एक साथ सीचेंगी यह हरियाली।
लपटों के बदले होगी उगते सूरज की लाली।"[39]

यह सूरज की लाली अप्रत्यक्ष रूप से रूस की लाल क्रान्ति की ओर इशारा करता है। इस प्रकार हमें इनकी कविताओं पर पर्याप्त रूप में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

### *(ग) शिव मंगल सिंह 'सुमन' :*

कवि शिव मंगल सिंह सुमन की प्रगतिशील कविताएं जहां एक ओर राष्ट्रीय भावधारा को लेकर चलती हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक विषमता व वर्ग भेद, आदि मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव भी उनमें देखा जा सकता है। राष्ट्रीयता के स्वरों का आवाहन वैसे तो कवि ने परवर्ती कृतियों में ही प्रमुख रूप से किया है। लेकिन इस प्रकार की प्रथम प्रवृत्ति 'हिल्लोल' की 'जागरण' कविता से प्राप्त होती है।

'सुमन' की राष्ट्रीय कविताओं का एक पक्ष वह है जिसमें कवि ने साम्राज्यवादी एवं पूंजीवादी शक्तियों का घोर विरोध किया है। कारण, उसका विश्वास है कि जन जीवन में विषमता उत्पन्न करने का मूल दायित्व इन्हीं

शक्तियों पर है। कवि का पूर्ण विश्वास है कि वर्तमान जीवन में जो विषमतायें परिव्याप्त है इसका एक मात्र कारण पूंजीवादी कविता और संस्कृति है। जिनसे आज का युग संघर्षपूर्ण हो गया है। समाज में दिखाई पड़ने वाले संघर्ष के मूल में इन्हीं की स्थिति है। समाज का शोषक वर्ग सर्वहारा शोषितों पर अत्याचार करता है और उनके श्रम का उचित मूल्यांकन न कर उनके जीवन को दुखद और विषम बना देता है–

> "किए देव का प्रकोप यह, यह अजगर ने चूस लिया है।
> या मानव की दानवता ने इसका जीवन लूट लिया है।
> यह पूंजीवादी समाज के जुल्मों का जंजाल पड़ा है।
> यह किसका कंकाल पड़ा है।"[40]

इसी प्रकार समाज का शोषक वर्ग सर्वहारा वर्ग पर किस प्रकार अत्याचार करता है ये पंक्तियां इसकी साक्षी हैं–

> "कुत्ते के पंजों से आहत जर्जर तन बलहीन
> श्वान झपट ले जाता होगा मुंह की रोटी छीन।
> "बीन सड़ा मैला नाली का, मुंह में लेता डाल।
> भूंख? भूंख ने मिटा दिया है, भले बुरे का ख्याल।"[41]

यह कवितायें कवि की सामाजिक चेतना को पूर्ण रूप से निखारती है। सामाजिक चेतना कवि के व्यक्तित्व का एक प्रकार से प्रधान अंग सा लगता है। 'जीवन के गान' प्रलय सृजन' संग्रहों में इसी प्रकार के सामाजिक दुःख दैन्य के चित्र कवि ने खींचे हैं। 'जीवन के गान संग्रह' में इस प्रकार की अनेक कवितायें हैं जिनमें 'हाय नहीं यह देखा जाता' 'यह किसका कंकाल पड़ा है' आदि कवितायें विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'यह किसका कंकाल पड़ा है' शीर्षक कविता में मानव जीवन के आर्थिक वैषम्यों के चित्र, पूंजीवादी व्यवस्था से दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करने को बाध्य उन मजदूरों और श्रमिकों के जीवन को चित्रित करने का प्रयास किया गया है, जो ग्रीष्म की प्रचंड धूप में अपने परिवार का पोषण करने के लिए पसीना बहाकर कार्य किया करते हैं। उनकी स्त्रियां अपने दुधमुँहें बच्चों को भी भूमि पर लिटाकर काम करने चली जाती हैं, यहां निम्न पंक्तियों में कवि ने इसी प्रकार के चित्र को बड़ा सजीव स्वरूप प्रदान किया है–

> "पापी पेट पालने में ही स्नेह सरसता छली गई है।
> छाती पर पत्थर धर मां, अभी काम पर चली गई है।

जिसका स्नेह लाडला पथ पर दीन दुःखी अनाथ पड़ा है।
यह किसका कंकाल पड़ा है।"[42]

'विश्वास बढ़ता ही गया' काव्य संग्रह अन्य अनेक सामाजिक वैषम्य के चित्रों के साथ कवि ने परम्परागत धार्मिक मूल्यों एवं मान्यताओं पर भी प्रहार किया है। इससे मार्क्स के इस सिद्धान्त कि **'धर्म मनुष्य के लिए अफीम के समान हैं'** की प्रतिध्वनि निम्न पंक्तियों में सुनाई देती हैं–

"ईश्वर–ईश्वर में आज पड़ गया अन्तर
टुकड़ों–टुकड़ों में बंटा मनुजता का घर
ली ओढ़ धर्म की खोल, पर हृदय सूना
पूजन–अर्चन सब व्यर्थ देवता पत्थर।"[43]

भावावेश की प्रधानता के कारण ही सुमन के काव्य में प्रचारात्मकता तथा उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। 'प्रलय सृजन' की अन्त की कवितायें इसी प्रकार की हैं। 'सोवियत रूस के प्रति' मास्को अब भी दूर हैं' 'स्तालिन ग्रेद' लाल सेना आदि कविताओं में द्वितीय महायुद्ध के समय रूस को मानवता के कल्याण का प्रतीक मानकर ये कवितायें लिखी गई हैं। सोवियत रूस के प्रति' शीर्षक कविता में कवि रूस को नवसंस्कृति के अग्रदूत के रूप में स्वीकार करता है। इन्हीं भावों को कवि व्यक्त करता हुआ कहता है कि–

"नव संस्कृति के अग्रदूत हैं पद दलितों की आस।
एक तुम्हारी गति पर अटकी, मानवता की सांस।
पर अजेय है आज तुम्हारी, पहले से भी शक्ति।
जिसमें मिली विश्व भर के, दलितों की चिर अनुरक्ति।"[44]

इसी प्रकार 'मास्को अब भी दूर है' शीर्षक कविता में कवि ने मास्को को साम्यवादी, मार्क्सवादी, शासन व विचारधारा के आधार स्तम्भ के रूप में वर्णन किया है–

"यह दलितों की तीर्थ भूमि है, युग का प्रबल तकाजा।
सर्वप्रथम साम्राज्यवाद का निकला यहीं जनाजा।
यहां संगठित जन जीवन की, बोला करती तूती।
जिसने युग की बर्बरता को दे दी आज चुनौती।"[45]

कुछ इसी प्रकार की भावनायें, 'विश्वास बढ़ता गया' संग्रह की 'नया चीन' कविता में भी प्रतिध्वनित हो रहा है। कुल मिलाकर 'शिव मंगल सिंह सुमन' की

बहुत सी और भी रचनायें हैं जिनका यहां वर्णन हम नहीं कर पा रहे हैं वे भी मार्क्सवादी साम्यवादी, क्रान्तिकारी दर्शन से अंशतः प्रभावित अवश्य हैं।

## *(घ) रांगेय राघव :*

हिन्दी के प्रगतिवादी काव्यधारा में कविवर रांगेय राघव का एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण प्रदेय है। आपका वास्तविक नाम टी०एन०बी० आचार्य था। साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश करने पर आपने अपना नाम रांगेय राघव अपनाया। हिन्दी साहित्य की समस्त विधाओं में अपनी लेखनी चलाने वाले कविवर रांगेय राघव की कविताओं में प्रगतिशील चेतना, साम्यवादी दर्शन के तत्व पर्याप्त रूप से मौजूद हैं। युग जीवन के यथार्थ वास्तविकताओं, विषमताओं और दुःख दैन्य के चित्रों को कवि ने अपने शब्दों के माध्यम से मार्मिक अभिव्यक्तियां प्रदान की है। 'राह के दीपक' काव्य संग्रह में कवि ने युगीन यथार्थ को चित्रित करते हुए सामाजिक वैषम्य और वर्गवाद का प्रधान कारण पूंजीवादी सभ्यता और संस्कृति को माना है। कवि पूंजीवादी शोषण और अत्याचारों पर प्रहार करता हुआ कहता है:—

> "मैं आज सभ्यता के पुतले, धन दीवानों से पूछ रहा।
> यह क्या सूहर ही बना दिया, हरिजन के बच्चों को तुमने।"[46]

इसी प्रकार—

> "ये मानव के खूनी वैभव ये दुख के अन्तिम चरण चिन्ह
> असमान रूप के महा स्तंभ मानवता के अपमान दंभ।"[47]

'पिघलते पत्थर' और राह के दीपक काव्य संग्रहों में किसानों, श्रमिकों, और उपेक्षित वर्ग के प्रति हार्दिक सहानुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। इस सन्दर्भ में 'पिघलते पत्थर' की 'साम्राज्यवाद के प्रति' 'अमर गीत' 'उफान' 'श्रमिक' आदि। कविताएं उल्लेखनीय हैं जिसमें कवि ने आर्थिक जीवन के वैषम्य के चित्र प्रस्तुत किए हैं। 'उफान' कविता में शोषित वर्ग के प्रति कवि की संवेदनायें दृष्टव्य हैं—

> "क्या कहूँ घुटते हृदय की बात।
> हड्डियों का ढेर, जिस पर ललकते हैं गिद्ध।"[48]

ये गिद्ध और कोई नहीं है, पूंजीवादी आर्थिक शोषण का गिद्ध है। बुर्जुआ पूंजीवादी शोषण से सर्व हारा कृषक मजदूर वर्ग के जीवन के विभिन्न पक्षों को 'मजदूर' कविता में कवि ने बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है—

"मां कंधों पर धरे बेलचे, कहां जा रहे हैं मजदूर।
और चले ये सन्ध्या आते, ऐसे जाने कितनी दूर।
आने—जाने सूखे आनन एक व्यथा से रहते चूर।
जर्जर श्रम मय क्लान्त विक्षुब्ध नत रजमय गन्दे दुःख भरपूर।"[49]

इस प्रकार शोषित कृषक, श्रमिकों की इस हृदय विदारक दशा के मूल में कवि का शोषण के विरूद्ध मार्क्सवादी दार्शनिक चिन्तन झलकता है।

इस शोषण के विरूद्ध सर्वहारा वर्ग से कवि क्रान्ति का आवाहन करता है। का 'वन्दना' शीर्षक कविता में मानव को क्रान्ति का सन्देश सुनाता है—

"विश्व का प्रतीक मानव उठे मानव दीप्तिमय.......
कर शक्ति गर्जन
स्वस्ति वाचन
मुक्ति गायन........
ज्ञान पथ गतिमान सारा विश्व हो द्युतिमान.........."[50]

कवि को यह पूर्ण विश्वास है कि जनशक्ति इस क्रान्ति को लाने में सक्षम होगी, पूंजीवादी व्यवस्था व शोषण का अन्त होगा, इसी आस्था एवं विश्वास को कवि निम्न पंक्तियों में अभिव्यक्त प्रदान की है।

"तो युग—युग का लेकर संगीत, बदलेंगे विनिमय का माध्यम।
हम हैं नव युग के अग्रदूत, शोषक का करने दर्प चूर।"[51]

इसी प्रकार की भावनायें 'स्वस्तिवाचन' मांझी' 'चुनौती' 'राष्ट्र की पुकार' 'तड़कती बेड़ियां, सूर्योदय 'तूफान गरजता है' 'तलवार का गीत' आदि कविताओं में भी अभिव्यक्त हुई है। यहां पर कवि के क्रान्तिवादी स्वर पूर्ण प्रखरता से अभिव्यक्त हुआ है।

"युग युग के चेतना दीप उठा
घर घर लोक मन्दिर छायें। तू फिर से अपना चरण उठा
तू फिर से मैया पहरादे जन—जन मिल मिलकर गायेगा।
तू बांट उठा दे अभय कर, साम्राज्य विकल थर्रायेगा।"[52]

इसी प्रकार का क्रान्तिकारी मार्क्सवादी दर्शन व साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित अनेक कविताओं में ये स्वर स्पष्टतः गूंजे हैं। जो कि पूंजीवादी बुर्जुआ शोषणवादी नीति का वर्ग संघर्ष का समाधान क्रान्ति के माध्यम से करने पर बल देती है। पूंजीवादी व्यवस्था का पतन व साम्यवादी व्यवस्था, समाजवादी विचारधारा की पुर्नस्थापना इन कविताओं का मूल विषय रहा है, रांगेय राघव इन विचारधाराओं को अभिव्यक्ति देने में पूरी तरह खरे उतरे हैं।

### *(ङ) कवि केदारनाथ अग्रवाल :*

कवि केदार की रचनायें हमें युगीन सामाजिक यथार्थ एवं वास्तविकताओं से परिचय कराती है। उनकी कविताओं का व्यापक कैनवास उनके युगदर्शन का परिचायक है। उनकी कवितायें सामाजिक विषमताओं व दुख दैन्य को पूरी मार्मिकता के साथ चित्रित करती हैं। पूंजीवादी शोषण, एवं तद्जनित परिणामों का अंकन उनके काव्य कैनवास पर पूर्णतः अपने यथार्थ स्वरूप में चित्रित हुआ है। 'मार्क्सवादी' दार्शनिक चिंतन से प्रभावित कवि पूंजीवादी सभ्यता एवं संस्कृति का विनाश करना चाहता है, क्योंकि युग की समस्त विषमतायें और उत्पीड़न का कारक यही है। इसीलिए कवि ने अपने काव्य का विषय सर्वहारा वर्ग के उत्थान व श्रमिकों व कृषकों को ही बनाया है। 'युग की गंगा काव्य संग्रह' में 'मजदूर' 'चन्दू' 'चैतू' अङ्गर आदि कविताओं में ग्रामीण जीवन के वैषम्य के चित्रों को वास्तविकता की अनुभूति प्रदान की गई है। 'मजदूर' कविता का एक उदाहरण यहाँ दृष्टव्य हैं–

> "खाते हैं पेट की थैली में गाड़ते,
> रोटी के टुकड़ों को दांत से काटते।
> मांजते हैं बरतन, नंगी ही धरती परसोते हैं।
> कांखते, हांफते, रोज की बदबू में सड़ते हैं दुनियां की।"[53]

इसी प्रकार 'अमीनाबाद' कविता में नागरिक जीवन के विषमताओं का दर्शन हमें हो जाता है। कविता की अन्तिम पंक्तियां निम्न प्रकार हैं–

> "आह! उमड़कर उठती है नंगे भूखों की
> काल रात्रि का 'नाग' नाचता है फन फाड़े
> यही अमीनाबाद है।"[54]

सामाजिक विषमताओं व शोषण को मिटाने के लिए कवि ने क्रान्ति के स्वर को बुलंद किया है। 'युग की गंगा' 'कोयले' शीर्षक कविता में, कोयला श्रमजीवी का प्रतीक है, जो कि जीपन में नवीन चिनगारी के आगमन से शिव के नेत्र के समान लाल हो जल उठे हैं। कवि इन्हीं भावों को व्यक्त करते हुए कहता हैं कि –

> "जल उठे हैं तन बदन से
> क्रोध में शिव के नयन से।
> खा गये निशि का अंधेरा
> हो गया खूनी सबेरा।।"[55]

यहां खूनी सबेरा का निहितार्थ क्रान्ति की पूर्णता से है। वही क्रान्ति जो मार्क्सवादी दार्शनिक विचारधारा का मूल आधार है। 'युग की गंगा' में 'गर्रा नाला' और 'गेहूँ' कविता भी मार्क्सवादी क्रान्तिकारी चेतना से अप्लावित हैं।

> "ऊँचा गेंहूँ डटा खड़ा है,
> ताकत से मुट्ठी बांधे, नोकीले भाले ताने हैं।"[56]

कवि केदार की प्रगतिशील कविताओं में क्रान्ति के उद्बोधनात्मक स्वरों की अभिव्यक्ति मिलती है। 'जनघन' कविता में कवि ने इसी प्रवृत्ति का निर्वाह करते हुए क्रान्तिपूर्ण स्वरों का आवाहन किया हैं–

> "घन गरजे जन गरजे बंदी सागर को लख कातर।
> एक रोष से घन गरजे जन गरजे।"[57]

जीवन और जगत की क्रूरताओं से क्षुब्ध कवि ने उसके विरूद्ध आक्रोश में आकर उपेक्षा और विद्रोह के क्रान्तिकारी स्वरों को अभिव्यक्ति प्रदान की है–

> "ऐ दधीचों शक्ति का डंका बजाओ, शान्ति का उल्लासमय सूरज उगाओ।
> लाल सोने का सबेरा चमचमाओ लेखनी के लोक में आलोक लाओ।"[58]

'यहाँ लाल सोने का सबेरा' में लाल रंग क्रान्ति का प्रतीक है। इसी प्रकार 'लोक और आलोक काव्य संग्रह में अनेक ऐसी कविताएं है जिसमें कवि ने प्रखर और क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का परिचय दिया है। "किसान" कविता में कवि किसानों को सम्बोधित करते हुए क्रान्ति का आवाहन करता है–

> "आजादी की हर तड़पन को बारम्बार जिलाये जा,
> अपनी कुटिया की चिनगारी से सबको आग लगाये जा।"[59]

यहां कवि ने साम्यवादी शासन की स्थापना के लिए पूंजीवाद के विनाश को आवश्यक माना है। इसके लिए कृषक मजदूरों को क्रान्ति द्वारा आत्म बलिदान द्वारा इस पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ना होगा तभी मार्क्सवादी दर्शन का अन्तिम लक्ष्य समानता आ सकेगी, भले ही इसके लिए उसे अपना सर्वस्व स्वाहा ही क्यों न कर देना पड़े।

इसी प्रकार 'हथौड़े का गीत' शीर्षक कविता में कवि बंधन की दीवारें तोड़ने के लिए कहता है—

> "मार हथौड़ा कर कर चोट
> लोहू और पसीने से ही,
> बंधन की दीवारे तोड़।"[60]

कवि केदार की वाणी में पर्याप्त निर्भीकता एवं आक्रोश है। वह मानव को उसकी यथास्थिति, या भाग्य के भरोसे नहीं पड़े रहने की बात करते हैं, बल्कि उसे कर्म के महत्व को समझाते हुए क्रान्ति करने और उसके परिणाम स्वरूप लाल सुबह जो कि क्रान्ति का परिणाम और रूसी क्रान्ति का प्रतीक भी है को गले लगाने की बात करता है। इस प्रकार कवि केदार मार्क्सवादी दार्शनिक और वैचारिक पृष्ठभूमि पर पूरी तरह खरे उतरते हैं—

> "आँधी के झूले पर झूलो आग बबूला बनकर फूलो।
> कुरबानी करने को झूलो, लाल सबेरे का मुंह चूमो।।"[61]

कवि केदार के सम्बन्धों में श्री रामेश्वर शर्मा लिखते हैं कि केदार के विषय में जैसा कि पूर्व कहा गया, हिन्दी में अन्य सभी कवियों की अपेक्षा वे अधिक सफल हुए हैं इसका कारण उनकी ग्राम जीवन से निकटता है यथार्थ भेदिनी दृष्टि तथा उनका महान जनवादी दृष्टिकोण है।"[62]

'कटुई का गीत' कविता की कुछ पंक्तियां इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं—

> "काटो काटो करबी साइत और कुसाइत क्या है?
> जीवन से बढ़ साइत क्या है?
> मारो मारो मारो हँसिया। हिंसा और अहिंसा क्या है?
> जीवन से बढ़ हिसां क्या है?"[63]

इस प्रकार 'मार्क्सवादी दार्शनिक विचारधारा' को अपने काव्य सृजन में समाहित करके कवि केदारनाथ अग्रवाल ने प्रगतिशील व प्रगतिवादी हिन्दी काव्य धारा को एक नवीन दिशा एवं गति प्रदान की है।

## *(च) कवि त्रिलोचन :*

कवि त्रिलोचन की सामाजिक संस्कारशीलता उनकी प्रगतिवादी कविताओं में जो मार्क्सवादी दर्शन से पूरी तरह प्रभावित हैं देखी जा सकती है। ये रचनायें सामाजिक पृष्ठभूमि को ग्रहण करके सामाजिक वैषम्य के चित्र प्रस्तुत करती हैं। कवि की धारणा यह है कि सामाजिक जीवन में अशान्ति एवं संघर्ष का मूल कारण पूंजीवाद है। पूंजीवादी समाज शोषक और शोषित दो वर्ग में विभाजित है, और इन दो वर्गों में प्रारम्भ से ही संघर्ष होता रहता है। वर्ग संघर्ष के द्वारा सर्वहारा श्रमिक वर्ग पूंजीवादी शोषक शक्तियों के विरूद्ध क्रान्ति का आवाहन करता है और मार्क्स के दर्शन के अन्तिम लक्ष्य साम्यवाद (समानता) को प्राप्त करने की चेष्टा करता है–

"पूंजीवाद का इतिहास बढ़ता है
साम्राज्यवाद घोषित करता है।
कुल का अभिमान और सुख संग्रह
करने का वैयक्तिक उत्साह उसका उत्तेजक हैं।"[64]

इस पूंजीवादी शोषक स्वरूप से मुक्ति के लिए कवि त्रिलोचन क्रान्ति का आवाहन किया :–

"बिना पूंजीवाद को मिटाये किसी तरह भी
यह जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता।
ज्ञान विज्ञान से किसी प्रकार
कोई कल्याण नहीं हो सकता।"[65]

सारी समस्या की जड़ यही पूंजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था ही है। इसे उखाड़ फेंकने के बाद ही समाज वर्गमुक्त, शोषण मुक्त, हो सकेगा और श्रमिकों को उनके श्रम का उचित मूल्य मिल सकेगा। क्षमता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुरूप उपभोग एवं सभी के साथ समानता का भाव, यही मार्क्सवादी दर्शन का मूल आधार है। जिसका अन्तिम लक्ष्य साम्यवाद है। यह

लक्ष्य क्रान्ति के माध्यम से पूंजीवाद के विनाश के बाद ही प्राप्त हो सकता है। कवि के इसी क्रान्ति के आवाहन को निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है—

"कर नूतन निर्माण, दिखा कुछ तू अपने पौरुष का कर्तव्य।
पराधीनता विविध तोड़कर दिखा नयी गति का उपक्रम अब।"[66]

कवि का गहन आत्मविश्वास, सामाजिक लक्ष्य की ओर बढ़ने की उसकी अप्रतिम ईमानदारी, उसकी सामाजिक यथार्थवादिता, उसकी कविताओं से उभर—उभर उठती हैं। कवि का प्रमुख लक्ष्य जनमन की शक्ति को जागृत करना है और उसकी उत्कट अभिलाषा सामाजिक वैशम्यता की कुरीतियों को दूर करके नवीन साम्यवादी संस्कृति की स्थापना की है। निम्न पंक्तियों में कवि का यही सच्चा मानवतावादी स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है।

"होवें स्वतन्त्र नारी नर, हो सामंजस्य अमलतर।
मैं गान विजय के गाऊँ, जन जन की शक्ति जगाऊँ।"[67]

और यही भावना 'गुलाब और बुलबुल' की गजलों में भी कवि ने अभिव्यक्त किया है —

"दु:ख को, दम्भ को, ईर्ष्या को छुद्र लिप्सा को,
नष्ट करने के लिए नव मनुष्य आया है।"
× × × × ×
फूल मैत्री के खिले हैं, सुगन्ध छाई हैं,
आज उल्लास मनुज ने नवीन पाया है।"[68]

कवि त्रिलोचन के समाजपरक कविताओं में ग्रामीण जीवन के विभिन्न पक्षों के चित्र भी देखने को मिलते हैं —

"हल्की पुरवैया आती श्रम जल उनका हर जाती।
विकसित कर उनकी छाती, वे और अधिक श्रम करते।"[69]

इसी प्रकार 'धरती' की अन्य कविता 'मोरई केवट के घर' तथा 'उठ किसान ओ' और 'चम्पा काले अक्षर नहीं चीन्हती' आदि ग्रामीण जीवन के मार्मिक और सजीव चित्र कवि ने प्रस्तुत किए हैं।

जैसे—जैसे जन शक्ति में कवि का विश्वास बढ़ा है उसके स्वरों में क्रान्ति की तीव्रता भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यहां तक कि वह सामूहिक रूप से जनता

को उद्‌बोधित करते हुए बिगुल बजाते हुए आगे बढ़ने को भी ललकारने में सन्नध हो उठा है—

> "बिगुल बजाओ और बढ़ चलो, यह सम्मुख मैदान पड़ा है।
> मानवता के मुक्ति दूत तुम, कौन तुम्हारे साथ अड़ा है।
> यह संघर्ष काल आया है आई जय यात्रा की बेला।"[70]

इसी प्रकार पूंजीवादी साम्राज्यवादी शक्तियों पर विजय के लिए कवि ने समस्त बाधाओं को कर्मनिष्ठता, ध्येय निष्ठता, और धैर्यनिष्ठता पर विशेष बल दिया है और पूर्ण विश्वास के साथ जन जागरण की शक्ति का आवाहन करता है—

> "प्रति प्रति पग ध्वनि पर नव जीवन का गर्जन
> प्रति प्रति ललकारों में अभिनव नव सर्जन
> तुम बढ़ो—बढ़ो धुन तत्पर फहरा रक्त—ध्वज अम्बर।
> मैं गान विजय के गाऊँ जन जन की शक्ति जगाऊँ।"[71]

कवि को पूरा विश्वास है कि बिना जनमन जागृति के मार्क्सवादी साम्यवादी आदर्श को नहीं प्राप्त किया जा सकता है, इसी संकल्प के साथ कवि ने हमेशा ही उस क्रान्ति का आवाहन किया है और रूसी साम्यवादी क्रान्ति की लाल ध्वजा को आकाश में फहरा देने की बात हमेशा किया है। समग्र रूप से आकलन किया जाये तो कवि त्रिलोचन को मार्क्सवादी चिन्तन से प्रभावित प्रगतिवादी रचनाकारों में प्रमुख स्थान पर रखते हैं। इस प्रकार कवि त्रिलोचन का काव्य प्रगतिशील चेतना से अप्लावित, मार्क्स दर्शन से प्रभावित, जीवन की विषमताओं, शोषण व आक्रोश की सन्तुलित अभिव्यक्तियों का परिचायक है उनका काव्य छायावादोत्तर नयी काव्य सम्पत्ति में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।

पिछले पृष्ठों में प्रगतिवाद के जिन कवियों का मार्क्सवादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्वतन्त्र विवेचन किया गया है, वे प्रगतिवादी काव्य के प्रतिनिधि तथा प्रधान रचनाकार कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी के अन्य स्फुट कवियों ने यथा 'शील' नरेन्द्र शर्मा, मुक्ति बोध, अंचल शंकर शैलेन्द्र, रामदयाल पाण्डेय व अन्य कवि हैं जिन्होंने इस युग में प्रगतिवादी भूमियों में रहकर सामाजिक चेतना के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। विशुद्ध प्रगतिवादी भूमिका पर न होने पर भी उनका काव्य प्रगतिवादी संस्कारों की अभिव्यक्ति करता है।

## (iii) मनोविश्लेषणवाद

मन के विश्लेषण के लिए उसकी समस्त गतिविधियों जो व्यक्ति विशेष की प्रवृत्तियों का सूचक है का उल्लेख आवश्यक रहता है। कविता क्षणिक मनोभावों की अभिव्यक्ति है। इसमें एक विचार या एक अनुभूति को छोड़ किसी व्याख्यान के लिए अवकाश नहीं रहता है और किसी एक अनुभूति के आधार पर कोई निर्णय भी नहीं दिया जा सकता। कविता का मनोविश्लेषणवाद के आधार पर विवेचन करना संभव नहीं है। उसके पीछे वह व्यापक पृष्ठभूमि नहीं है जो मनोविश्लेषणात्मक विवेचन के लिए अपेक्षित है।

साहित्यिक कृतियों के लिए किसी दार्शनिक चिन्तन का आधार ग्रहण किया जाना कोई नई बात नहीं है। संसार की प्रत्येक भाषा के साहित्य में ऐसी कृतियों के उदाहरण मिल जायेंगे जिनके मूल में कोई दर्शन निहित हो। हिन्दी साहित्य का तो अधिकांश ही ऐसी रचनाओं का है। साहित्य, प्रचार का माध्यम नहीं है, और न किन्हीं दार्शनिक या राजनीतिक सिद्धान्तों का घोषणा पत्र हैं, लेकिन कोई कृति यदि साहित्य की शर्तों को पूरा करते हुए दर्शनिक आधार ग्रहण करती है, तो उसका कलात्मक मूल्यांकन घटता नहीं है।

साहित्य के सन्दर्भ में मनोविश्लेषणवाद का अध्ययन करने से पूर्व इस वाद की व्याख्या आवश्यक है, जो साहित्य में अनुभूति का विषयीगत और आत्मनिष्ठ रूप है।

मनोविश्लेषणवाद के तीन प्रमुख याख्याता हैं— फ्रायड, एडलर और जुंग।

### *(क) फ्रायड*

फ्रायड मूलतः एक चिकित्सक थे जो मानसिक रोगों पर विशेष ध्यान देते थे। मानव व्यक्तित्व में चेतन के अतिरिक्त एक और स्तर होता है जिसे अचेतन कह सकते हैं। इन दोनों के बीच एक अभेद्य सी मालूम देने वाली दीवार है जिसे तोड़कर अचेतन मन में प्रवेश किया जा सकता है। उन्हीं तीन स्तरों को फ्रायड ने अचेतन, अर्धचेतन और चेतन (Unconcious, Sub councious, Concious) कहा है। अचेतन की कल्पना फ्रायडियन मनोविश्लेषण का आधार भूत सिद्धान्त है। मष्तिष्क का तीन चौथाई यही अचेतन है और मनुष्य के विचार, रहन–सहन के ढंग की स्वाभाविकता या अस्वाभाविकता का मूल प्रेरक यही

अचेतन हैं हमारे व्यावहारिक जीवन के सारे कार्यकलाप अचेतन से प्रभावित रहते हैं, इसी कारण मानसिक रोगों के उपचार में अचेतन का अनावरण आवश्यक है। अचेतन मन वह भाग है जिसमें असामाजिक, अनैतिक, एवं अनुचित इच्छाएं बन्द रहती हैं अचेतन का विषय सामान्यतया दुःखदायक, असह्य एवं अमान्य होता है। अतः चेतन मन में यह अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट न हो करके आवृत रूप में अभिवयक्त होता हैं प्रतीकों के रूप में यह स्वप्न आदि के माध्यम से निरन्तर अचेतन के कारागार से मुक्त होने की चेष्टा करता है। किन्तु मौलिक होने के कारण इनका बहिष्कार नहीं हो सकता। निरन्तर वेश बदलकर ये चेतना में प्रगट होते हैं।

फ्रायड ने सम्मोहन, स्वतन्त्र साहचर्य, स्वप्नों के तात्पर्य निरूपण तथा मनोविश्लेषण के द्वारा दमित इच्छाओं को मुक्त करते हुए नवीन मनोचिकित्सा को जन्म दिया। उन्होंने मनोविकृति एवं असामान्य मानसिक अनुभूतियों के बारे में सर्वथा नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया है। उनके पश्चात् अब सामान्यतः यह माना जाने लगा है कि कामवासना व्यक्तित्व के निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। संस्कृति एवं विचारों का निर्माण काम वृत्ति से प्रभावित होता है तथाकथित उच्च विचार भक्ति एवं आदर्श प्रेम आदि वास्तव में काम वृत्ति के विविध रूप है।

अर्ध चेतन वर्तमान में ज्ञान और अनुभूति का विषय नहीं हो सकता है। पर थोड़े प्रयत्नों से अनुमान्य हो सकता है। मष्तिष्क में सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण अंश अचेतन में जन्म लेता है। उसमें अब तक की अनुभूतियां रहती है, जिन्हें विशिष्ट प्रयत्नों से पाया जा सकता है।

मानव प्रकृति के विषय में फ्रायड के विचार के अनुसार "समाज अकेले व्यक्तियों का समूह है, जो केवल सर्वश्रेष्ठ को जीवित रहना चाहिए के आधार पर एक दूसरे के प्रति हिंस्र और क्रूर रहते है और केवल अपनी सुरक्षा के लिए संगठित होते हैं। उनकी इन हाथी दाँत की मीनारों के पीछे वह दुर्गन्धित गुफा रहती है जहां अपनी शारीरिक आवश्यकताओं या वैयक्तिक सम्बन्धों का व्यापार अपने स्वार्थ के लिए निर्दयता से कर सकते हैं और इन लाभों की आनन्द प्राप्ति के लिए अपने मन की निबिड़तम कंदरा में जा सकते हैं, जहां किसी प्रकार की बाधा न हो।"[72]

फ्रायड काम वासना को मानव जीवन की मूल प्रेरक शक्ति मानते हैं। जीवन के समस्त रूपों में यह यौन प्रवृत्ति के रूप में विद्यमान रहती है। ''द फ्यूचर आफ इलूजन' में फ्रायड ने धर्म के स्वरूप की विस्तृत मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। बालक के विकास की तीन अवस्थाओं में भेद करते हुए फ्रायड 'ओरल' तथा 'अनल' अवस्थाओं को प्रारम्भिक मानते हैं। 'फैलिक' अवस्था में बालक के अदर माता–पिता के प्रति विशिष्ट भावों का विकास होता है। इस अवस्था में बालक में माता के प्रति एवं बालिका में पिता के प्रति अनुराग विकसित होता है। फ्रायड इसे मातृ मनो ग्रन्थि (Ocdipus Complex) कहते हैं। इस ग्रन्थि में बालक अपने विरोधी लिंग के प्रति आकर्षित होता है। बालिका पिता की ओर आकर्षित होती है इसे पितृ मनो ग्रन्थि (Electea Complex) कहा जाता है। बालिका का बालक की ही भांति विरोधी लिंग के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक है। फ्रायड के अनुसार समस्त प्रेम यौन भाव अथवा काम वासना पर आधारित है।

फ्रायड के विचार में व्यक्ति एक सामाजिक अणु है जिसे समाज की आवश्यकता केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के समय होती है। जीवत्व में उनके विश्वास ने इस मत की स्थापना की, कि व्यक्ति हर कष्ट का कारण स्वयं है, ये कष्ट विपरीत सामाजिक या आर्थिक स्थितियों की उपज नहीं हैं। मूल पाप के ये स्पष्टीकरण क्रान्ति के बाद समाज ने अस्वीकृत कर दिए। उनके विचार में मनुष्य स्वभावतः अच्छा है, स्वतन्त्र है, समान है और अनन्त संभावनाओं से युक्त है अतः जितने भी कष्ट उसे भोगने पड़ते हैं उनका कारण वैयक्तिक न होकर समाज या परिवेश ही है।

मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को परिचालित करने वाली काम वृत्ति को फ्रायड ने लिबिडो (Libido) कहा है। यह बड़ी शक्तिशालिनी होती है और बाह्य जीवन में अपनी अभिव्यक्ति के लिए सदा उत्सुक रहती है। यह काम मूला और स्वार्थमूला है और समाज की धारणाओं से मेल नहीं खाती, अतः हमारा चेतन इस पर नियन्त्रण रखता है। यह स्थूल काम भावना से सम्बन्धित नहीं है, इसकी सीमा में मनुष्य के सारे उत्साहपूर्ण कार्यकलाप, प्रेम घृणा सब आ जाते हैं।

पूर्णतः विकसित अनुमान दो प्रकार की मनोवृत्तियों का उल्लेख करते हैं जीवनेच्छा (इरोज) और मृत्यु भावना (थांटोज) जिसे बाद के लेखकों ने मार्टिजेया डिस्ट्डो कहा। जीवनेच्छा आत्म रक्षण की भावना है और मृत्यु भावना

लिबडो से बहुत भिन्न है और अपने विरूद्ध पाश और आक्रमण का प्रतीक है, सदा मृत्यु के प्रति अग्रसर करती रहती है और अन्त में सम्पूर्ण स्वाधीनता और तनावहीनता की स्थिति में पहुँच जाती है। आत्म प्रेरित हिंसा क्योंकि व्यक्ति के लिए खतरनाक है अतः उसकी भयावहता को कम करने के लिए सतत् प्रयत्न अनिवार्य है जो दो प्रकार से किया जा सकता है। उसे लिबिडो से सम्बद्ध करके जिसके परिणाम स्वरूप उसका रूप आत्म पीड़न या परपीड़न का सुख हो जाता है, अथवा बाहर दूसरों के प्रति उसे उन्मुख करके।

वास्तविक व बाह्य संसार और सभ्यता की मांगों के अनुसार व्यक्तित्व को परिवर्तित करने वाला अंश मनोभाव कहलाता है। यह हमारी सहज और स्वाभाविक अन्तः प्रेरणाओं पर नियन्त्रण रखता है और उन्हें परिमार्जित और परिषोधित करके ही क्रियाशील होने की अनुमति देता है। मष्तिष्क के उस प्रदेश को जहां मनुष्य की आरम्भिक प्रेरणाएं और प्रबल इच्छाएं निवास करती हैं, प्राकृतिक स्वत्व कहा जाता है जिसमें अव्यवस्था होती है। 'इगो' या 'अहम्' व्यक्तित्व का चेतन व बौद्धिक अंश है। इसकी सारी क्रियाएं एवं नियन्त्रण जान–बूझकर होते हैं। पर एक अवसर ऐसा आता है कि 'अहम्' द्वारा नियन्त्रण की क्रिया होती है जिसका उसे ज्ञान नहीं होता। यह एक तरह से अचैतन्य चेतन (Unconscious Conscious) है जिसे फ्रायड ने नैतिक अहम् (परा अहम्) या (Super Ego) सुपर इगो कहा है।

फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद में निहित भाव यही है कि मानव जीवन में कामभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, समस्त प्रेम यौन–भाव अथवा काम भाव पर आधारित है, भक्ति, योग तथा साहित्य साधना में निहित प्रेम भी वास्तव में वासना परक होता है। यहां तक कि धर्म को भी व्यक्ति की अतृप्ति वासना का एक माध्यम माना है जो कि अन्य माध्यमों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत, सामाजिक एवं नैतिक होता है। संक्षेप में व्यक्ति के समस्त क्रियाकलाप यौन भावनाओं से प्रेरित होते हैं, यही फ्रायड के दर्शन का मूल तत्व है।

### *(ख) एडलर*

एडलर का मूल विचार था कि मानव होने का अर्थ हीनता की भावना से ग्रस्त होना है जो अन्त में विजयी होता है।

जो बालक उपेक्षित, बिगड़ा हुआ या घृणा का पात्र होता है वही हीनता की शक्तिशाली ग्रंथियों से ग्रस्त रहता है और प्रसन्नता के वातावरण में भी वह बालक अपने को क्षुद्र, असहाय और वयस्कों की दया का पात्र समझता है। हीनता की भावना की पूर्ति के लिए बालक जीवन के आरम्भिक वर्षों में ही परिवार की स्थितियों से जूझने के लिए कुछ विशेष बचाव खोज लेता है। अपने प्रतिदिन के अनुभवों के आधार पर वह ऐसा दृष्टिकोण बना लेता है जिसे एडलर ने जीवन शैली कहा है। इसी जीवन शैली के आधार पर उसका वैयक्तिक विकास होता है।

एडलर के विचार वैयक्तिक मनोविज्ञान (Individual psychology) कहलाते हैं, और फ्रायड द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर उनकी आस्था नहीं है। लिबिडो को एडलर काम वासना न मानकर विजय–वासना मानते हैं। उनके अनुसार हर व्यक्ति में दूसरे पर विजय पाने की, दूसरे से श्रेष्ठ रहने की भावना विद्यमान रहती है। यही विजय कामना मानसिक विकृतियों का कारण है जिसके प्रभाव स्वरूप मनुष्य में जिस जीवन–शैली का निर्माण हुआ है उसमें सामाजिक और वैयक्तिक आदर्श प्रेमपूर्वक नहीं रह सकते। व्यक्ति का उच्चता का ध्येय सामाजिक जीवन के विरूद्ध पड़ता है। हीनता ग्रंथि सब में होती है और इसी के कारण मानव की जीवन शक्ति का निर्माण होता है।

## *(ग) जुंग*

जुंग की (Analytic of Psychology) फ्रायड के मनोविज्ञान की उपशाखा कही जा सकती है। जुंग का दृष्टिकोण एक दार्शनिक और रहस्यवादी जैसा है। फ्रायड द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अचेतन, दमन, प्रतीकात्मक स्वप्न आदि सब पर इनका विश्वास है पर कुछ परिवर्तित अर्थ में।

अचेतन के जुंग ने व्यैक्तिक चेतन (Personal Conscious) और समस्त चेतन (Racial conscious) दो स्तर किए हैं। वैयक्तिक चेतन भोगेच्छु, स्वार्थी, वीभत्स और क्रूर मूल वृत्तियों का तथा दमित भावनाओं का रहस्यागार है पर यदि मन के अंतःपटल को भेद कर देखा जाए तो उसमें एक समष्टि मन का स्तर मिलता है जो हमारी सारी सौंदर्यप्रियता, नीतिमत्ता और खूबियों का आदिस्रोत है। हमारे चेतन मन को जिन खूबियों और भलाइयों का ज्ञान रहता है वे अपने तात्विक रूप में समष्टि मन में वर्तमान रहती हैं। अचेतन जिस तरह

हमारी अनैतिक भावनाओं का आगार है उसी तरह नैतिक का भी है। उसी व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्ण विकसित होता है जिसके वैयक्तिक अचेतन और समष्टि अचेतन में पूर्ण सामंजस्य हो। इस सामंजस्य की स्थापना के बाद मनुष्य की प्रतिभा को अधिक से अधिक क्रियान्वित होने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। फ्रायड के द्वारा निर्धारित दमित भावनाओं का आगार, अचेतन मन को मानते हुए भी जुंग कहते हैं कि इसके बाहर, समष्टि मन भी होता है जिसका दमित भावनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें निवास करने वाली भावनाएँ अस्पष्ट, निराकार, अनियंत्रित और अनिर्वचनीय होती है पर यह मानव जाति में निसर्ग से प्राप्त है और युग–युग से मनुष्य में निवास करती आई है। सत्य की खोज, अदृश्यशक्ति में विश्वास, देवत्व और ईश्वरत्व में आस्था, दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक उत्प्रेरणाओं का निवास चेतनातीत समष्टि अचेतन में रहता है और हमारी चेतना को भी प्रभावित करता है।

जुंग का सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त वह है जिसमें उन्होंने व्यक्ति को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दो प्रकारों में बाँटा है। अन्तर्मुखी व्यक्ति विचारों में लीन रहता है और उसकी कल्पना जाग्रत रहती है, सामाजिकता की उसमें कमी होती है, भावावेग में वह कम आता है, और नीरस होता है। बहिर्मुखी व्यक्ति सदा प्रसन्नचित्त, संसार के कार्यों में अभिरूचि रखने वाला, सामाजिक प्रवृत्ति का होता है, उसमें कल्पना का अभाव होता है और कभी–कभी निरुत्साहित भी हो जाता है। उलझे और खंडित व्यक्तित्व, संक्रांत संवेदना और खंडित बिम्बों की प्रचुरता मनोविश्लेषण का ही प्रभाव है।

## (iv) प्रगतिवादी कविता पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का प्रभावः

छायावादोत्तर व्यक्तिवादी कविता किन्हीं अंशों में उत्तर छायावाद अर्थात छायावाद के ही विस्तार का प्रमाण देती है। प्रगतिवाद का आधार मार्क्सवाद है। मार्क्सवाद समष्टिवाद, साम्यवाद का पोषक है। जबकि छायावाद व्यक्तिवाद का।कोई भी नवीन विचारधारा जब पूर्ववर्ती विचारधारा के बाद आती है, तो वह नवीन विचारधारा पूर्ववर्ती विचारधारा को पूरी तरह से समाप्त नहीं कर पाती है, प्रधानता अवश्य प्राप्त कर लेती है। हिन्दी साहित्य का इतिहास इसी व्यक्तिवाद एवं समष्टिवाद के द्वन्द्व का इतिहास रहा है। छायावाद व्यक्तिवादी विचारधारा

का पोषक रहा तो प्रगतिवाद समष्टिवादी विचारधारा का पोषक रहा है। प्रयोगवाद में पुनः व्यक्तिवाद को प्रधानता मिली, किन्तु अन्तिम समय में समष्टिवाद एवं व्यक्तिवाद का समन्वय अस्तित्ववाद के रूप में स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि व्यक्तिवादी विचारधारा छायावाद, उत्तर छायावाद में स्वप्नवादिता निराशा, आदि को प्रगतिवादी कवि फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी दर्शन से प्रभावित हो करके वायवीयता के स्थान पर मांसलता प्रदान करता है। जहां इसमें एक ओर मांसलता और अराजकतावादी दृष्टिकोण है तो वहीं दूसरी ओर इसमें गार्हस्तिक प्रेम की पावनता और शिवत्व के दर्शन भी होते हैं। चूँकि प्रगतिवादी कविता की मूल दृष्टि समष्टिवादी मार्क्सवादी रही है, इसलिए व्यक्तिवादी मनोविश्लेषणवादी दर्शन से प्रभावित कविता इसमें बहुत ही कम नाम मात्र की मिलती है। प्रगतिवादी कविता की गहन सुचिन्तित सामाजिक चेतना ने प्रेम सम्बन्धों को भी प्रभावित किया। गार्हस्तिक प्रेम की कविताओं का आदर्श 'सिन्दूर तिलकित भाल है' केवल वासना का उफान नहीं हैं–

> "बज उठता है सांसों का स्वर, प्रेम तान से भीतर बाहर।
> मन ताकता पुतली में आकर, मैं पाता सुख अंग लगाका,
> मुझको तेरा साथ चाहिए।"[73]

इस कविता में श्रृंगार भावना के संतुलित रूप के दर्शन हुए हैं। इसमें न तो उत्तर छायावादी कविता जैसी कसक और आहें मिलती हैं और न ही प्रयोगवादी कविता का दमित मनोविश्लेषणवादी दर्शन से प्रभावित यौन भावनाओं का चित्रण जिसमें उत्तेजना तो है लेकिन शमन नहीं।

इन सबके विपरीत कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें गार्हस्तिक प्रेम की अभिव्यक्ति का आग्रह नहीं है, बल्कि दमित वासना व मांसलता की गंध आती है। सिन्दूर तिलकित भाल को याद करने वाले कवि की ही 'वह तुम थीं' कविता इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं, और इस जैसी अन्य कविताओं में–

> "चाहिए किसको नहीं सहयोग, चाहिए किसको नहीं सहवास।"[74]

इस पंक्ति में छायावादी पलायन, रूमानी कल्पना विलास एवं प्रेक्षण नहीं है, यथार्थवादी मांसल ठोस अनुभूत स्थितियों का वर्णन है।

"झाड़ी के एक खिले फूलने नीली पंखुरियों के,
एक खिले फूल ने मुझे काट लिया।
ओठ से और मैं अचेत रहा धूप में।"[75]

इसी प्रकार नागार्जुन की एक कविता से प्रगतिवादी ऐंद्रियता और भाव प्रवणता के संश्लेषण की गहनता और ऊष्म उद्वेलन का अनुमान लगाया जा सकता है–

"तुम नहीं हो पास, मैं तरसता हूँ, प्यार के दो बोल सुनने के लिए।
एक की ही दस अंगुलियाँ नहीं है काफी कदाचित।
रेशमी परितृप्तियों का जाल बुनने के लिए।"[76]

नागार्जुन की प्रेयसी कविता भी इस सम्बन्ध में दृष्टव्य हैं–

"पास ही सोई पड़ी श्लथ कुन्तला
प्रेयसी की थप–थपाई पीठ
जग गई तो दिखाकर तारे दो चार
कहा मैंने पकड़ उसका हाथ।
दो घड़ी का हमारा इनका रहा है साथ
हो रहे विदा, गा दो सुमुखि एक विहाग।"[77]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगतिवादी कविता जहां एक ओर सूक्ष्म रूप से मनोविश्लेषणवादी दर्शन से प्रभावित है लेकिन उसका स्वरूप बहुत कुछ मर्यादित रहा है। उसमें एक आन्दोलन स्वरूप नारी मुक्ति के उद्घोष का स्वर भी व्याप्त है। नारी के जननी, सखी, और प्यारी' सभी रूपों को मान्यता देकर उसने स्त्री को प्रेम के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व स्वतन्त्रता दिलाने की इच्छा जाहिर की है–

"अंगों की अविकच इच्छाएँ रहे न जीवन पातक,
वे विलास में बने सहायक होवें प्रेम प्रकाशक।"[78]

वस्तुतः प्रगतिवादी कवियों ने यौन जनित मांसल भावनाओं का चित्रण तो किया, लेकिन यह चित्रण बहुत ही अल्प मात्रा में मिलता है, और जो है भी वह उतना प्रखर नहीं है, उस पर मार्क्सवादी दर्शन, मुक्ति, आदि का आवरण अवश्य है।

# सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


1. पंत–युगवाणी राजनाथ शर्मा : हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृष्ठ–638
2. केदारनाथ अग्रवाल : फूल नहीं रंग बोलते हैं।
3. वही।
4. वही।
5. शमशेर बहादुर सिंह : घिर गया समय का रथ।
6. नागार्जुन :
7. नागार्जुन : युगधारा : आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास बच्चन सिंह : पृष्ठ–250 से उद्धृत।
8. केदार नाथ अग्रवाल
9. नागार्जुन।
10. केदार नाथ अग्रवाल : कड़ई का गीतः बच्चन सिंह : आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ–252 से उद्धृत।
11. नरेन्द्र शर्मा : प्रो0 मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास पृष्ठ–305 से उद्धृत।
12. राजनाथ शर्मा : हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास,पृष्ठ–634 से उद्धृत।
13. वही।
14. वही।
15. वही, पृष्ठ 635।
16. वही पृष्ठ–635।
17. Cocker, op. Cit P-45
18. मेल्विन सीमेन ("On the meaning of alination" A merican socilogical review December, 1959. P.-61)
19. (Economic and Philosophical Manu Seript 1844, P-28)
20. (Marx and Engels on Religion-P.-38)
21. मार्क्सवादी लेनिनवादी दर्शन, अनुवादक नजरूल हसन लोक साहित्य प्रकाशन–1981, पेज–47

22. मार्क्स–ऐंगेल्स कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 3, प्रोग्रेस पब्लिकेशन पृष्ठ–175

23. धर्म, मार्क्स और ऐंगिल्स, अनुवादक रमेश सिन्हा इकियन पब्लिशर्स लखनऊ 1972 पृष्ठ–80।

24. नया हिन्दी साहित्य काव्य : डॉ0 शिव कुमार मिश्र : पृ० 187, उद्धृत श्री उमेश चन्द्र मिश्र (1964) ग्रन्थम, पृ० 153 ।

25. सतरंगे पंखों वाली : नागार्जुन, पृ० 19 ।

26. सतरंगे पंखों वाली : नागार्जुन, पृ० 21 ।

27. प्यासी पथराई आँखें : सतरंगें पंखों वाली : पृ० 18 ।

28. हंस–जून : 1948 अंक 1 पृ० 640 ।

29. हंस गई – 1949 – अंक 8 पृ० 492 ।

30. प्यासी पथराई आँखे पृ० 21 ।

31. सतरंगे पंखों वाली नागर्जुन, पृ० 28 ।

32. हंस : अप्रैल, 1948, अंक 7 ।

33. रूप तरंग : राम विलाश शर्मा 'आशा' शीर्षक, पृ० 46।

34. रूप तरंग, पृ० 8।

35. रूप तरंग–पृ० 10 ।

36. रूपतरंग : हड्डियों का ताप : शीर्षक कविता से, पृ० 19।

37. रूप तरंगः हड्डियों का ताप : शीर्षक कविता से, पृ० 20 ।

38. रूप तरंग : पृ० 74 ।

39. पंजाब हत्या कांड शींषक कविता ।

40. जीवन के मान : सुमन : यह किसका कंकाल पड़ा है : शीर्षक कविता, पृ० 86 ।

41. प्रलय सृजन 'कलकत्ते का अकालः शीर्षक कविता : पृ० 75 ।

42. जीवन के गान, पृ० 86 ।

43. प्रलय सृजन, पृ० 2।

44. प्रलय सृजन : सोवियत रूस के प्रति : शीर्षक कविता से, पृ० 4, 5 ।

45. प्रलय सृजन : मास्को अब भी दूर हैं, पृ० 63–64 ।

46. राह के दीपक : 'सूहर' कविता से, पृ० 47 : रांगेय राघव।

47. पिघलते पत्थर, 'बहुत दूर' कविता से: पृ० 6 रागेय राघव।

48. पिघलते पत्थर : उफान, कविता हो : श्री रांगेय राघव, पृ० 75 ।

49. राह के दीपक : 'मजदूर' कविता।

50. पिघलते पत्थर, पृ० 17 ।

51. रूप छाया, पृ० 3 ।

52. पिघलते पत्थर, पृ० 17 ।

53. युग की गंगा, पृ० 36 ।

54. युग की गंगा, पृ० 33 ।

55. युग की गंगा, पृ० 49 ।

56. हिन्दी की स्वच्छन्द और प्रगतिशील काव्यधारा तथा तत्सम्बन्धी वादों का सापेक्षिक अध्ययन : श्री राजेन्द्र मिश्र, पृ० 375 ।

57. 'लोक और आलोक', पृ० 22 ।

58. 'लोक और आलोक', पृ० 22 ।

59. 'लोक और आलोक', पृ० 83 ।

60. 'लोक और आलोक', पृ० 47 ।

61. 'लोक और आलोक', पृ० 47 ।

62. राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य : श्री रामेश्वर शर्मा, पृ० 98

63. 'युग की गंगा' : पृ० 56

64. धरती : पृ० 84 ।

65. धरती : पृ० 84 ।

66. धरती : पृ० 17 ।

67. धरती : पृ० 7 ।

68. गुलाब और बुलबुल, पृ० 52 ।

69. धरती : पृ० 9 ।

70. धरती, पृ० 5 ।

71. धरती, पृ० 7 ।

72. Freud's view on human nature depicts society as a mass of isolated individuals, where most natural emotions is hostility, pushing and

joshling each other in the name of the fittest, but willing under certain circumstances to bend together for self protection. Their Ivory towers conceal the inner cave by the entrance of which they ruthlessly trade physical needs or personal gain returning to the innermost successes to enjoy them without interference. J.A.C. Brown: Frend and the post-Freudians, Page-12 से उद्धृत ।

73. केदारनाथ अग्रवाल–लेखक के पत्र से ।

74. नागार्जुन : सतरंगे पंखों वाली, पृ० 18 ।

75. केदारनाथ अग्रवाल–गोविन्द द्विवेदी द्वारा उद्धृत आलोचना, 23 अक्टूबर–दिसम्बर, 1972 ।

76. डॉ० प्रकाश चन्द्र भट्ट द्वारा उद्धृत नागार्जुन : जीवन और साहित्य, पृ० 47 ।

77. वही ।

78. पंत युगवाणी, पृ० 47 ।

# तृतीय-अध्याय

# प्रयोगवाद

# प्रयोगवाद

## (अ) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

'प्रयोगवाद' प्रयोग को काव्य प्रवृत्ति के रूप में पेश करता है यह 'तार सप्तक' के कवियों के वक्तव्यों में 'प्रयोग' शब्द की अनेकशः आवृत्ति को देखकर आलोचकों द्वारा रख दिया गया नाम है। यह नाम उक्त काल खण्ड की सभी प्रवृत्तियों को ध्वनित नहीं करता। इससे महज साहित्यिक प्रयोग सम्बन्धी कुछ एक प्रवृत्तियों का बोध होता है। फिर भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह नाम लोकप्रिय हो चला है। इसलिए बेहिचक यह मान लेना चाहिए कि प्रगतिवाद के बाद सन् 1943 से 52 ई० तक की अज्ञेय, गिरजा कुमार माथुर' प्रभाकर माचवे, मुक्ति बोध नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, रघुवीर सहाय धर्मवीर भारती, नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार एवं नरेश आदि की कविताएँ एवं उनकी प्रवृत्तियां प्रयोगवादी हैं। प्रयोगवाद के कवि नयी कविता के भी कवि हैं और प्रयोगवाद की ढेर सारी प्रवृत्तियां नयी कविता की भी प्रवृत्तियां हैं। इस कारण से प्रयोगवाद की अन्तिम काल सीमा नयी कविता की उत्तरवर्ती सीमा सन् 1964 ई० तक खींची जा सकती हैं।

हिन्दी में प्रयोगवाद का जन्म एवं विकास ऐसे परिवेश में हुआ कि जब हिन्दी साहित्य प्रगतिवादी व मार्क्सवादी विचारों से आन्दोलित था। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने एकाकी व संगठित दोनों रूपों में विभिन्न प्रकार के आरोप–प्रत्यारोप लगाकर इसका विरोध करना आरम्भ कर दिया था। मजदूरों व कृषकों के शोषण से पोषित पूंजीवादी व्यवस्था के धार्मिक ठेकेदारों, जनता का रक्त सोखने वाले नौकरी पेशा व पूंजीपतियों ने इस समाजवादी प्रगतिवादी विचारधारा से अपने अस्तित्व को खतरा महसूस किया इसलिए इन लोगों द्वारा इस विचारधारा का विरोध किया जाना स्वाभाविक था। प्रगतिवादी साहित्यकार व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत चेतना से अनुप्राणित रहा, इसके प्रतिक्रिया स्वरूप उन साहित्यकारों ने इसका विरोध किया जो साहित्य को वैयक्तिक निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते थे। इन कवियों ने अपनी अतृप्त कुंठित, दमित भावनाओं को अभिव्यक्ति स्वातन्त्रय की ओट लेकर चित्रण करना आरम्भ कर दिया। इन्होंने सिद्धान्त रूप में मानकर यह

कहा कि साहित्यकार को किसी भी विचारधारा में न बंधकर स्वच्छन्द रूप से अपनी वैयक्तिक भावनाओं को अभिव्यक्ति करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। चूंकि उस समय साहित्य में सर्वत्र प्रगतिवाद व्यापत था इस कारण ये प्रतिक्रियावादी इसकी लोकप्रियता से सशंकित होकर, पाठकों को आकर्षित करने के लिए कुछ प्रगतिवादी साहित्यकारों एवं साहित्यिक चमत्कारवाद का सहारा लिया। पाठकों को चौंकाने के लिए इन्होंने ऐसा प्रचार किया कि हमारा साहित्य और उसकी माध्यम भाषा दोनों ही अत्यधिक रूढ़िग्रस्त और प्रगतिशील रूप धारण कर चुके हैं, वे नवीन अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं, इसलिए इनका बहिष्कार कर नए प्रयोग करना चाहिए और इनके द्वारा नये–नये अप्रचलित शब्दों, वाक्यों प्रतीकों, बिम्बों, का प्रयोग आरम्भ हो गया। पाठकों का इन नये प्रयोगों से चौंकना लाजमी था, फलतः इन लोगों की चर्चा परिचर्चा आरम्भ हो गई। हिन्दी में इस प्रकार के साहित्य को आरम्भ में प्रयोगवाद कहा गया।

प्राचीन साम्राज्यवाद एवं अर्वाचीन पूंजीवादी साम्राज्यवाद का मूल आधार शोषण रहा है। दोनों द्वारा प्रतिक्रियावादी व्यक्तिवादी दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रश्रय दिया गया। 'व्यक्तिवाद, 'समष्टिवाद' का विरोधी एवं महत्वाकांक्षा व अहंवाद का पोषक रहा है। हिन्दी में प्रयोगवाद भी अहं मिश्रित अति महत्वाकांक्षा का ही परिणाम था, जिसे कि पूंजीपतियों द्वारा पोषण दिया जा रहा था। पूंजीवाद इस तथ्य को भली भांति जानता था कि साहित्य प्रचार का एक सशक्त माध्यम है, इसलिए उसने अपने पूर्व में अधिकृत लगभग सभी समाचार पत्रों, मासिक पत्र, पत्रिकाओं, और प्रकाशन संस्थाओं आदि के माध्यम से एवं इन रचनाकारों को मोटी–मोटी तनख्वाहें देकर, इनके व इनकी रचनाओं के सम्मुख धनाभाव का संकट नहीं उत्पन्न होने दिया। इसके बदले में इन रचनाकारों/कलाकारों ने प्रगतिशील समाजवादी भावनाओं एवं विचारों को निशाना बनाकर इसके विरूद्ध अपना प्रयास जारी रखा।

हिन्दी में प्रयोगवाद के जन्म व विकास के यही मूल कारण रहे हैं। प्रयोगवाद का एकमात्र लक्ष्य येन–केन प्रकारेण प्रगतिशील साहित्य का विरोधकर व्यक्तिवादी प्रतिक्रियात्मक भावनाओं और विचारों का प्रचार करना रहा है। प्रसिद्धि प्राप्त करने के इस सुलभ साधन का यह प्रभाव पड़ा है कि अनेक प्रगतिवादी कलाकार भी इस खेमे में जा मिले। उनकी रचनःओं में वैचारिक और

शिल्पगत प्रयोगों के कारण दुरूहता रही मगर ये लोग अपनी प्रगतिशीलता का ढोल पीटते रहे। 'तार सप्तक' एवं 'प्रतीक' पत्रिका के अवलोकन से यह साफ स्पष्ट हो जाता है कि इनमें संग्रहीत कवियों के अनुभव के क्षेत्र, दृष्टिकोण व लक्ष्य एक ही प्रकार के नहीं है। कुछ के विचार समाजवादी है तो कुछ संस्कारों से व्यक्तिवादी जैसे—शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता और नेमिचन्द्र जैन। कुछ तो विचारों एवं क्रियाओं दोनों से ही समाजवादी हैं—जैसे राम विलाश शर्मा, मुक्तिबोध। कुछ ऐसे हैं जो प्रगतिशील कविता में व्यक्त जीवन मूल्यों को असत्य या सत्याभास मानकर अपने व्यक्तिगत जीवन में तड़पने वाली गहन संवेदनाओं को रूपायित करना चाहते हैं। प्रायः ये सभी कवि मध्य वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। जिन्होंने समाजवादी/मार्क्सवादी विचारों व संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में कविताएं लिखीं वे वास्तव में जनवादी कवि हैं, किन्तु जो ऐसा नहीं करके अपनी वैयक्तिक सुख—दुःख व संवेदनाओं को ही काव्य के सत्य के रूप में नित नये माध्यमों द्वारा अभिव्यक्त कर रहे हैं। आलोचकों द्वारा प्रयोगवाद के सन्दर्भ में प्रायः इन्हीं कवियों को ध्यान में रखा गया है। यह उचित भी है क्योंकि मार्क्सवादी विश्वासों वाले कवि प्रगतिशील कविता की परिधि में आ ही जाते हैं।

इसके अतिरिक्त प्रयोगवादी कलाकार स्वप्रचार के निमित्त परस्पर प्रशंसा एवं स्वयं अपने पर ही ग्रन्थ एवं निबन्ध लिखकर स्वयं को नवीन साहित्य का मसीहा घोषित करने में तनिक भी संकोच नहीं किया। जैसा कि हमें पता है कि यह नई काव्यधारा प्रगतिवाद के विरूद्ध जन्मी व संगठित हुई थी योरोप में भी प्रयोगवाद इसी अभिप्राय को लेकर संगठित हुआ था। इस विश्लेषण को आगे बढ़ाने से पूर्व हमें प्रयोग शब्द के अर्थ एवं उसके वास्तविक अभिप्राय को समझ लेना चाहिए।

अज्ञेय जी ने दूसरे सप्तक की भूमिका में कवि कर्म की व्याख्या करते हुए प्रयोग शब्द को स्पष्ट किया था। उनकी दृष्टि में प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है, वरन् वह साधन है, दोहरा साधन है, एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है दूसरा वह उस प्रेषण क्रिया व उसके साधनों को जानने का साधन है। अज्ञेय जी ने प्रयोग को कोई नई बात नहीं माना है इसे स्वीकार करते हुए कहा है, "किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें कभी नहीं छुआ गया था। भाषा को अपर्याप्त पाकर

विराम संकेतों से, अंकों और सीधी तिरछी लकीरों से, छोटे–बड़े टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरों से लोगों और स्थानों के नामों से अधूरे वाक्य सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।''[1]

जर्मन दार्शनिक नीत्शे ने भी प्रयोग को अपने जीवन दर्शन का आधार बनाया था। उनके द्वारा प्रयुक्त जर्मन शब्द "Versuch" का अंग्रेजी पर्याय 'Experiment' होता है। जिस अर्थ में नीत्शे जीवन को प्रयोग मानता है उसी अर्थ में हिन्दी के प्रयोगशील कवि भी मानते हैं। नीत्शे का कथन है कि विचार के क्षेत्र में नये–नये प्रयोग का साहस होना चाहिए, यह आवश्यक नहीं है कि प्रयोगों का एक सुसम्बद्ध क्रम हो, प्रयोगों का क्रम विच्छिन्न होता है क्योंकि प्रत्येक प्रयोग अपने आप में नया है और प्रत्येक शुरूआत नई शुरूआत है। नीत्शे का दावा था कि मौका पड़ने पर अपने पूर्ववर्ती विचारों के विरूद्ध घोषणा करने का साहस होना चाहिए। 'जोखिम के साथ जिओ' नीत्शे का ही नारा था। प्रयोगवादी कवि प्रयोग और अन्वेषण में नीत्शे से किस हद तक प्रभावित हुए होंगे इस विषय में स्पष्टतः तो नहीं बताया जा सकता है किन्तु तीसरे सप्तक के एक कवि के पच्चीस शील वाले वक्तव्य से स्पष्ट है प्रयोग का क्रम आगे चलकर नीत्शे तक अवश्य पहुँच गया। कहना न होगा कि जिस प्रकार संदेह की प्रवृत्ति एक हद के बाद संदेहवाद में परिणति हो जाती है उसी प्रकार प्रयोग भी एक हद के बाद 'प्रयोगवाद' हो गया। अज्ञेय प्रयोग को दोहरा साधन मानते हैं। एक तो उस सत्य को जानने का साधन है जिसे वह प्रेषित करता है एवं दूसरा उसकी प्रेषण क्रिया को और साधनों को भी जानने का साधन है अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है।''

वस्तुतः प्रयोग आंशिक सत्य से पूर्ण सत्य की ओर उन्मुख हो विकास का पथ खोजने का प्रयास करता है। इस प्रकार प्रयोग साध्य न होकर पूर्ण सत्य को जानने का साधन या प्रक्रिया मात्र है। संक्षेप में प्रयोग एक स्वस्थ, गतिशील, एवं विकासमान प्रक्रिया है। जो समाज का कल्याण करती है।

साहित्यिक प्रयोगवाद की जन्मभूमि योरोप रहा है द्वितीय महायुद्ध के विनाश ने योरोपीय जीवन को ध्वस्त कर डाला था। संवेदनशील कलाकार की आस्था जीवन से विरक्त हो घोर अनास्थावादी बन गयी। वहां इसी अनास्थामूलक वातावरण में नवीन प्रयोगों का जन्म हुआ। प्रथम महायुद्ध के

महाविनाश (1914–18) ने नवयुवक साहित्यकारों के हृदय में तात्कालीन सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध एक भयंकर अनास्था भर दी थी। उन्होंने परम्परागत साहित्य को इस अनास्था की अभिव्यक्ति में असमर्थ मान भाव, भाषा, विचार, शैली आदि के क्षेत्रों में नये–नये प्रयोग कर अपनी वैयक्तिक कुंठाओं, निराशा, वेदना, आकांक्षा आदि को अभिव्यक्ति प्रदान करने लगे। इसलिए इनके द्वारा कला क्षेत्र में कला की स्वतन्त्रता का उद्घोष करते हुए ऐसे–ऐसे चमत्कार पूर्ण कला रूपों का सृजन किया गया, जो अपनी विचित्रता के कारण समाज का ध्यान इनके उपेक्षित, निराश, कुंठित जीवन की ओर आकर्षित कर सकें। साहित्य चित्रकला, मूर्तिकला आदि सभी कला–क्षेत्र इसके प्रभाव से अछूते नहीं रह पाये। योरोप में साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव के कारण पूंजीवादी व्यवस्था ने व्यक्तिवादी कला–सिद्धान्तों को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। साहित्य में यह व्यक्तिवादी सिद्धान्त प्रयोगवाद, 'अस्तित्ववाद' अति यथार्थवाद आदि नाम से प्रसिद्ध हुआ। अंग्रेजी में इसके जन्मदाता प्रसिद्ध कवि और आलोचक टी०एस० इलियट माने जाते हैं। उन्होंने अपने समकालीन प्रसिद्ध आलोचक आई०ए० रिचर्ड्स की सहायता से एक दुरूह मगर ऊपर से आकर्षक लगने वाली काव्य प्रणाली का प्रवर्तन किया था। एजरा पाउण्ड आदि साहित्यकारों ने इसे आगे बढ़ाया था। रिचर्ड्स ने इसी के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि भविष्य में कविता अधिकाधिक दुरूह होती जायेगी और बहुत थोड़े से लोग ही उससे लाभान्वित होंगे। इस नई काव्यधारा को क्रोंचे के अभिव्यंजना वाद से भी पर्याप्त सहायता एवं संवर्धन प्राप्त था। अनास्था के स्वर की चीत्कार इलियट के काव्य में देखी व सुनी जा सकती है। इसके सम्बन्ध में डॉ० देवराज ने स्पष्ट लिखा है कि, "हिन्दी प्रयोगवाद भी केवल युग से प्रभावित नहीं है वह बहुत हद तक इलियट एवं एजरा पाउण्ड आदि की शैली के अनुकरण में उपस्थित हुआ है।"[2]

चूंकि योरोप के कवि भुक्तभोगी थे इसलिए उनके काव्य में इन तत्वों का उपस्थित रहना स्वाभाविक था किन्तु भारतीय कवि एवं पाठक ने इसे नहीं भोगा था फिर भी हिन्दी के प्रयोगवादियों ने योरोप के व्यक्तिवादी अस्तित्ववादी दर्शनों की अनेक विशेषताओं को यथावत अपनाते हुए कला का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व अर्थात व्यक्तिगत कुंठाओं और दमित वासनाओं से मुक्ति माना है। फ्रायड का शिष्यत्व स्वीकार करते हुए अपनी वासनाओं कुंठाओं की अभिव्यक्ति को ही अपनी कला साधना का चरम लक्ष्य घोषित किया।

## (ब) हिन्दी कविता में प्रयोगवाद एवं उसकी प्रवृत्तियाँः

प्रयोग तो प्रत्येक युग में होते रहे हैं पर प्रयोगवाद नाम ऐसी कविताओं के लिए प्रचलित हो चला, जो अपने में नये बोधों, संवेदनाओं तथा उसको सम्प्रेषित करने वाली चमत्कारपूर्ण शिल्पगत विशेषताओं को लेकर प्रारम्भिक रूप में 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित तार सप्तक के माध्यम से सन् 1943 ई० में प्रकाशन जगत में उपस्थित हुई। इसमें निम्नलिखित सात कवियों की कविताएं संग्रहीत हैं। गजानन माधव मुक्तिगोध, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरजा कुमार माथुर, डॉ० राम विलाश शर्मा और अज्ञेय। इस संग्रह में संग्रहीत रचनाओं में रचनाकारों द्वारा नवीन प्रयोग का दावा किया गया, जिससे इन कवियों को प्रयोगवादी कहा जाने लगा। इनके अतिरिक्त रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार, एवं नरेश आदि की कविताएँ एवं उनकी प्रवृत्तियां भी प्रयोगवादी ही हैं। प्रगतिशील कविताओं के साथ विकासमान प्रयोगवाद की ढेर सारी प्रवृत्तियां नयी कविता की भी प्रवृत्तियां रहीं, इसलिए प्रयोग वाद का पर्यवसान नयी कविता में हो गया।

तारसप्तक के कवियों में भारत भूषण अग्रवाल रामविलाश शर्मा, एवं मुक्ति बोध प्रगतिवादी हैं। तार सप्तक की पृष्ठभूमि सन् 1942 ई० में प्रगतिशील लेखक संघ के अखिल भारतीय सम्मेलन में बनी थी। चूंकि प्रगतिवाद का अपना एक सुनिश्चित दार्शनिक आधार एवं कहने का भाव एक ही है, कहने का ढंग भले ही अलग–अलग हो। अज्ञेय द्वारा तार सप्तक में लिखा गया है कि "इस संग्रह में जो कवि रखे गये हैं, उनके एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नही अभी राही हैं। राही नहीं राहों के अन्वेषी। उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों में उनकी राय अलग–अलग है जीवन के विषय में, समाज धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहां तक कि हमारे जगत के ऐसे सर्वमान्य और स्वयं सिद्ध मौलिक सत्यों को भी स्वीकार नहीं करते।"[3]

इस वक्तव्य से यह प्रतिध्वनित होता है कि प्रयोगवादी कवि अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों एवं दमित महत्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति की उद्याम लालसा लिये हुए था। व्यक्तिवादी, अस्तित्ववादी एवं फ्रायड के

मनोविश्लेषणवादी विचारधारा से प्रभावित ये कवि अपने जीवन के प्रत्येक क्षण की संवेदनाओं को अभिव्यक्त कर देना चाहते थे। कवियों की उन परिस्थितियों का अज्ञेय ने 'तारसप्तक' में वर्णन किया है, "आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है, और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुंठित हैं, उनकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं और इस आन्तरिक संघर्ष के ऊपर एक बाह्य संघर्ष भी बैठा है जो व्यक्ति और व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति और समूह का, वर्गों और श्रेणियों का संघर्ष है।"[4]

अज्ञेय द्वारा दूसरा सप्तक सन् 1951 ई० में सम्पादित व प्रकाशित किया गया। इसमें निम्न सात कवियों को सम्मिलित किया गया। भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरि नारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती। इन कवियों में भी विचारधाराओं का वैभिन्य था। शमशेर बहादुर सिंह आदि नवीन प्रयोगों के मोह से ग्रस्त होते हुए भी विचारों से प्रगतिवादी थे। लेकिन इस संग्रह में प्रयोगवाद का स्वरूप अधिक स्पष्ट एवं गहरा था। इसके उपरान्त अज्ञेय ने 1959 ई० में तीसरा सप्तक संग्रहीत और सम्पादित किया। इस संग्रह में प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुंवर नारायण, विजय देव नारायण साही, और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताएं संग्रहीत थीं। ये सभी कवि प्रयोगवाद के कट्टर समर्थक और प्रचारक बने।

प्रयोग एक साधन है, किसी सत्य तक पहुंचने का वह स्वयं में लक्ष्य नहीं हो सकता है। सत्य साध्य है एवं प्रयोग उसका साधन, साधन को ही साध्य मान बैठना, इसी कारण प्रयोगवादियों को कटु आलोचना का कोपभाजन बनना पड़ा। इसी सन्दर्भ में सन् 1951 ई० में अज्ञेय द्वारा अपने दूसरे सप्तक में इसके लिए सफाई देना पड़ा कि, "प्रयोग कोई वाद नहीं होता, प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है और हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही निरर्थक है जितना कवितावादी कहना।"

प्रयोगवादियों के सन्दर्भ में यहीं 'नकेनवादियों' की चर्चा भी आवश्यक है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार तथा नरेश ने प्रपद्यवाद के नाम से शुद्ध प्रयोगवादी रचनाएं देने का दावा किया। 'प्रपद्यवाद को इन कवियों के नाम के प्रथमाक्षरों से ही नकेनवाद भी कहा जाता है। ये तीनों ही कवि बिहार के

रहने वाले थे।इन्होंने अपने 12 सूत्री घोषणा पत्र में कहा.....(1) प्रयोगवाद सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है उसके लिए शास्त्र या दल निर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं। (2) वह महान पूर्ववर्तियों की परिपाटियों को भी निष्प्राण मानता है। (3) प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है, प्रयोगवादी साध्य आदि इन्हीं आधारों पर प्रपद्यवादियों ने 'तार सप्तक' के कवियों को 'प्रयोगशील, तथा अपने को असली प्रयोगवादी घोषित किया। ये कहते हैं, "प्रयोग के वाद से तात्पर्य यह है कि यह भाव और भाषा, विचार और अभिव्यक्ति, आवेश और आत्मप्रेषण, तत्व और रूप इनमें से किसी में या सभी में प्रयोग को अपेक्षित मानता है। दूसरे शब्दों में प्रपद्यवाद अपने वाद के आधार से सतत प्रयोग करते जाना ही अपना लक्ष्य मानता है। 'तार सप्तक' का प्रकाशन 1943 ई० में हुआ एवं प्रपद्यवाद का प्रकाशन 1956 ई० में। इस दृष्टि से देखा जाये तो प्रपद्यवाद प्रयोग के नाम से वाद चलाने का कालान्तरित प्रयास था।[5]

प्रयोगवाद छायावाद की कोरी अनुभूति परकता एवं प्रगतिवाद के व्यापक जीवन क्षेत्र वाले समाजवादी उछांह के विरूद्ध एक आधुनिक व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है। रूमानियत एक सीमा के बाद ऊबाउ हो जाती है एवं अभोगा यथार्थ जिसमें परिस्थितियों को अनुकूल बनाये ही वर्ग संघर्ष दिखाया जाता है भी उपादेय नहीं रह जाता है। इसलिए प्रयोगवादी कवि छायावादी संवेदना एवं प्रगतिवादी यथार्थ को फेंटकर अपनी कविता का रसायन तैयार करता है। उसमें बौद्धिकता का प्रबल आग्रह हैं प्रयोगवादी कवि दृष्टि सुख को अन्तिम एवं अनिवार्य नहीं मान लेता हर चीज जो आंखों से गुजरती है, उस पर वह मनन करता है। इसलिए उसकी कविताओं में अनुभूति सजग विवेक के फ्रेम में कसी हुई मिलती है। प्रयोगवाद के अगुवा कवि अज्ञेय अनुभूति की प्रामाणिकता के जितने भी दावे करें पर वे भी मात्र शुद्ध अनुभूतियों पर निर्भर नहीं रहते। अनुभूति के सघन क्षण में भी उनका विवेक सजग रहता है। अज्ञेय की इसी बौद्धिकता ने उन्हें सारतत्व पाने के लिए अभिलक्षित किया है–

"मत हमें रूपाकार इतने व्यर्थ दो,
हम समझते हैं इशारा जिन्दगी का।
हमें पार उतार दो,
रूप मत बस सार दो।

यह सार प्राप्त करने की अभिलाषा अस्तित्ववादी दर्शन से अभिप्रेरित हैं। यहां पर सार्त्र के विचार "अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है" का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। यहां रूप से तात्पर्य कवि के निजी अस्तित्व एवं उसको भविष्य में जो भी बनना होगा वही उसका सार है। यद्यपि व्यक्ति जन्म से ही अस्तित्ववान हो जाता है एक निश्चित रूप रेखा प्राप्त करता है तथापि वह अपने कर्मों द्वारा ही अपने लक्ष्य को, (सार) को प्राप्त करता है। दृश्य में डूबना नहीं, डूबकर मोती निकालना मष्तिष्कीय उद्योग है। सौन्दर्य पर ठहरना आँखों का धर्म है, पर यहां कवि आँख की चाह को स्थगित करता हुआ मष्तिष्क की मांग को प्राथमिकता देता है।

प्रयोगवादी कविताओं में जो यथार्थ का प्रबल आग्रह दिखाई देता है उसके मूल में भी बौद्धिकता है और यही प्रयोगवादियों के अभिव्यक्ति को धार देती है। मुक्ति बोध कहते हैं "समाज के सामंजस्य के अभाव के फलस्वरूप तथा उसके विरूद्ध उसमें प्रखर बौद्धिक व्यक्तिवाद का विकास हुआ। कुछ लोगों में अन्तर्मुखी चेतना उदित हुई तो कुछ में बर्हिमुखी। चेतना अधिक यथार्थोन्मुख हुई, चाहे वह अन्तर्मुखी हो या बर्हिमुखी। कुछ में बाह्य चित्र प्रधान हुए कुछ में अन्तश्चित्र। यह स्वाभाविक ही था कि इस खेमे के कुछ लोग आगे चलकर मार्क्सवादी होते।" 'तार सप्तक' में ही देखें तो मुक्ति बोध, नेमिचन्द्र जैन, राम विलाश शर्मा, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे मार्क्सवादी हैं तो अज्ञेय एवं गिरजा कुमार माथुर गैर मार्क्सवादी। इनमें स्पष्ट वैचारिक मतभेद है। बावजूद इसके वे प्रयोग के नाम पर एक मत हैं।

प्रयोगवाद कविता का नया चेहरा गढ़ने के लिए संकल्पबद्ध है। सर्जना के लिए वह प्रयोग को महत्व देता है। प्रयोग होंगे तो नई–नई राहें बनेंगी। प्रयोग वृत्ति ही उन्हें राहों के अन्वेषण से जोड़ती हैं। स्वयं रास्ता बनाने एवं उस पर चलने में एक सुख है। उपलब्धि का सुख, सर्जक एवं भोक्ता होने का सुख इसलिए उसने बनी बनाई राह ठुकराकर नयी राह बनाने का उद्यम किया। इसके अतिरिक्त उन्हें परम्परा से मिली राह जिस पर असंख्य पद चिन्ह पहले से ही अंकित थे, वहां अपने पैरों की छाप छोड़कर उन्हें सुरक्षित रख पाना संदेहास्पद था। लिहाजा कवि अस्मिता के संकट ने इन्हें प्रयोग के लिए उकसाया।

"तेरा कहना ठीक जिधर मैं चला नहीं वह पथ था;
मेरा आग्रह भी नहीं रहा मैं चलूं उसी पर सदा
जिसे पथ कहा गया,
जो इतने–इतने पैरों द्वारा रौंदा जाता रहा
कि उस पर कोई छाप नहीं पहचानी जा सकती थी।"

राहों के अन्वेषण की प्रवृत्ति अपनी पहचान बनाने की कोशिश का ही उपक्रम है।

प्रयोगवाद में ह्रासोन्मुख मध्यम वर्गीय जीवन का निपट नंगा रूप अंकित है। प्रयोगवादी कवियों द्वारा जिस नवीन सत्य की खोज एवं उसके अभिव्यक्ति की घोषणा की थी वह सत्य इसी मध्यम वर्गीय समाज के व्यक्ति का ही था। विचारों में लपेटकर जीवन को परोसने से अब तक जीवन की सच्चाई छिपी ही रह गई थी। इसीलिए प्रयोगवाद में वाद ग्रस्तता से परहेज की प्रवृत्ति मिलती है। दूसरा सप्तक की भूमिका में 'अज्ञेय' जोर देकर कहते हैं, "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं है।[6] यहां वाद का तात्पर्य साहित्यिक वाद से उतना नहीं है जितना कि राजनीतिक दार्शनिक मतवाद से है। वाद या दर्शन में एक विशेष लीक पर चलने एवं विशेष ढंग की तर्क प्रणाली को अपनाने का आग्रह होता है। अतः सत्य तक पहुंचने के लिए वाद मुक्त होना एवं सतत प्रयोगशील बना रहना आवश्यक है।

प्रयोगवादी कवि यथार्थवादी हैं। वे भावुकता के स्थान पर ठोस बौद्धिकता को स्वीकार करते हैं। ये मध्यम वर्गीय व्यक्ति जीवन की समस्त विद्रूपताओं, जड़ता, कुंठा, अनास्था पराजय, एवं मानिसक संघर्ष के सत्य को बड़ी बौद्धिकता के साथ उद्घाटित करते हैं। मध्यम–वर्गीय व्यक्ति जीवन की पीड़ा के अनेक स्तर इन मध्यम वर्गीय प्रयोगवादी कवियों में देखी जा सकती है। यह पीड़ा बोध इन कवियों में इतना गहरा और सजग है कि वे इसे एक दार्शनिक स्तर पर एक चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं–

"दुःख सबको मांजता है
और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने,
किन्तु जिनको मांजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"[7]

इन सबके बावजूद प्रयोगवादी कविता में दमित काम वासनाओं की विशेष रूप से प्रधानता दिखती है। मध्यम वर्गीय कवि की तीव्र काम संवेदनाएं कठोर सामाजिक बंधनों के समक्ष उभर न सकी कुंठित होती गईं, पीड़ा दायक बन गई। छायावादी कवियों ने कल्पना लोक में नारी के साथ साहचर्य स्थापित कर अपनी प्यास मिटा ली लेकिन यथार्थ आग्रही कवियों के लिए यह संभव नहीं था, फलतः उन्होंने कल्पना का रंगीन आवरण हटाकर दमित यौन वासनाओं के नग्न रूप को स्पष्ट कर दिया। फ्रायड का मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त इनका प्रधान जीवन दर्शन बन गया। इनके द्वारा कहीं स्पष्टतः तो कहीं बारीक प्रतीकों तथा बिम्बों के माध्यम से दमित काम वासनाओं एवं उलझी हुई संवेदनाओं को स्थापित किया गया। अज्ञेय, शमशेर, गिरजा कुमार माथुर और धर्मवीर भारती के नाम इस सन्दर्भ में लिए जा सकते हैं।

प्रख्यात जर्मन दार्शनिक नीत्शे भी प्रयोग दर प्रयोग पर बल देता है। उसके अनुसार एक प्रयोग दूसरे को यदि काटता भी है, तो भी श्लाध्य है। उसका कहना था कि अपने ही परवर्ती विचारों के विरुद्ध घोषणा करने का साहस होना चाहिए। न केन के 'केसरी कुमार' की 'सांझ' शीर्षक कविता जर्मन दार्शनिक नीत्शे के विचार को ही उदाहरित करती है, जिसके प्रारम्भ में ही कवि नहीं कहकर न केवल अपने पूर्ववर्ती कवियों द्वारा दिए गये उपमानों को अस्वीकार करता है, वरन् सांझ के लिए गढ़े गये अपने पूर्ववर्ती उपमान (जैसे सांझ एक असभ्य आदमी की जम्हाई है' या सांझ एक शरीर लड़की है) भी से नहीं जंचते हैं और अन्ततः कवि 'नहीं–नहीं' कहता हुआ उसे एक रद्दी स्याही सोख बताकर संतोष कर लेता है :–

> "साँझ एक रद्दी स्याही सोख है
> जो कहीं मूल पर लाल संशोधनों को,
> लाल संशोधनों पर काले मूल को,
> उलटा लेता है, काक पट समेत।
> और समन्वय के द्वन्द्व में स्वयं बेकाम हो जाता है।"[8]

सत्य का अनुसंधान प्रयोगवाद की एक अन्य प्रवृत्ति है। बदलते हुए परिवेश में कोई एक मानदण्ड या मानक लेकर चलना असंभव है। वह सत्य के सभी स्तरों को उद्घाटित नहीं कर सकता। दूसरी बात अनुसंधान एक ओर सत्य तक ले जाता है तो दूसरी ओर आत्म निर्माण की जमीन भी तैयार करता

है। अज्ञेय की सत्य सम्बन्धी स्थापनाओं में इसी कारण से 'स्व' के निर्माण की पूरी तैयारी झलकती है। 'उड़ चल हारिल' में नव निर्माण ही आत्म निर्माण की पहचान या शिनाख्त देता है—

> "उड़ चल हारिल, लिए हाथ में, यही अकेला ओछा तिनका।
> ऊषा जाग रही प्राची में, कैसी बाट भरोसा किनका।
> काँप न यद्यपि दसो दिशा में, तुझे शून्य नभ घेर रहा है,
> रुक न यद्यपि उपहास जगत का, तुझको पथ से हेर रहा है।
> तु मिट्टी था किन्तु आज मिट्टी, को तूने बांध लिया है
> तू था सृष्टि, किन्तु सृष्टा का, गुर तूने पहचान लिया है।[9]

उपर्युक्त रचना की अंतिम पंक्तियों में अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। सार्त्र की विचारधारा 'अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है' यह वही 'सार' है जो आत्म निर्माण रूप में यहां परिलक्षित हो रहा है।

साहित्यिक अनुसंधान सामूहिक प्रयास से नहीं होता। उसमें भरोसे के साथ स्वयं ही लगना होता है। यहां एक प्रयोग में सफल हो जाना भी काफी नहीं होता, बल्कि जीवन को प्रयोग के अन्तहीन सिलसिले में गूंथना होता है। अतः व्यक्तिगत प्रयास से सफल प्रयोग तक पहुँचने में कवि आत्म रक्षा एवं आत्म विस्तार की क्रमिक नीति अपनाता है। इसी से उपजी है प्रयोगवाद की व्यक्तिवादी कला दृष्टि जो व्यक्तिगत स्थिति से लेकर सामाजिक स्थिति तक फैलती सिकुड़ती है। अज्ञेय में वैयक्तिक असंतोष है जो पुराणपंथी समाज पर लाठी की तरह बरसता है—

> "ठहर ठहर आततायी जरा सुन ले
> मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा
> रागातीत, दर्पस्फीत, अतल, अतुलनीय
> मेरी अवहेलना की टक्कर संभाल ले।"[10]

ऐसा ही असंतोष अन्य कवियों में भी है। पर वे अपने असंतोष को व्यापक दायरे में ले जाने की आकांक्षा रखते है। जड़ समाज से विद्रोह करने का भाव इनमें हैं, पर शुरू–शुरू में शायद ये विद्रोह को परिवर्तन से जोड़ने वाली वैज्ञानिक पद्यति से अनभिज्ञ है, ये मात्र भावनात्मक विस्फोट करके रह जाते हैं। 'तार सप्तक' काल में भारत भूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन एवं मुक्तिबोध में ऐसे ही विस्फोट की अनुगूंज सुनी जा सकती है।

"मेरा जग से द्रोह हुआ पर मैं अपने से ही विद्रोही।
गहरे असंतोष की ज्वाला सुलग जलाती है मुझको ही।[11]

प्रयोगवादी मानते हैं कि प्रयोग खतरे से खाली नहीं है। सबसे बड़ा खतरा तो स्वयं के टूटने बिखरने का है। इसलिए प्रयोग के लिए साहस आवश्यक है। दूसरी बात यदि प्रयोग असफल होता है, तो समय एवं परिश्रम की हानि तो होती ही है, साथ ही वह प्रयोग प्रयोग नहीं बल्कि प्रयास मात्र कहलाएगा। सफलता ही प्रयोग तथा उसके साथ जुड़े प्रयास को अर्थदीप्ति देती है। 'अज्ञेय' कहते हैं, पारखी मोती परखता है, गोता खोर के असफल उद्योग नहीं। गोता खोर का परिश्रम या प्रयोग अगर प्रासंगिक हो सकता है तो मोती को सामने रखकर ही।" अतः महत्व अनुसंधान की प्रवृत्ति का है, वे यह भी मानते हैं कि साहस छोटा या बड़ा नहीं होता चाहे उससे मिली उपलब्धि छोटी या बड़ी क्यों न हो! बज्र चट्टान की छाती विदीर्ण कर देता है एवं स्वाती की बूंद सीपी के मर्म को भेदकर ही मोती बनती है, दोनों में खतरे से खेलने का साहस है। इनमें से किसी के साहस को कम या अधिक करके नहीं आंका जा सकता है। कलात्मक सर्जना भी निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है, नव निर्माण के लिए यहां भी जो प्रयोग होते हैं उनमें भी साहसिकता एवं धैर्य अनिवार्य है। साथ ही उन्हें श्रेणीकृत नहीं किया जा सकता है—

"बूंद स्वाती की भले हो,
बेधती है मर्म सीपी का उसी निमर्म त्वरा से
ब्रज जिसमें फोड़ता चट्टान को,
भले ही फिर व्यथा के तम में,
बरस पर बरस बीते।
एक मुक्ता सीप को पकते।"[12]

कुछ आलोचकों द्वारा प्रयोगवादी भाषा एवं शिल्प पर निम्न आरोप लगाया जाता रहा है। नूतनता के प्रति अत्यधिक मोह प्रयोगवादी कवियों में देखा जा सकता है। काव्य को नई भाषा एवं नये रूप में प्रस्तुत करने का मोह ही इस काव्य की दुरूहता अस्पष्टता और समाज निरपेक्षता का प्रधान कारण रहा है। इसी कारण इस प्रयोगवादी काव्य में छायावादी सुन्दर शब्द विन्यास, भावनाओं की मधुर अभिव्यक्ति तथा मूर्त विधायिनी कल्पना का अभाव रहा है। ये सदैव ऐसी उपमाओं उत्प्रेक्षाओं, रूपकों, प्रतीकों और शब्दों की खोज में लगे रहते हैं जो पाठकों को चमत्कृत कर दें भले ही उनके साथ भावों का तादात्म्य न हो

सके। इस प्रयत्न में भाव एवं विचारों में क्रमागतता नहीं रह जाती, संवेदना उलझकर रह जाती है। संवेदना का यह उलझाव एवं विचारों का यह क्रम–भंग प्रयोगवादी की बहुत बड़ी निर्बलता है।

प्रयोगशीलता तीन क्षेत्रों में सक्रियता दिखलाती है, एक 'रूप रचना के क्षेत्र में' दूसरे वस्तु तत्व या कथ्य के क्षेत्र में, एवं तीसरे भाषा के क्षेत्र में। ये आलोचक प्रयोगवाद को नये–नये शिल्प प्रयोग (फार्मलिज्म) के रूप में देखते हैं। जबकि वह प्रयोगवाद की महज एक प्रवृत्ति है। यदि यहां मुक्ति बोध का यह कथन स्वीकार लिया जाये कि 'वस्तु तत्व में इतनी शक्ति होती है कि वह स्वयं अपने रूप को लेकर आता है तो यह एक तन्हा प्रवृत्ति भी न रहकर अनुषंगी प्रवृत्ति बन जाता है। शिल्प के क्षेत्र में नकेनवादियों ने कुछ अच्छे एवं कुछ विचित्र प्रयोग किए। इनकी रचनाओं में शब्दों को खींच तानकर या उन्हें जोड़–तोड़ कर नई अर्थवत्ता लाई गई है–

"नाचो शंकर नाचो कै–लाश पर"[13]

कै–लाश में स्थान विवृत्ति डालकर कवि ने दोहरे अर्थ की सृष्टि की है। इसका अर्थ कै एवं लाश भी है और शंकर भगवान का निवास कैलास भी। नलिन विलोचन शर्मा ने शब्दों को जोड़कर नये सामाजिक शब्दों की रचना की है–

"मुझे धूलप को बिना चश्मा लगाये देखना आता है"[14]

धूलप का अर्थ धूल मिश्रित धूप है। यहां शब्द योग (धूल+धूप = धूलप। धूल–प = धूल। धूलप–ल = धूप) के जरिए प्रयोग किया गया है। इसी अर्थ में प्रयोगवादी (नकेनवादी) प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छंद का स्वयं निर्माता है।

दूसरे सप्तक में अज्ञेय ने लिखा है, "प्रयोग दोहरा साधन है, क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे उस प्रेषण की प्रक्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।"[15] प्रेषण क्रिया एवं साधन में भाषा शिल्प आदि आते हैं। प्रयोगवादियों की दृष्टि में भाषा ही नये कथ्य एवं नये शिल्प का शोध करने वाला सबसे समर्थ औजार है। इसी की सहायता से कवि

कलात्मक अनुभव के क्षणों को पहचानता पकड़ता एवं प्रस्तुत करता है। काव्य के शिल्प और वस्तु का अनुसंधान इसी अर्थ में प्रयोगशीलता है।

## (स) प्रयोगवाद का दार्शनिक आधार

### (i) अस्तित्ववाद

अस्तित्ववादी विचारक एक प्रकार से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र चिन्तक है। अस्तित्ववाद कोई वैचारिक सम्प्रदाय नहीं है यह पूर्ण रूप से निश्चित एवं सर्वमान्य सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का प्रयास नहीं है, बल्कि इसका लक्ष्य इस प्रकार के प्रयत्नों का विरोध करना रहा है। यह दर्शन के किसी नये सम्प्रदाय को स्थापित करने की चेष्टा से प्रादुर्भूत नहीं हुआ है। यह कोई वाद नहीं बल्कि एक दृष्टि है। वाद और दृष्टि में अन्तर है यदि वाद खण्डित हो जाये तो वाद की सार्थकता समाप्त हो जाती है, किन्तु दृष्टि यथेष्ट अथवा अयथेष्ट हो सकती, किन्तु वह खण्डित नहीं हो सकती है। इस प्रकार दृष्टि का पूर्ण निराकरण संभव नहीं है। अतः अस्तित्ववाद को समझने के लिए अस्तित्ववादी दृष्टि का स्पष्टीकरण आवश्यक है। इसी विलक्षणता के कारण दर्शन के क्षेत्र में इसका प्रवेश साहित्य के माध्यम से हुआ। इसकी अभिव्यक्ति साहित्यिक रचनाओं जैसे कहानियों, नाटकों उपन्यासों आदि में बड़े रोचक एवं सार्थक ढंग से संभव था।

पारम्परिक दर्शन का चिन्तन क्षेत्र अनिवार्य रूप से अवधारणात्मक है। उसका लक्ष्य दार्शनिक अवधारणाओं का विश्लेषण करना है, किन्तु अस्तित्ववादी विचारकों के लिए इस प्रकार का चिन्तन यथार्थ से सर्वथा हटा हुआ है अस्तित्ववादियों के अनुसार अमूर्त भावों के विश्लेषण से सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। मानवीय सत्य की खोज हम उस प्रकार नहीं कर सकते जिस प्रकार कोई सर्जन चीड़ फाड़ करता है। उसके लिए तो उन्हें आत्मसात करना होगा और भावात्मकता की बिना उपेक्षा किए उन्हें जानने की चेष्टा करनी होगी। हमारे लिए यह महत्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य का सार्वभौम स्वरूप क्या है, बल्कि महत्वपूर्ण है अस्तित्व की स्थितियां जिनमें हमें जीना है। इसके लिए मनुष्य की वैचारिक दृष्टि भी इन अस्तित्वमूलक अनुभूतियों के अनुरूप ही होनी चाहिए। यही कारण है कि अस्तित्ववाद की केन्द्रीय एवं मौलिक मान्यता यह है कि विचार को मनुष्य पर अथवा अस्तित्ववादी व्यक्ति पर केन्द्रित होना चाहिए।

हमारा चिन्तन चाहे जिस रूप में हो उसके केन्द्र में मनुष्य ही है, अतः वह मनुष्य के अस्तित्व की उपेक्षा करके सार्थक नहीं हो सकता है। इसीलिए अस्तित्ववादी दृष्टि मानव केन्द्रित दृष्टि है। इस अर्थ में कुछ समालोचकों का कहना कि अस्तित्ववादी चिन्तन दर्शक की दृष्टि का चिनतन नहीं, बल्कि अभिनेता की दृष्टि का चिन्तन है। हेगल की प्रत्ययवादी दृष्टि का उपहास करते हुए किर्केगार्ड कहते हैं कि हेगल हमारे सामने जगत तथा मनुष्य के सम्बन्ध में एक विशाल नाटकीय दृश्य प्रस्तुत करते हैं, किन्तु वे भ्रान्त हैं, क्योंकि वे देख ही नहीं पाते कि मानवीय नाटक के पात्र हम सभी हैं, हमें नाटक देखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम तो नाटक खेल रहे हैं। इन सभी बातों का केन्द्र यही है कि अस्तित्ववादियों के अनुसार मानवीय सत्य को समझने के लिए मनुष्य की अस्तित्ववादी स्थिति के अनुरूप ही विचार करना आवश्यक है।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों को आधुनिक मनुष्य की वर्तमान स्थिति की पूर्ण जानकारी थी। यह पूर्ण रूप से समकालिक विचार है। यद्यपि विभिन्न विद्वानों ने अस्तित्ववाद की वैचारिक विशिष्टताओं की साम्यता प्राचीन ग्रीक और भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में एवं ईसाई धर्म दर्शन में करने का प्रयास किया है। यह सच है कि अस्तित्ववाद का उद्‌भव एक विशेष प्रकार की मानव स्थिति के अनुभव पर निर्भर है। यह अनुभूति वह मानवीय स्थिति है जिसमें आधुनिक युग का मनुष्य घिरा है। विज्ञान और तकनीक की प्रगति से विकसित मानसिकता ने मनुष्य को यान्त्रिक बना दिया, इससे मानवीय संवेदनाएं मर सी गई। इसके अतिरिक्त दो विश्व युद्धों की विभीषिकाओं की स्पष्ट अनुभूति आदि की पृष्ठ भूमि में अस्तित्ववादी दृष्टि सृजित होती है। इससे स्पष्ट है कि अस्तित्ववादी चिन्तन समकालीन चिन्तन है। कार्ल–यास्पर्स ने कहा है कि एक अर्थ में सभी दर्शन समकालीन ही होते हैं किन्तु अस्तित्ववाद को इस अर्थ में समकालीन नहीं कहा जा रहा है। यह इस अर्थ में समकालीन है कि इस प्रकार की दृष्टि इस युग की देन है।

कुछ विद्वानों के अनुसार आधुनिक युग मनुष्य के लिए एक विशेष प्रकार की आपातीय स्थिति है। विज्ञान और तकनीकी उपलब्धियों के परिणाम स्वरूप मनुष्य के सुख सुविधाओं में वृद्धि हुई। किन्तु जैसे–जैसे सुखभोग के उपकरण बढ़ते जा रहे हैं वैसे–वैसे सुख भोग की अनुभूति भी शिथिल पड़ती जा रही है। मशीनी जीवन जीते–जीते मनुष्य भी मशीन बनता जा रहा है। उसके सारे कर्म

यन्त्रवत होते जा रहे हैं तथा उसकी आन्तरिकता एवं उसकी मानवीयता का हनन होता जा रहा हैं यह स्थिति मानव के आमानवीयकरण की प्रक्रिया है। मनुष्य की मानवीयता अर्थात संवेदनशीलता समाप्त होती जा रही है, अस्तित्ववादी विचारकों को इस विषमता की अनुभूति है। उन्हें चिन्ता है कि मनुष्य कहीं इस प्रकार की स्थिति में कहीं खो न जायें। अतः वे यह आवश्यकता महसूस करते हैं कि मनुष्य को उसकी मानवीयता उसकी विशिष्टता एवं उसके होने की गरिमा की अनुभूति करायी जाये। इसी कारण अस्तित्ववाद मनुष्य को विचार के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। इस विशेष अर्थ में अस्तित्व मानवता–वादी दर्शन है।

अस्तित्ववाद बुद्धिवाद की विरोधी विचारधारा है। यह हेगल और उसके अनुयायियों के अतिशय बुद्धिवाद के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया है। अस्तित्ववादियों के अनुसार तार्किक और बौद्धिक चिन्तन के द्वारा मानवीय सत्यों को आत्मसात नहीं किया जा सकता है। इस संदर्भ में किर्केगार्ड का यह कथन प्रसिद्ध है कि 'सत्य आत्मनिष्ठता है' मानवीय समस्याओं का सम्बन्ध मनुष्य की अनुभावात्मक स्थितियों से है। मनुष्य के लिए उसका अनुभव ही वास्तविक सत्य है। प्रेम, घृणा सत्य, आदि का सम्बन्ध उतना बौद्धिक चिन्तन से नहीं है जितना कि साक्षात अनुभूति से है। घृणा का बोध तब तक नहीं हो सकता है जब तक कि व्यक्ति घृणा का साक्षात् अनुभव न किया हो। इसी प्रकार गरीबी, उपेक्षा अरूचि, दुरास्था, एबसर्डिटी आदि की प्रतीति चिंतन परक नहीं बल्कि अनुभव परक होती है। इससे स्पष्ट है कि अस्तित्ववाद मनुष्य की उपेक्षा के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया है।

चिंतन तथा विज्ञान दोनों में ही मनुष्य की आन्तरिक चेतना मानवता का प्रायः हनन होता रहा है। हेगल जैसे अमूर्तभावों के पोषक मनुष्य के अस्तित्व के स्थान पर सारतत्व का चित्र प्रस्तुत करते हैं जो जीवन और अस्तित्व की गलत समझ पर आधारित है। उल्लेखनीय है कि सोरेन किर्केगार्ड ने हेगल के समय में ही बुद्धिवाद का विरोध प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु हेगल के प्रखर व्यक्तित्व के समक्ष किर्केगार्ड की बात दब गई। अस्तित्ववाद विज्ञान के विरूद्ध नहीं है, किन्तु अति वैज्ञानिकता के विरूद्ध अवश्य हो जाता है। यह इस मत के विरूद्ध है कि मनुष्य को एक वस्तु समझ लिया जाय। आधुनिक मनोविज्ञान की व्यवहारवादी व्याख्या के अनुसार मनुष्य प्रतिक्रियाओं का समूह मात्र हैं जो

उद्यीपनों के अनुरूप व्यवस्थित हो सकता है। अस्तित्ववाद इस प्रवृत्ति का विरोधी है। अस्तित्ववाद का मुख्य लक्ष्य मनुष्य की गरिमा को प्रतिष्ठित करना है। अतः यह अति वैज्ञानिकता और अति बौद्धिकता जो अमानवीय करण का मार्ग खोल देती है का विरोध करता है।

अस्तित्ववाद मनुष्य के सार्वभौम एवं अनिवार्य गुणों पर विशेष ध्यान केन्द्रित करने की प्रवृत्ति का विरोधी है। पाश्चात्य दार्शनिक संस्कृति में प्लेटो और अरस्तू के युग से लेकर हेगल पर्यन्त मनुष्य की व्याख्या एक विवेकशील प्राणी के रूप में की गई है। किन्तु जो स्थापनाएं एक मनुष्य पर लागू होती हैं आवश्यक नहीं है सभी मनुष्यों पर लागू हों। किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है, मनुष्य में उसकी वैयक्तिकता प्राथमिक होती है। एक ही परिस्थिति में रहने वाले विभिन्न व्यक्ति भिन्न–भिन्न रूप में क्रिया शील होते हैं। अतः मनुष्य के सामान्य और जातिगत लक्षणों को जान लेने से उसके यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं हो सकता है।

परम्परागत रूप से दार्शनिक चिन्तन समग्र दृष्टि की बात करता है, किन्तु अस्तित्ववादी इस प्रवृत्ति के विरूद्ध हैं। सिद्धान्ततः जब भी हम किसी दृष्टि की बात करते हैं तो विशेष परिप्रेक्ष्य की ही दृष्टि होती है। यहां तक कि तथाकथित समग्र दृष्टि भी किसी व्यक्ति विशेष की ही दृष्टि होती है। कोई व्यक्ति ही यह तय करता है कि वह सभी वस्तुओं को एक समग्र दृष्टि से देखेगा। यदि कोई सार्वभौम निष्कर्ष स्थापित भी होता है तो वह भी किसी व्यक्ति विशेष की दृष्टि से ही स्थापित होता है।

अस्तित्ववाद आत्मनिष्ठता की उपेक्षा के भी विरूद्ध है। प्रायः सभी प्रकार के मानव विज्ञानों का ध्यान बाध्यता और वस्तुनिष्ठता पर आधारित होता है। वे यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य की क्रियाओं व्यवहारों, स्नायुतन्त्र आदि का निरीक्षण एवं परीक्षण करके मनुष्य को समझा जा सकता है। किन्तु इस प्रकार के अध्ययनों से केवल मनुष्य के बाह्य स्वरूप को ही समझा जा सकता है। उसके आन्तरिक स्वरूप को नहीं। जबकि मनुष्य का यथार्थ स्वरूप उसकी आन्तरिकता एवं आत्मनिष्ठता में ही निहित है।

यद्यपि अस्तित्ववाद का केन्द्र व्यक्ति है किन्तु इससे यह व्यक्तिवादी या आत्मनिष्ठतावादी नहीं हो जाता है। अस्तित्ववाद पर व्यक्तिवाद का आरोप तब

सही होता जब वह व्यक्ति को विश्व का मानदण्ड बना देता। प्राचीन सोफिष्ट विचारक प्रोटा गोरस के इस मत को अस्तित्ववाद नहीं मानता है कि 'मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड है' अस्तित्ववाद का यही कहना है कि व्यक्ति का वास्तविक अस्तित्व उसकी आन्तरिकता में है।

अस्तित्ववाद उन सभी सिद्धान्तों एवं प्रयत्नों के विरूद्ध है जो मानव अस्तित्व के विषय में पूर्णतया अन्तिम निष्कर्ष स्थापित करने के प्रयत्न में रहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान का लक्ष्य भी कुछ ऐसा ही है जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है। मनुष्य के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई पूर्ण रूप से निश्चित एवं गणितीय उत्तर नहीं दिया जा सकता है। इसी कारण वह कहता है कि मनुष्य का अस्तित्व मूलतः अनिश्चय और विभिन्न अर्थ बोधक होता है। इस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता व्यक्ति का स्वरूप चिन्तन और अनुभूति किस दिशा में प्रवाहित होगी इसका पूर्ण निर्धारण नहीं हो सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि अस्तित्ववाद का केन्द्र मानव है और वह भी अस्तित्ववान व्यक्ति। अस्तित्ववाद अस्तित्ववान व्यक्ति की अनुभूतियों द्वारा मानव अस्तित्व की कहानी कहता है। मानव अस्तित्व की अनुभूति आन्तरिकता की अनुभूति है, अतः यह कहानी मनुष्य की आन्तरिकता की कहानी है।

जहां तक अस्तित्ववाद के नाम की सार्थकता का प्रश्न हैं, अस्तित्ववाद अस्तित्व शब्द के प्रचलित अर्थ को ग्रहण करके इसके मूलार्थ पर ध्यान देता है। इस अर्थ में आर्विभाव या उद्‌गमन अथवा उभरना इसके मूल में है। अतः इस अर्थ में अस्तित्व का अर्थ अस्तित्व की अनुभूति के साथ उभरते रहना, सतत् आविर्भावित होते रहना है। स्पष्टतः मानव के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु इस अर्थ में अस्तित्ववान नहीं हो सकती है। केवल मानव को ही सतत अनुभूति होती रह सकती है कि वह अपने में अपने से उभर रहा है। अस्तित्व के शब्द के मूलार्थ में केवल मानव अस्तित्ववान है, अतः अस्तित्ववाद को मानव केन्द्रित विचार होना ही है।

अस्तित्ववादी सन्दर्भ में 'अस्तित्व' शब्द का अर्थ अस्तित्व की अनुभूति के साथ अस्तित्ववान रहना तथा इस अर्थ में केवल मानव अस्तित्ववान है। अस्तित्व की प्रथम अनुभूति के साथ ही इस कहानी का आरम्भ होता है। अस्तित्ववाद इसे स्वीकार करता है कि जब बच्चा जन्म लेता है तो वह इस अनुभूति के साथ नहीं पैदा होता है। मनुष्य की कहानी का आरम्भ अस्तित्व की प्रथम अनुभूति के

साथ ही होता है, वह चाहे जब भी हो। अतः अस्तित्ववाद मानव की आन्तरिकता की विकास की कहानी कहता है जिसका आरम्भ अस्तित्व की प्रथमानुभूति से होता है तथा मृत्यु तक अस्तित्व के सतत उभरने की कहानी है। इस अर्थ में अस्तित्ववाद मानव आन्तरिकता के विकास की कहानी कह रहा है। इसीलिए सभी अस्तित्ववादी विचारकों के ध्यान का केन्द्र अस्तित्ववान व्यक्ति तथा उनके विचार एवं विवेचना का केन्द्र आन्तरिकता हो जाती है।

अस्तित्व की प्रथमानुभूति के साथ ही व्यक्ति को यह अनुभूति भी होती है कि वह एक परिस्थिति में है। प्राथमिक अनुभूति में परिस्थिति की चेतना विश्लेषण द्वारा स्पष्ट होने पर इस परिस्थित के दो मूल अवयव हमारे समक्ष आते हैं। एक वस्तुएं तथा दूसरा अन्य। अब व्यक्ति को यह अनुभूति होती है कि उसकी वैयक्तिकता का विकास उसकी 'वस्तुओं की अनुभूति' तथा उसकी अन्य की अनुभूति से प्रभावित है। इस प्रकार उसके लिए अस्तित्व के तीन आयाम स्पष्ट होते हैं, वस्तु, वह स्वयं, अन्य। इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्धों व व्यक्ति की अन्य के प्रति अनुभूतियों आदि का विवेचन प्रत्येक अस्तित्वादी विचारक अपने–अपने ढंग से करता है। कुछ इस विवेचन में ईश्वर को ढूढ़ लेते हैं तो कुछ अनुभूति की पूर्णतया मानवीय व्याख्या को ही उपयुक्त समझते हैं। इस सबके बावजूद सभी की दृष्टि अस्तित्व के तीनों आयामों पर ही रहती है।

अस्तित्व की प्रथमानुभूति किसी ईश्वर की अनुभूति नहीं है, वह केवल आत्मानुभूति है। यह स्वयं की अर्थात उस अनुभूति में स्वयं अकेलेपन की अनुभूति है। अब इसी अनुभूति के अनुरूप आन्तरिकता को विकसित होना है।अतः यह अनुभूति एक प्रकार से व्यक्ति की मौलिक स्वतन्त्रता की अनुभूति है। यदि यह अकेलेपन की अनुभूति नहीं होती, यदि इसमें कुछ 'और' भी अनुभव होता तो वह कुछ 'और' प्रभावित करता या बाधित करता या सहयोग करता। अतः यह मूल अनुभूति एक दृष्टि से स्वतन्त्रता की अनुभूति है और स्वतन्त्रता के साथ दायित्व तो जुट ही जाता है। फलतः 'स्वतन्त्रता और दायित्व' अस्तित्ववादी विचारकों के लिए एक बड़ा रूचिकर विषय बन जाता है, इसलिए अस्तित्ववादी विचारधारा में 'स्वतन्त्रता औंर दायित्व' भी एक विचार बिन्दु है।

स्वतन्त्रता के विचार के साथ अनिवार्यतः स्वतन्त्रता निर्वाह, के आधार पर इन विचारकों ने प्रमाणिक जीवन तथा अप्रामाणिक जीवन (Un Authentic

Existence) में अन्तर किया है। कुछ विचारकों ने प्रामाणिक जीवन की परिणति 'आस्था' एवं ईश्वर विश्वास में ढूढ़ा तो कुछ ने इसे इसके साथ जुटी हुई चिन्ताओं एवं सहचर्यों के साथ स्वीकार किया। अप्रमाणिक जीवन के चित्रण में भी आधुनिक जीवन की विसंगतियों के प्रकाश में लाते हुए आधुनिक जीवन के सभी पक्षों का सफल चित्रण किया गया है।

मूलतः निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद में शून्यता को विचार स्वरूप बार–बार उल्लेखित किया गया है। विचारकों द्वारा इसके ज्ञानमीमांसीय एवं इसके अस्तित्व मूलक पक्ष दोनों पर ही प्रकाश डाला गया है। हाइडेगर तथा सार्त्र ने इसे अपने विचारों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। ज्ञानमीमांसीय रूप में इनके अनुसार, निषेध की सार्थकता यही है कि वह चेतना की संरचना में योगदान देती है, तथा तात्विक पक्ष में यह अस्तित्व की अनुभूति का अनिवार्य अंग है। इस सन्दर्भ में सार्त्र ने अपने ग्रन्थ सत् और असत् (Being and Nothing) में निषेध की व्याख्या की है। उसके अनुसार चेतना विषया पेक्षी होने के कारण विषय नहीं हो सकती हैं चेतना और विषय में मौलिक भिन्नता है। यह भिन्नता स्वयं न तो चेतना है और न विषय, यह कुछ नहीं है। कुछ नहीं या असत् एक प्रकार का अलगाव है जो चेतना को उसके विषय से अलग करती है। यद्यपि यह असत् है तथापि इस अलगाव के बिना चेतना संभव नहीं है। इसीलिए सार्त्र कहता है कि असत् चेतना को उत्पन्न करता है और यह चेतना के केन्द्र में विद्यमान है। चेतना अपने अतीत तथा भविष्य को चिन्तन का विषय बनाती है। सभी विषयों से भिन्न होने के कारण चेतना अपने आप में अकेली है। इस प्रकार वह पूर्ण स्वतन्त्र और आत्म निर्भर है। इसीलिए सार्त्र कहता है कि मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है।

### *(क) किर्केगार्ड (1813—1855)*

डेनमार्क निवासी किर्केगार्ड हेगल के समकालीन थे उन्होंने हेगल के समय में ही कहा थ कि बुद्धिवादी दर्शन खोखला है। हेगल विचारों और भावों का ऐसा जटिल ताना बाना खड़ा करते है कि व्यक्ति उसकी कोटियों के द्वन्द्वात्मक व्यूह में ऐसा उलझ जाता है कि पुनः निकल नहीं पाता है। बौद्धिक चिन्तन की प्रक्रिया मानवीय सत्य को ग्रहण करने में असमर्थ होती है क्योंकि यह ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत पर आधारित है। मानवीय सत्य के लिए इस द्वैत को दूर करना आवश्यक है। मानवीय सत्य को जानने का अर्थ है उन्हें धारण

करना, उनका साक्षात्कार करना। इसीकारण से बुद्धिवाद इस कार्य में असफल हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि बुद्धिवाद अमूर्त चिन्तन के कारण अमानवीय करण का सूत्रपात करता है। अमानवीय करण की प्रवृत्ति सार्वभौमिकता पर विशेष बल देने के कारण उसे नीरस बना देती है। इसके फलस्वरूप मनुष्य के विशिष्ट स्वरूप की उपेक्षा हो जाती है। वह मानव समुदाय का एक उदाहरण मात्र बन जाता है। मनुष्य की विशिष्टताओं को उपेक्षित कर दिया जाता है, और समाज द्वारा बनाये गये नियमों को मान करके उसी के अनुरूप जीवनयापन करने लगता हैं। किन्तु यह मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का निरूपण नहीं कर पाता है। दार्शनिक चिंतन के लिए भावना और संकल्प की उपेक्षा नहीं की जा सकती है, अतः ज्ञान के लिए प्रेक्षक दृष्टि की अपेक्षा कर्ता दृष्टि अधिक महत्त्वपूर्ण है। दर्शन के लिए वैज्ञानिक विधि उपयुक्त नहीं हो सकती है, क्योंकि यह विषय परक होती है, किन्तु दर्शन कोई विज्ञान नहीं हैं। उसकी दृष्टि आत्मनिष्ठ होती है।

किर्केगार्ड मनुष्य को विषय के रूप में नहीं बल्कि विषयी के रूप में अस्तित्ववान मानते हैं। भौतिक पदार्थों का वास्तविक अस्तित्व नहीं हैं, क्योंकि वे विषय रूप हैं वे कभी विषयी नहीं हो सकते हैं। अपने जीवन की अनुभूतियों के आधार पर किर्केगार्ड ने मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है।

### (1) इन्द्रियानुभवापेक्षी अवस्था :

इस अवस्था में मनुष्य का जीवन सहज प्रवृत्तियों से संचालित होता है, उसमें सुख की ओर प्रवृत्ति पायी जाती है। यह जीवन आनन्ददायक नहीं है। अतः इससे उद्विग्न होकर आत्महत्या की कल्पना की किन्तु संयोगवश उनका नैतिकपरिवर्तन हो गया।

### (2) नैतिक जीवन :

यह सजह प्रवृत्तियों से संचालित नैतिक नियमों से संचालित जीवन है। नैतिक जीवन सुख–लोलुप जीवन की तरह अव्यवस्थित नहीं होता है। बल्कि ऐसा जीवन कुछ मूल्यों और आदर्शों के प्रति प्रतिबद्ध होता है। किन्तु नैतिक जीवन में भी व्यक्ति को पूर्ण संतोष नहीं मिलता है, क्योंकि ऐसा जीवन भी किसी न किसी सर्वव्यापी नियम के अनुसार संचालित होता है। इसके

फलस्वरूप मनुष्य पराधीन सा हो जाता है। उसे अपनी अपूर्णता का बोध होता है, किन्तु इस अपूर्णता के अनुभव से मनुष्य को पूर्णता का संकेत मिलता है। उसके बाद धार्मिक जीवन का विकास होता है।

### (3) धर्म परायण अवस्था :

किर्केगार्ड के अनुसार यह पूर्ण सत्ता व्यक्तित्व पूर्ण ईश्वर है। ईश्वर का यह ज्ञान बौद्धिक विवेचन का परिणाम नहीं हो सकता है,अतः ईश्वर को सिद्ध करने के सभी तर्क असफल हो जाते हैं। ईश्वर का ज्ञान पूर्ण से अपूर्ण के साक्षात्कार का परिणाम है।

किन्तु इन तीनों अवस्थाओं में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने के लिए मनुष्य को स्वयं को स्वेक्षा से नियोजित करना पड़ता है। ये भी अनिवार्य नहीं है कि मनुष्य के जीवन में केवल ये तीन स्थितियां ही घटित हैं। तार्किकता का अभाव होने के कारण धार्मिक जीवन आस्था के द्वारा स्वीकृत होता है। कोई व्यक्ति ईसाई धर्म में जन्म लेने मात्र से सच्चा इसाई नहीं बन जाता है। ईसाई धर्म की मान्यताओं को तार्किक सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। विषयी निष्ठ होने के कारण ये मान्यतायें आस्था मूलक हैं। अतः एक वस्तुनिष्ठ सत्ता के रूप में ईश्वर की खोज करना असंगत है। नैतिक निराशा से धार्मिक आस्था की ओर संक्रमण की प्रक्रिया को किर्केगार्ड ने नैतिकता का सोद्देश्य निलम्बन कहा है। इस अवस्था में नैतिक आदेश निरर्थक हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में किर्केगार्ड ने 'अब्राहम' और 'ईसाक' का उदाहरण दिया है। अब्राहम अपने पुत्र ईसाक के बलि देने के लिए एकान्त में ले जाते हैं, इसे धार्मिक आस्था का आदर्श दृष्टान्त माना जाता है। यहां नैतिक तथा धार्मिक आदेशों की अपेक्षा ईश्वर के प्रति समर्पण की आन्तरिक आस्था का ही महत्व है।

किर्केगार्ड का देहावसान सन् 1855 में हुआ और साठ–सत्तर वर्ष तक किसी का ध्यान इनके विचारों की तरफ नहीं गया। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् पराजित जर्मनी में साम्यवादी नेतृत्व में क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रबल हुआ, दूसरी ओर पूंजीवादी अपने आन्तरिक संकट से उबरने में असमर्थ होकर क्रमशः फासिस्ट और तानाशाही की ओर बढ़ा। इस निराशा और पराजय के संक्रमण

काल में जर्मन बुद्धिजीवियों के किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी दर्शन ने एक नया जीवन दृष्टिकोण दिया।

जर्मन दार्शनिक **कार्लयास्पर्स** ने सिद्ध किया कि बड़े–बड़े कल कारखानों वाली वर्तमान सभ्यता एक रोग है। मनुष्य जितना ही विचारों को वस्तुगत कसौटी पर परखता है, उतना ही मानव अस्तित्व की वास्तविक विशेषता से दूर होता गया है। चिन्तन की यान्त्रिक और वस्तुगत व्यवस्थाओं ने मानव मन को कुचल डाला है। मनुष्य अपना बाह्य जीवन देखकर समझता है कि वह प्रगति कर रहा है; वास्तव में वह अपने मूल आन्तरिक शक्ति का नाश कर रहा है। मनुष्य के लिए दो ही रास्ते हैं या तो घमण्ड में आकर वह ईश्वर की सत्ता का इन्कार करें या अपना दुखी मन उसे समर्पित कर दें।

**मार्टिन हाइडेगर** कार्लयास्वर्स के समकालीन व जर्मन थे, एवं उन्हीं की भांति वस्तुगत ज्ञान से इन्कार करते थे। इनका सिद्धान्त था कि मनुष्य जो कुछ देखता सुनता है, वह वस्तुगत ज्ञान नहीं होता, उसकी इच्छा से प्रेरित आत्मगत ज्ञान होता है। इनकी विचारधारा ज्ञान की वस्तुनिष्ठता पर नहीं, बल्कि आत्मनिष्ठता पर बल देती हैं किसी वस्तु को हम किस रूप में देखें बुद्धि या मन इसका निश्चय पहले ही कर लेता है। जन्म लिए इस संसार में संसार को मनुष्य वस्तुगत रूप में नहीं जान सकता हैं वह स्वयं को रूपों के माया लोक में खोया पाता है। यह माया लोक निरर्थक और निरूद्देश्य है, किन्तु इसी में मनुष्य को जीना है इसलिए इसे सार्थक और सोद्देश्य बनाना होगा। यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति अपना उद्देश्य निश्चित करके लक्ष्य को प्राप्त करने पर अमल करें। तभी उसे अपना अस्तित्व बोध हो सकता है। यद्यपि इस प्रकार से अपना उद्देश्य निश्चित करना कम लोगों के लिए संभव हो पाता है, वे दूसरे के गढ़े हुए मन्त्रों को जपते हैं। स्वयं अपना उद्देश्य निश्चित करने की उनमें क्षमता नहीं होती। वे सदैव मृत्यु भय से संत्रस्त रहते हैं, रोजमर्रा के कार्यों में अपने को व्यस्त रखते हुए इस भय को दूर रखना चाहते हैं। किन्तु मन इस तरह के बहलावे स्वीकार नहीं करता; उसमें यह अपराध भावना उत्पन होती है कि वह सत्य से आँखें चुराता है। इसलिए मनुष्य को दृढ़ता से मृत्यु भय से आँखे चार करना चाहिए।

**किर्केगार्ड और यास्पर्स** ईश्वर में विश्वास करते थे, किन्तु हाइडेगर ने अपनी व्यवस्था में ईश्वर को स्थान नहीं दिया। तीनों में समानता यह थी कि वे

वस्तुगत ज्ञान को अमान्य कर आत्मगत ज्ञान को स्वीकारते थे। किर्केगार्ड के बाद यास्पर्स और हाइडेगर अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक हुए। पराजित जर्मनी के बुद्धिजीवियों में इन्होंने अस्तित्ववाद को लोकप्रिय बनाया।

जर्मनी में हिटलर के अभ्युदय के बाद फ्रांस में पूंजीपतियों और राजनीतिकों का एकदल फासिस्टवाद का समर्थक हो गया और दूसरा इसके विरोध में कम्यूनिष्ट पार्टी के साथ था। इनमें से एक दल अस्तित्ववाद के प्रभाव में आया। फ्रांस पर हिटलर के आक्रमण के साल भर पहले सार्त्र का पहला उपन्यास 'उबकाई' (ला नौ से) छपा। युद्ध के दौरान उसका एक दार्शनिक ग्रन्थ 'अस्तित्व और शून्य' (लेत्र एल नेऑं) भी प्रकाशित हुआ। सन् 1946 में सार्त्र ने एक भाषण दिया जो पुस्तक रूप में छपा 'अस्तित्ववाद मानववाद है'', इसमें उन्होंने उन लोगों को उत्तर दिया जो अस्तित्ववाद को मानवता का विरोधी मानते थे।

सार्त्र का कहना था कि, मनुष्य जब पैदा होता है, तब वह तुरन्त मानवीयता नहीं प्राप्त कर लेता है। वह मानवीयता अर्जित करता है, स्वतन्त्र इच्छा से उद्देश्य निश्चित करके। मानवीयता नाम की कोई ईश्वर निर्मित वस्तु नहीं है। ईश्वर विहीन संसार में मनुष्य अपनी मानवीयता स्वयं गढ़ता है। वह जब अपना उद्देश्य निश्चित करता है तब उसके द्वारा अपना हित नहीं करता वरन् उद्देश्य का निश्चय मानव मात्र के लिए हितकर होता है। मनुष्य के आत्मगत ज्ञान के अलावा वह किसी पर निर्भर नहीं हो सकता। उसे अपना भाग्य स्वयं निर्मित करना है। मनुष्य की यह नियति है कि वह अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करें। सार्त्र के अनुसार भविष्य में श्रमिक वर्ग की विजय होगी ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। मनुष्य जैसा निर्णय करेंगे सामाजिक परिस्थिति वैसी ही होगी। मनुष्य का मन पैतृक संस्कारों या सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है, यह कहकर हम अपनी स्वतन्त्रता से बच नहीं सकते। मनुष्य का आत्म सम्मान इस बात में है कि वह वस्तु नहीं है। भौतिकवाद के लिए मनुष्य भी एक वस्तु हैं अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य अपनी क्षमता को सर्जनात्मक ढंग से कर्ममय जीवन में चरित्रार्थ करके अपना निर्माण स्वयं करता है।

हिन्दी साहित्य पर अस्तित्ववादी विचारक सार्त्र का विशेषतः प्रभाव देखा जा सकता है। अस्तित्ववाद का छायावादोत्तर कविता पर प्रभाव जानने से पहले संक्षेप में सार्त्र की विचारधारा का परिचय निम्न हैं –

### *(ख) ज्याँ पाल सार्त्र :*

### (1) **अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है :**

प्लेटो से लेकर डेकार्ट एवं हेगल तक प्रायः सभी महान विचारक सार को सबसे अधिक महत्वपूर्ण और वास्तविक मानते रहे। अस्तित्व का स्थान गौण और उपेक्षित रहा, डेकार्ट ने 'मैं सोचता हूँ (सार) से 'मैं हूँ' (अस्तित्व) को सिद्ध करने का प्रयास किया। प्रत्ययवादी और वस्तुवादी दोनों ही दार्शनिकों के अनुसार मनुष्य का मूल स्वरूप पहले से ही निर्धारित है। वह न तो अपने मूल स्वरूप का अतिक्रमण कर सकता है और न परिवर्तन। अस्तित्ववादियों के अनुसार यह सिद्धान्त मनुष्यों पर लागू नहीं होता है। मनुष्येतर प्राणियों और पदार्थों पर इसे भले ही लागू किया जाये तथापि मनुष्य के सन्दर्भ में उसके अस्तित्व का प्राथमिक महत्व है। मनुष्य पहले अस्तित्व में आता है, उसके बाद वह जैसा बनना चाहता है, वैसे ही बन जाता है। इस प्रकार उसका अस्तित्व उसके सार को निर्धारित करता है। मनुष्य इस बात के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है कि वह क्या होना चाहता है। उसकी नियति उसके नियन्त्रण में है, क्योंकि वह मूल्यों का सृष्टा है। मनुष्य का सार एक खुली संभावना (Open Possibility) है। वह अपने प्रयासों के द्वारा नये मूल्यों की खोज करता है। इसी लिए सार्त्र कहता है कि "मनुष्य–मनुष्य का भविष्य है' (Man is the future of man) मनुष्य का कार्य ही उसका स्वरूप है, वास्तव में मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा ही अपने स्वरूप का निर्धारण करता है। यदि मनुष्य किसी नियम को स्वीकार या अस्वीकार करता है तो स्वेक्षा से, किसी बाह्य दबाव के कारण नहीं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के अस्तित्व की व्याख्या किसी यान्त्रिक नियम के आधार पर नहीं की जा सकती है। सार्त्र के अनुसार कोई भी ऐसा सार नित्य नहीं है जिसे ईश्वर के मन का प्रत्यय कहा जा सके। सार का निर्धारण मानव अभिरूचि और चयन की स्वतन्त्रता से होता है। उसकी वस्तुनिष्ठ सत्ता नहीं होती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य का सार सर्वथा निजी होता है। सार्त्र अपनी अबुद्धिवादिता (Non Rationalty) और व्यष्टिवादिता के बावजूद मनुष्य के सार्वभौमिकता को स्वीकार करता है। मनुष्य अपने कर्मो के द्वारा अपने सार को निर्धारित करने के

साथ–साथ दूसरे के सार को प्रभावित तथा निर्धारित करता है यह मनुष्य का एक महान उत्तरदायित्व है और वह उससे बच नहीं सकता। इसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्वतन्त्रता से है।

सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वतन्त्र संकल्प से युक्त है। यद्यपि मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है तथापि वह दो बातों के लिए स्वतन्त्र नहीं है।

(1) मनुष्य जन्म लेने के लिए बाध्य है। मनुष्य का जन्म उसके अपने स्वतन्त्र चयन का परिणाम नहीं है।

(2) मनुष्य अन्य लोगों के साथ रहने के लिए बाध्य है। जो कि व्यक्ति अभीष्ट वर्ण की स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं करता है उसका जीवन अप्रामाणिक हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मशीन का एक पुर्जा मात्र है। मनुष्य का अस्तित्व उसकी मौलिक स्वतन्त्रता का सूचक है। मनुष्य की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए सार्त्र कहता है कि, "मनुष्य स्वतन्त्र होने के लिए अभिशाप्त है" किन्तु वह अपने जन्म के लिए स्वतन्त्र नहीं है। इसीलिए वह कहता है कि, "मनुष्य संसार में फेंक दिया गया है।" किन्तु स्वतन्त्र होते हुए भी मनुष्य अपने आप में पर्याप्त नहीं है "मैं वही हूँ जो हो सकता हूँ।"

सार्त्र के अनुसार मनुष्य में जन्मजात कुछ नहीं है। वह जो कुछ संकल्प करता है तद्नुसार बन जाता है। मनुष्य जो कुछ है वह उसके लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार सार्त्र मनुष्य की अबाध स्वतन्त्रता का समर्थन करता है। ईश्वर मनुष्य की स्वतन्त्रता के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है। इसीलिए वह ईश्वर को भी नहीं मानता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता और ईश्वर का अस्तित्व दोनों साथ–साथ संभव नहीं है। मनुष्य के निश्चित लक्षणों और क्षमताओं का विवरण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता है। मनुष्य के अस्तित्व का अर्थ है। अपने अस्तित्व की चेतना का होना। सार्त्र के अनुसार, अस्तित्व स्थिर एवं अपरिवर्तनशील नहीं होता है। यह निरन्तर क्रियाशीलता है। मानव अपनी आकांक्षाओं को निरन्तर निर्मित करता रहता है। इसके विपरीत पशुओं का अपनी जीवन चर्या में कोई योगदान नहीं रहता है, क्योंकि पशु मूल्यों की सर्जना नहीं कर सकते हैं।

## (2) स्वतन्त्रता की अवधारणा और मानवतावाद :

सार्त्र के अनुसार मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है। किन्तु स्वतन्त्रता के मार्ग में दो बाधायें हैं–

(1) संसार में जन्म लेना। (2) अन्य व्यक्तियों के साथ रहना।

मनुष्य संसार में जन्म लेने के लिए बाध्य है, यह उसके स्वतन्त्र चयन का परिणाम नहीं है, अतः अन्य अस्तित्ववादियों के समान वह कहता है कि, "मनुष्य संसार में फेंक दिया गयाहै, यह अवश्य है कि जन्म लेने के बाद मनुष्य निर्णय लेने में स्वतन्त्र है। मनुष्य स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है। यहां तक कि प्रलोभन और दबाव की स्थिति में लिए गये निर्णय भी स्वतन्त्रता पूर्वक संचालित होते हैं। सार्त्र के अनुसार मनुष्य एवं मनुष्येतर प्राणियों में अन्तर स्वतन्त्रता के कारण है। अन्य प्राणी कुछ नियमों से नियन्त्रित होकर व्यवहार करते हैं, इसके विपरीत मनुष्य नये नियमों की संरचना करता है। वह नियमों का पालन, परिवर्तन तथा उल्लंघन करने में स्वतन्त्र है। अतः मनुष्य के अस्तित्व और स्वतन्त्रता की व्याख्या स्थिर एवं यान्त्रिक नियमों के द्वारा नहीं की जा सकती है। मनुष्य जो संकल्प करता है वह उसके अनुसार ही बनता है। जन्मजात कुछ भी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य जो कुछ है वह उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। इस प्रकार सार्त्र मानव की अबाध स्वतन्त्रता का समर्थन करता है।

डेकार्ट ने सृष्टि कर्ता के रूप में और लाइबनीज ने पूर्ण एवं स्वतन्त्र चिदणु के रूप में ईश्वर की कल्पना करके मनुष्य की स्वतन्त्रता को नष्ट कर दिया। सार्त्र के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व मनुष्य की स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधक है। ईश्वर का अस्तित्व और मानव स्वातन्त्रय साथ–साथ नहीं चल सकते हैं। मनुष्य अपने सार का निर्माता स्वयं है न कि ईश्वर। यदि ईश्वर को मनुष्य के सार का निर्धारक माना जाये तो मानव अपने प्रामाणिक अस्तित्व से वंचित हो जायेगा। इसीलिए सार्त्र मनुष्य की स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधक समस्त नियत वादों का खण्डन कर देता है।

वह ईश्वर का खण्डन तर्क के आधार पर नहीं बल्कि अनुभूति के आधार पर करता है। अपनी आन्तरिक अनुभूति में सार्त्र को अरूचि या अकुलाहट

मिलती है। उसमें संसार का जो रूप दिखाई पड़ता है उसका न तो कोई उद्देश्य है और न तो कोई सृष्टा।

जगत की वस्तुएं वैसी ही है, प्रत्येक अस्तित्व कारण रहित है। वह दुर्बलता के कारण बना रहता है और सहसा समाप्त हो जाता है। मनुष्य के मन में ईश्वर का प्रत्यय कैसे उत्पन्न होता है। इसका उत्तर मनो वैज्ञानिक है। उसके अनुसार अपूर्ण मनुष्य पूर्णता की प्राप्ति के लिए अपनी चेतना की शून्यता का अतिक्रमण करना चाहता है ताकि वह अपने में सत् बन जाये। इसी 'अपने में सत्' बनने की इच्छा के कारण मनुष्य ईश्वर की अवधारणा कर लेता है। इस प्रकार सार्त्र ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर ईश्वर के प्रत्यय का विवेचन किया है।

सार्त्र के अनुसार मनुष्य की क्रियाशीलता उसके अतीत के कारण नहीं हो सकती हैं अतीत के लिए मैं कोई कर्म नहीं करता हूँ। जो हो चुका है उसके लिए कोई कर्म करना अर्थहीन है। जो नहीं हुआ है उसका निर्धारण संभव है। हमारी प्रेरणाएं भविष्योन्मुखी होती है भूतोन्मुखी नहीं। यहां पर सार्त्र का मत फ्रायड से भिन्न है, 'फ्रायड के अनुसार हमारी क्रियायें भूतकाल के प्रभाव से परिचालित और निर्धारित होती हैं। हमारा चरित्र हमारे अतीत के आधार पर निर्धारित होता है। किन्तु सार्त्र के अनुसार हमारा चरित्र अतीत का परिणाम नहीं है,बल्कि भविष्य से प्रेरित होकर हमारे अपने वरण का परिणाम है। अतः हम अपने चरित्र के लिए स्वयं उत्तरदायी है। वस्तुतः स्वतन्त्रता ही मनुष्य का अस्तित्व एवं स्वरूप है। जो लोग अपने को स्वतन्त्र नहीं मानते हैं वे उत्तरदायित्व से बचना चाहते हैं, जो एक पलायनवादी मानसिकता को जन्म देता है। (मैं वह हूँ जो बनूंगा, और मैं वह नहीं हूँ जो मैं हूँ)

स्वतन्त्रता के कारण ही मनुष्य में सन्त्रास या परिवेदना पैदा होती है। परिवेदना से शून्यता का सम्बन्ध है। परिवेदना का कारण दुरास्था है। मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है इसलिए वह बुरे विश्वास में पड़ने के लिए भी स्वतन्त्र है। दुरास्था असत बोलने से भिन्न है। झूठ बोलने के लिए कम से कम दो व्यक्तियों की आवश्यकता है, झूठ बोलने वाला व्यक्ति सत्य को जानते हुए भी वह उसे छिपाना चाहता है। किन्तु दुरास्था वाला व्यक्ति स्वयं से झूठ बोलता है। वह अप्रिय सत्य को अपने से छिपाता है। दुरास्था एक आत्म प्रवंचना है। उदाहरण स्वरूप प्रेमी और प्रेमिका का सम्बन्ध। इससे स्पष्ट है कि सार्त्र के अनुसार

मनुष्य का मूलभूत पारस्परिक सम्बन्ध विरोध एवं संघर्ष पर आधारित है। उनका पारस्परिक सम्बन्ध घृणा पर आधारित है। इसीलिए वह कहता है कि 'दूसरा मनुष्य नरक है' क्योंकि स्वतन्त्रता में बाधक है, मनुष्य की स्वतन्त्रता के कारण उसके मार्ग दर्शन हेतु न तो ईश्वर है, न कोई मूल्य है और न कोई नैतिक नियम ही। किसी भी प्रकार के नियत मार्ग का अनुसरण करना प्रवंचनात्मक विश्वास के कारण होता है। यह मनुष्य के उत्तरदायित्व से भागने का प्रयास है। प्रामाणिक अस्तित्व उसी व्यक्ति का है जो दुरास्था में नहीं पड़ता है। मनुष्य किसी योजना का अंग नहीं है। यदि वह किसी योजना का अंग होता तो वह उस योजना के अन्य अंगों से सम्बद्ध होता और तब वह स्वतन्त्र नहीं होता। उसके असम्बद्ध होने का अर्थ यह है कि वह प्रयोजनहीन और व्यर्थ है। इस प्रकार सांसारिक परिवेश में मनुष्य विसंगति की भावना से ग्रस्त हो जाता है। मनुष्य में संसार की वस्तुओं के प्रति अरूचि पैदा हो जाती है। जैसे मनुष्य संसार की वस्तुओं के साथ भावात्मक सम्बन्ध रखता है। वह वस्तुओं पर अधिकार स्थापित करना चाहता है, किन्तु होता इसके विपरीत है, वस्तुएं ही मनुष्य पर अधिकार कर लेती है। संसार मधु के समान स्नेहिल है। वह न तो तरल है और न ठोस है। वह मनुष्य के साथ ऐसा चिपक जाता है कि मनुष्य सांसारिक वस्तुओं के साथ अपनी इच्छानुसार आचरण नहीं कर सकता है। अतः उनके प्रति अरूचि पैदा हो जाती है।

इससे स्पष्ट है कि सार्त्र ने मानव अस्तित्व एवं जीवन की निराशावादी व्याख्या की है। किन्तु अपने जीव के अन्त में वह निराशावादी अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। अपनी प्रसिद्ध रचना 'Being and nothingness' में वह कहता है कि, ''मनुष्य का उद्धार संभव है किन्तु इसके लिए वैचारिक परिवर्तन आवश्यक है।'' 1960 में प्रकाशित पुस्तक 'Critique of Dilectic Method' में सार्त्र ने अस्तित्ववाद की व्यक्तिपरक दृष्टि का परित्याग कर दिया। उन्होंने उसके स्थान पर संघ परक दृष्टि का समर्थन किया। इस प्रकार वह मार्क्सवाद से प्रभावित हुआ। उसने यहां तक कहा कि, 'मार्क्सवाद इस युग का प्रमुख दर्शन है, और अस्तित्ववाद इसके अन्तर्गत एक विचार धारा मात्र है। पहले सार्त्र यह मानता था कि 'एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शत्रु है और उनके बीच का पारस्परिक विरोध कभी समाप्त नहीं किया जा सकता है। किन्तु बाद में वह दूसरों के साथ संघ बनाने पर बल देता है। इस प्रकार जहां पहले नैतिक जीवन असंभव था वहीं बाद में नैतिक जीवन संभव हो जाता है। किन्तु इसके

लिए सार्त्र को भारी मूल्य चुकाना पड़ता है। उन्हें मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का परित्याग करके मनुष्य को संघ रूप यन्त्र का एक अंग मानना पड़ता है। वह अन्त में संघ को सर्वोच्च स्थान देकर आशावादी हो जाता है।

यह सच है कि अतिशय बुद्धिवादियों और प्रत्ययवादियों ने अस्तित्ववादी चिन्तन के आर्विभाव के पूर्व सारतत्व को सर्वाधिक महत्व दिया। जिसके फलस्वरूप मनुष्य के अस्तित्व का महत्व नगण्य हो गया। अस्तित्ववादियों ने उनके दुराग्रह को ठुकराकर अस्तित्व का समर्थन किया जिससे दर्शन की दिशा ही बदल गई। किन्तु अस्तित्व को ही दर्शन का सर्वस्व मानकर दर्शन के अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण अस्तित्ववाद भी एकांगी हो गया। इस प्रकार एक अति का खण्डन करने के लिए अस्तित्ववादी दूसरी अति के जाल में उलझ गये और उनका चिंतन प्रतिक्रियावादी हो गया। इसी कारण से कुछ आलोचकों ने अस्तित्ववाद को निराशावादी दर्शन कहा है।

अस्तित्ववाद के विरूद्ध एक आरोप यह है कि वे जीवन के दुःखमय पक्षों को विशेष रूप से उभारते हैं, मृत्यु मय, संताप, घृणा आदि का अतिशयोक्तिपूर्ण रूप प्रस्तुत करके वे हमें भयभीत करना चाहते हैं। इस प्रकार अस्तित्ववादी जीवन के उज्जवल पक्षों की उपेक्षा करके निराशावाद की पुष्टि करते हैं, वे सुख, संतोष, प्रेम, सौन्दर्य आदि से सम्बन्धित जीवन के भावात्मक पक्षों का निष्पक्ष मूल्यांकन नहीं कर पाते हैं, वास्तव में भय, संताप, अरूचि आदि संवेगों को उत्तेजित करना चाहते हैं, और उसे संवेगात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं, किन्तु संवेगों को उत्तेजित करना दर्शन का कार्य नहीं है। यह मनोविज्ञान का कार्य है। किन्तु अस्तित्ववाद की यह आलोचना भी एक पक्षीय है। वास्तव में सन्त्रास, भय, अरूचि, दुरास्था, मृत्यु आदि चाहे जितनी सामान्य बातें क्यों न हो परन्तु उनसे मनुष्य का जीवन एवं चिन्तन प्रभावित होता है। अतः मनुष्य उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता है, किन्तु सार्त्र जैसे कुछ अस्तित्वादी मनुष्य की स्वतन्त्रता को पूर्ण मान लेते हैं, सार्त्र के दर्शन में स्वतन्त्रता अराजकता का पर्याय हो जाती है, वस्तुतः भय तथा दबाववश लिए गये निर्णयों को भी स्वतन्त्र संकल्प का परिणाम मानना संकल्प के स्वतन्त्रता की मूल धारणा के विरूद्ध है। किन्तु अस्तित्ववादी चिन्तन आत्मगत होते हुए भी इस अर्थ में व्यक्तिवादी नहीं है जिस अर्थ में प्रोटागोरस व्यक्तिवादी है। प्रोटागोरस के अनुसार व्यक्ति विशेष है, प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड है इसके विपरीत अस्तित्ववादियों के आत्मगत

अनुशीलन का केन्द्र मनुष्य की अपनी व्यक्तिगत समस्यायें ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज की समस्यायें है, प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए ही नहीं बल्कि मानव मात्र के लिए है। इससे स्पष्ट है कि अस्तित्ववादी का स्वान्तः सुखाय किया गया आत्मनिष्ठ चिन्तन परजन हिताय का विरोधी नहीं है। उनके इस चिन्तन में सार्वभौमिक और उदार दृष्टि की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है, इससे सिद्ध होता है कि अस्तित्ववाद एक मानवतावादी दर्शन है। जो मनुष्य की स्वतन्त्रता का उद्घोष करता है। यदि इसे मानववादी विचारधारा की पराकाष्ठा कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

## (ii) प्रयोगवादी कविता पर अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव :

द्वितीय विश्व युद्ध एक प्रकार के विचित्र मानसिक अवसाद तथा नैराश्य का जनक सिद्ध हुआ। शान्तिवादी नीति की घोर असफलता मार्क्सवादी सिद्धान्तों की वैजयन्ती फहराने वाले जनवादी, राष्ट्र की स्वार्थ लोलुपता, स्वातन्त्रयवादी शक्तियों का पाश्विक दमन एवं पराभव, और राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय विचार मंच का विलोप, ये सभी ऐसे कठोर सत्य थे जो हमारे देश एवं जाति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रखते हुए भी हमारी प्रबुद्ध चेतना को प्रभावित करने से न बच सके।

प्रयोगवाद सम्पूर्ण परम्पराओं के विरूद्ध विद्रोह के रूप में नवयुग में नवीन बोध को वाणी देने के निमित्त आविर्भूत हुआ था। इस नवोन्मेष में शायद 'ईश्वर' पहली कैजुअल्टी बना और प्रयोगवादी कवि बहुत कुछ सार्त व नीत्शे के समान नास्तिक बन गया। यद्यपि कि अस्तित्ववादी दर्शन निष्क्रियतावादी, पराजयवादी और निराशावादी नहीं है तथापि उसमें वेदना, निस्सहायता, एवं नैराश्य को जो महत्व मिला है वह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्याप्त भय एवं संत्रास से जनित है। इसी विचारधारा के प्रभाव स्वरूप व नव स्वतन्त्रता प्राप्त भारत की परिस्थितियां भी बहुत कुछ उन परिस्थितियों से साम्यता रखती थीं, जो कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की थी। प्रयोगवादी कवियों पर परिस्थित साम्यता के कारण इस विचारधारा का प्रभाव अवश्य पड़ा।

प्रयोगवादी कविता की भाँति प्रयोगवादी दर्शन (अस्तित्ववादी दर्शन) के आदि प्रवर्तक एवं पुरोधा अज्ञेय ही हैं, यद्यपि तार सप्तक के पाँच कवियों गजानन माधव मुक्ति बोध, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे

तथा राम विलाश शर्मा में समाजवादी दृष्टिकोण स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है तथापि उनके काव्य का मूल स्वर व्यक्तिवादी अस्तित्ववादी दर्शन से ही अनुप्राणित रहा है। मृत्यु भय, संत्रास, निराशा, क्षण जीविता, अपने स्व के अस्तित्व की अनुभूति, और अपने जीवन के लक्ष्य (सार) की अभिलाषा उनके कविताओं में देखी जा सकती है।

सार्त का दर्शन अपने आरम्भिक रूप में व्यक्तिवाद से प्रभावित रहा है। सार्त्र के अनुसार : दूसरा मनुष्य नरक है' और उसकी स्वतन्त्रता के लिए बाधक है। उसकी यही व्यक्तिवादिता आत्मरति व आत्मोन्मीलन की भावना मुक्ति बोध की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है–

"मैं अपने से सम्मोहित, मन मेरा डूबा निज में ही।
मेरा ज्ञान उठा निज से, मार्ग निकाला अपने से ही।"[16]

व्यक्तिवादी विचारधारा स्वयं के बारे में ही उत्पन्न होती है, उपर्युक्त पंक्तियों में मुक्तिबोध की वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। अस्तित्ववादी विचारधारा अपने वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति, एवं अपने अस्तित्व का प्रबोध करना चाहती है। व्यक्ति का अस्तित्व कहीं से आरोपित नहीं होता है, और न ही वह जन्म लेने मात्र से ही हो जाता है। जन्म के कुछ वर्षों में जब उसमें वैयक्तिक चेतना प्रथम बार उत्पन्न होती हैं तभी उसे अपने 'स्व' या अस्तित्व का आभास मिलता है, यह अस्तित्व व्यक्ति के अन्तर से ही उद्भाषित होता है। उपर्युक्त पंक्तियों में सार्त्र की विचारधारा अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है प्रति ध्वनित हो रहा है।

द्वितीय विश्व युद्ध के नैराश्य एवं मृत्युभय के वातावरण का प्रभाव एवं अस्तित्ववादी दर्शन पर इस वातावरण के प्रभाव का प्रतिफल अस्तित्ववादी विचारक के मन में हमेशा मृत्युभय एवं अस्तित्व का संकट बना रहता है। उसे स्वप्न में भी मृत्यु दर्शन होते रहते हैं इसी मृत्युभय का संत्रास मुक्तिबोध की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है।

"मैंने मरण चिन्तना की जब जीवन का दर्द बढ़ चला।
मानवता का कटु आलोचक अपने को ही दण्ड दे चला।।
मेरा मन गलता निज में जब अपने से ही हार खा चुका।
दारुण क्षोभ अग्नि में अपना प्रायश्चित प्रसाद पा चुका।।

\+ + + + + +

तथा राम विलाश शर्मा में समाजवादी दृष्टिकोण स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है तथापि उनके काव्य का मूल स्वर व्यक्तिवादी अस्तित्ववादी दर्शन से ही अनुप्राणित रहा है। मृत्यु भय, संत्रास, निराशा, क्षण जीविता, अपने स्व के अस्तित्व की अनुभूति, और अपने जीवन के लक्ष्य (सार) की अभिलाषा उनके कविताओं में देखी जा सकती है।

सार्त का दर्शन अपने आरम्भिक रूप में व्यक्तिवाद से प्रभावित रहा है। सार्त्र के अनुसार : दूसरा मनुष्य नरक है' और उसकी स्वतन्त्रता के लिए बाधक है। उसकी यही व्यक्तिवादिता आत्मरति व आत्मोन्मीलन की भावना मुक्ति बोध की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है–

> "मैं अपने से सम्मोहित, मन मेरा डूबा निज में ही।
> मेरा ज्ञान उठा निज से, मार्ग निकाला अपने से ही।"[16]

व्यक्तिवादी विचारधारा स्वयं के बारे में ही उत्पन्न होती है, उपर्युक्त पंक्तियों में मुक्तिबोध की वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। अस्तित्ववादी विचारधारा अपने वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति, एवं अपने अस्तित्व का प्रबोध करना चाहती है। व्यक्ति का अस्तित्व कहीं से आरोपित नहीं होता है, और न ही वह जन्म लेने मात्र से ही हो जाता है। जन्म के कुछ वर्षों में जब उसमें वैयक्तिक चेतना प्रथम बार उत्पन्न होती हैं तभी उसे अपने 'स्व' या अस्तित्व का आभास मिलता है, यह अस्तित्व व्यक्ति के अन्तर से ही उद्भाषित होता है। उपर्युक्त पंक्तियों में सार्त्र की विचारधारा अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है प्रति ध्वनित हो रहा है।

द्वितीय विश्व युद्ध के नैराश्य एवं मृत्युभय के वातावरण का प्रभाव एवं अस्तित्ववादी दर्शन पर इस वातावरण के प्रभाव का प्रतिफल अस्तित्ववादी विचारक के मन में हमेशा मृत्युभय एवं अस्तित्व का संकट बना रहता है। उसे स्वप्न में भी मृत्यु दर्शन होते रहते हैं इसी मृत्युभय का संत्रास मुक्तिबोध की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है।

> "मैंने मरण चिन्तना की जब जीवन का दर्द बढ़ चला।
> मानवता का कटु आलोचक अपने को ही दण्ड दे चला।।
> मेरा मन गलता निज में जब अपने से ही हार खा चुका।
> दारुण क्षोभ अग्नि में अपना प्रायश्चित प्रसाद पा चुका।।
> \+ \+ \+ \+ \+ \+

रक्त स्रोत से फूटा, मेरा गात शिथिल हिम शीतल।
मैनें साक्षात् मृत्यु देख ली एक रात सपने में उज्जवल।।[17]

यही मृत्युभय, अनास्था, भय, शंका, निराशा व संत्रास की भावना नेमिचन्द्र जैन की निम्न पंक्तियों में भी देखी जा सकती है–

"तुम बुझो न मेरे प्राणों की आलोक किरण
अब रूको न मेरे अन्तर की धड़कन।
विश्वास गिरा जाता है, गिरता जाता है।
पर थम न जायें बढ़ते–बढ़ते ये बिद्ध चरण।"[18]

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व में व्याप्त निराशा का प्रभाव अस्तित्ववादी दर्शन पर पड़ा, कुछ इसी प्रकार की परिस्थितियां स्वतन्त्रता के पश्चात् तत्कालीन भारत के समक्ष भी थीं। इसी कारण तत्कालीन परिवेश में अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव हिन्दी साहित्य में पड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्रयोगवादी कवि नेमिचन्द्र जैन की निम्न पंक्तियों में निराशा और मनोमग्नता के दर्शन किए जा सकते हैं–

"किन्तु पथ–प्रदर्शक, विवश मैं हार जाता हैं भयंकर मौन से
सतत निर्वासित हृदय से, तिरस्कृत व्यक्तित्व के
थोथे असंगत दर्प ने मन की सहज अनजान
स्वाभाविक अनावृत धार को का दिया है कुण्ठित
सहज अंगारे कि मानो दब गये हों,
बुझे से जैसे कि ठंठी राख से।"[19]

दूसरे सप्तक के कवियों में अस्तित्ववादी व्यक्तिवादी विचारधारा और अधिक प्रौढ़ रूप में प्रतिध्वनित हुई है। हरि नारायण व्यास वैयक्तिक चेतना को पूंजीवाद की देन समझते हैं। तार सप्तक का व्यक्तिवाद वस्तुतः 'शेखर एक जीवनी' उपन्यास के पात्र शेखर की वैयक्तिकता का ही काव्यात्मक रूप था। तार सप्तक का कवि इसीलिए कुहरे ढंके चांद में अपने व्यक्तित्व के प्रकाश का दर्शन करता है। 'दिन का बुखार' और 'रात्रि की मृत्यु' की चेतना उसे कंटकित करने लगती है। वह घोर अन्तर्मुखी हो जाता है और उसके कंठ से चीत्कारें फूट पड़ती है। तार सप्तक में इन्हीं चीत्कारों का प्रधान्य है।[20]

तारसप्तक के अधिकांश कवियों की काव्य दृष्टि में साम्यवादी व मनोविश्लेषणवादी विचारधारा का आग्रह अधिक है, जबकि दूसरे सप्तक के कवि

प्रायः इससे मुक्त है। दूसरे सप्तक का कवि व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित है। वह अपनी निजी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करना चाहता है वह भी अपने वैयक्तिक ढंग से स्वतन्त्र रूप से। ये व्यक्तिगत अनुभूतियां किसी और की नहीं बल्कि उसकी स्वयं की है। जीवन, मरण, दैन्यता आदि सभी उसके अपने जाने पहचाने हैं, उसके अपने स्वयं के अस्तित्व का भान कराते हैं। इन सबसे उत्पन्न नैराश्य एवं अरूचि का वर्णन निम्न पंक्तियों में श्री भवानी प्रसाद मिश्र जी ने अभिव्यक्त किया है–

> "केवल स्वभाव है चुनने का चाव है जीने की क्षमता है।
> मरने की क्षीणता वाणी की दीनता अपनी मैं चीन्हता।"[21]

अस्तित्ववादी दर्शन का मूल व्यक्ति का स्वयं का 'अस्तित्व' है। व्यक्ति का अस्तित्व जो कुछ आज वह है, उससे पूर्व ही सिद्ध है। यह अस्तित्व बाह्यारोपित नहीं है, बल्कि उसके अन्तर से उद्मासित है। सार्त्र की विचारधारा 'अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है' कुछ इसी प्रकार की विचारधारा रघुवीर सहाय की निम्न पंक्तियों में व्यंजित है–

> "चलते चलते जैसे लिखता है कोई कागज पर।
> ऐसे हिले–डुले मेरे अन्दर से वे अक्षर निकले।"[22]

अस्तित्ववादी दर्शन का लक्ष्य निराशावाद नहीं है, इतना अवश्य है कि परिस्थितिजन्य निराशा एवं संत्रास का वर्णन जो यह करता है उसके मूल में इससे मुक्ति का ही भाव झलकता है। बहुत कुछ ऐसा ही आशावादी स्वर रघुवीर सहाय निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है–

> "क्या पश्चाताप? नहीं, यह मेरा ध्येय नहीं।
> मेरे जीवन की कोई घटना हेय नहीं
> कुछ कर न सका भी मुझे खेद नहीं
> लेकिन अब जो करना है उसकी चिन्ता है।"[23]

सार्त अपने दर्शन में स्वतन्त्रता और मानवता की बात करते हैं। स्वतन्त्रता से तात्पर्य यहां वैयक्तिक स्वतन्त्रता से है और मानवतावाद उस स्वतन्त्रता से जनित दायित्व का प्रतिफल ही है। द्वितीय विश्व युद्धोत्तर विश्व में नव निर्माण और मानवता के उद्धार सार्त्र की विचारधारा का केन्द्रबिन्दु रहा है। इसी क्रम में प्रयोगवादी कवि श्री हरि नारायण व्यास जी की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है–

"इंसानियत की ज्योति दो,
अब उठो कंधे मिलाकर, फिर नया जीवन बसाओ
दिग–दिगन्तों में बसन्ती वायु परिधान फैला।"[24]

सार्त की विचारधारा 'नीत्शे' की भांति ईश्वर में आस्था नहीं प्रकट करती है। नीत्शे की विचारधारा 'ईश्वर मर चुका है' का अस्तित्वादी दर्शन समर्थन करता है। अस्तित्ववादी ईश्वर का खण्डन तर्क के आधार पर न करके बल्कि अनुभव के आधार पर करता है। प्रयोगवादी कवि भारत भूषण अग्रवाल की निम्न पंक्तियों में इश्वर के प्रति इसी अनास्था के भाव व्यंजित हो रहे हैं।

"कौन सा पथ? मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही ने पुकारा।
कौन सा पथ है? महाजन जिस ओर जायें, शास्त्र हुंकारा
अन्तरात्मा ले चले जिस ओर, बोला न्याय पण्डित,
साथ आओ सर्व साधारण जनों के क्रान्तिवाणी।
पर महाजन मार्ग गमनोचित न रथ है।
अन्तरात्मा अनिश्चय संशय ग्रसित क्रान्तिगति,
अनुसरण योग्या है, न पद सामर्थ्य कौन सा पथ है?"[25]

ईश्वर के प्रति अनास्था एवं अनिश्चय की स्थिति एवं व्यक्तिवादिता का आग्रह इन पंक्तियों में देखा जा सकता है।

सार्त का अस्तित्ववाद अपने अन्तिम समय में साम्यवाद की तरफ झुक गया। जीवन के संकीर्ण व्यक्तिवादी नैराश्य और कुण्ठा को त्यागकर मार्क्सवादी क्रान्ति चेतना से प्रभावित होकर वह इन समस्याओं से हार नहीं मानने वाला है, उस आक्रोश और आशा का स्वर जो कि निराशा के बीच से फूटा है, उसी जिजीविषा का वर्णन प्रयोगवादी कवि नेमिचन्द्र जैन की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है–

"किन्तु मैं हारा नहीं हूँ, फड़ फड़ाती हैं अभी बाहें।
कि अपने मार्ग के सारे अवरोध तोड़ दूँ।
फेफड़ों में रक्त बहता है अभी इतना कि कस लूँ
उस बिखरती अथिर छलनामयी को।"[26]

प्रयोगवाद के प्रणेता अज्ञेय में अस्तित्ववादी दर्शन विशेषतः सार्त्र के प्रभाव स्वरूप व्यक्तिगत चेतना (अहं) और वर्गगत चेतना (समूह) से सम्बद्ध अन्तर्द्वन्द्व को देखा जा सकता है।

"ठहर, ठहर, आततीय! जरा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा।
रागातीत, दर्प स्फीत, अतल, अतुलनीय,
मेरी अवहेलना की टक्कर सहार ले।
क्षण भर स्थिर खड़ा रह ले
मेरे दृढ़ पौरुष की एक चोट सह ले।
नूतन प्रचंडतर स्वर से आततायी आज तुझको पुकार रहा मैं।
रणोद्यत दुर्निवार ललकार रहा मैं
कौन हूँ मैं?
तेरा दीन दुखी पद दलित पराजित
आज जो कि क्रुद्ध सर्व से अतीत को जगा।
'मैं' से 'हम' हो गया। 'मैं के झूठे अहंकार ने हराया मुझे,
किन्तु आज मेरे इन बाहुओं में शक्ति हैं,
मेरे इस पागल ह्रदय में भरी भक्ति है।"[27]

'मैं' की व्यक्तिगत चेतना समूहगत चेतना में परिणत हो गई। यहां पर सार्त्र का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। प्रारम्भ में सार्त्र की विचारधारा किर्केगार्ड, जा स्पर्स, व हाइडेगर की भांति व्यक्तिवादी रही बाद की उनकी विचारधारा समूहगत चेतना से अनुप्राणित हो गयी और वे अस्तित्ववाद को साम्यवादी/मार्क्सवादी दर्शन की एक शाखा मात्र मानने लगे। सार रूप में यही कहा जा सकता है कि हिन्दी प्रयोगवादी कविता पर अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव अवश्य पड़ा है, लेकिन उतना प्रभाव नहीं है जितना कि नयी कविता पर पड़ा है।

## (iii) प्रयोगवादी कविता पर मनोविश्लेषणवादी दर्शन का प्रभाव

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक चरण में ही फ्रायड की खोजों ने प्रेम और यौन के सह सम्बन्ध को अनावृत्त करते हुए यह प्रमाणित कर दिया कि भोज्य पदार्थों की भूख की भांति प्रेम भी एक प्रकार की भूख है जिसका कामेषणा से गहरा सम्बन्ध है। रोजमर्रा की भाषा में 'भूख' शब्द का कोई समानार्थी नहीं है परन्तु विज्ञान में इसके लिए **'लिबडो'** शब्द का प्रयोग होता हैं।[28] उन्होंने यह नवीन स्थापना प्रस्तुत की कि रत्यात्मक उत्तेजना उत्पन्न करने वाली मूलभूत प्रक्रिया सदैव एक ही होती है। उनके अनुसार नेपोलियन की प्रसिद्ध उक्ति में

किंचित परिवर्तन करते हुए कहा जा सकता है कि शरीर ही मन्तव्य है। उन्होंने यह तर्क दिया कि क्यों कि जननेन्द्रियाँ अभी भी अपने पाश्विक रूप में हैं अतः आज भी प्रेम अपने बुनियादी रूप में उतना ही पाश्विक है जितना पहले था।'[29]

परवर्ती मनोवैज्ञानिकों ने पाश्विकता की इस अतिवादी स्वीकृति का परिहार करते हुए यह स्थापित किया कि कामेषण और प्रेम प्रकृतः पूर्ण रूप से भिन्न होते हुए भी एक दूसरे पर आश्रित और पूरक हैं।[30]

इन मनोवैज्ञानिक खोजों और स्थापनाओं का प्रयोगवाद व नयी कविता पर व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। छायावादी काव्य में प्रेम के साथ जो वायवीय धारणा जुड़ गई थी वह क्रमशः धूमिल होने लगी। नये कवियों ने मुक्त रूप से स्वीकार किया कि उनकी कविता का अधिकांश भाग यौन से प्रेरित है। यह प्रेरणा फ्रायड के यौन दर्शन से ही प्राप्त हुई थी। प्रयोगवाद के प्रणेता स्वयं अज्ञेय ने मुक्त कंठ के यह स्वीकार किया कि "आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन–वर्जनाओं का पुंज है।" आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे परिकल्पनायें सदा दमित और कुंठित है। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे अक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।"[31] यही कारण है कि प्रगतिवादी आलोचकों ने इस प्रवृत्ति को अस्वस्थ प्रवृत्ति के रूप में देखा–मनोविश्लेषण शास्त्र का प्रयोगवादी कवियों पर बुरा प्रभाव यह पड़ा कि उन्होंने जान–बूझकर अपनी सूझ के बल पर कविता में यौन प्रतीकों का प्रयोग आरम्भ किया। यद्यपि यह प्रवृत्ति आगे विकसित नहीं हुई। छायावादी आदर्शवाद और द्विवेदी युगीन स्थूल नैतिकता के विरूद्ध परवर्ती कवियों के मन में जो प्रतिक्रिया हुई उसकी अभिव्यक्ति प्रकृतिवादी यौन चित्रणों के रूप में होने लगी और प्रयोगवादी कवियों को फ्रायड से सैद्धान्तिक सहारा भी मिल गया।[32]

यद्यपि डॉ0 शम्भू नाथ सिंह प्रयोगवाद को छायावादी काव्य का विलोम काव्य मानते हैं तथापि प्रयोगवादी कविता में कुछ छायावादी अथवा उत्तर छायावादी रोमानियत शेष रह गई थी। जिसकी अभिव्यक्ति एकाधिक रूपों में हुई है। इस सन्दर्भ में सर्वाधिक चर्चित कवि 'चंदरिमा के कवि' गिरजा कुमार माथुर हैं। चौथे दशक के आस–पास सम्बन्धों में आ रही कटुता तथा मृदुता और कटुता के सम्मिलन का यह और ऐसी अन्य कविताएं परिचय देने में नितान्त असमर्थ होते हुए भी अत्यन्त रूमानी स्त्री का बिम्ब विकसित करती है–

"जीवन में फिर लौटी मिठास
है गीत की आखिरी मीठी लकीर सी।
प्यार भी डूबेगा गोरी सी बाहों में ओठों में आँखों में।
फूलों में डूबे ज्यों फूल की रेशमी–रेशमी बांहें
आज हैं केसर रंगे वन।"[33]

यहां पर यौन भावों का चित्रण उत्तर छायावादी संस्कारों से प्रभावित रोमानियत परिवेश ग्रहण किए हुए हैं। यह प्रयोगवाद पर मनोविश्लेषणवाद के प्रभाव का प्रारम्भिक चरण कहा जा सकता है।

नेमिचन्द्र जैन की कविता में भी चांदनी के प्रति विशेष लगाव दृष्टिगत होता है, उन्हें चांदनी रात अश्लेष में साई हुई प्रेमिका का स्मरण कराती है–

"चाँदनी रात है चुप चाप समर्पित मोहित,
अचल दिगन्त के आश्लेष में सोयी
खोयी अबूझ स्वप्न में जैसे तुम ही कभी,
चुप चाप अनायास मेरी गोद में
सो जाती हो................ चाँदनी रात ओ!"[34]

लेकिन रोमानी आवरण लिए यह यौन भावनायें दमित व कुंठित होने लगी फलतः प्रयोगवादी कविता ने पहली बार यथार्थ को उसकी पूरी कटुता के साथ, बिना किसी पलायन सुरंग को अपनाये, झेला। इन कवियों से रोमानी स्वप्नों का नाता बिल्कुल टूट गया। स्थितियां अब इतनी इकहरी नहीं रह गई थीं कि प्रयोगवादी कवि सारी परिस्थितियों से मुँह मोड़कर बन्द शयनगार का हल चुन सकता। परन्तु इसके साथ ही अभी समाज उतना आगे नहीं बढ़ा था कि यौन भावनाओं की र्निव्याज्य अभिव्यक्ति को छूट दे देता। इन संघर्षों से घिरकर उसकी सहज वासना। कुंठित हो गई। स्वयं अज्ञेय में प्रयोगवादी कवियों की इस विषम अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है– "कवि के लिए इस परिस्थिति में और भी कठिनाइयां है– एक मार्ग यौन स्वप्न दृष्टि का दिवास्वप्नों का है, उसे वह नहीं अपनाना चाहता। फिर वह क्या करे यथार्थ दर्शन केवल कुंठा उत्पन करता है। वास्तव में वीभत्सता की कसौटी पर चांदनी खोटी दीखती है, कवि अपनी काव्य परम्परा का मूल्यांकन करता है और चारण काल से लेकर छायावाद तक की कविता को तात्कालिक परिस्थिति अथवा जीवन प्रणाली पर घटित करके समझ लेता, किन्तु फिर भी आज के जीवन के दबाव की

अभिव्यंजना का मार्ग उसे नहीं दीखता। कयोंकि आज उसकी अनुभूतियां तीव्रतर हैं तो वर्जनाएं भी कठोरतर है, परिणाम है व्यंजना भीरू नेत्रों का विस्फार, जो अश्लील, इसलिए है कि भावनाओं और वर्जनाओं के संघर्ष को सहसा सामने ले आता है।"[35] इस दृष्टि से अज्ञेय की इत्यलम कालीन दो कविताएँ, 'प्रतीक्षा' और देख क्षितिज में भरा चाँद दृष्टव्य है। दूसरी कविता में कवि चांद के प्रति दमित वासना की अभिव्यक्ति करता है—

"देख क्षितिज पर भरा चांद मन उमगा, मैंने भुजा बढ़ायी।
हम दोनों के अन्तराल में कभी नहीं कुछ दी दिखलाई।"[36]

वाह्य वर्जनाओं से प्रभावित होकर चेतन स्तर पर वासना की अभिव्यक्ति प्रतिहत अवश्य हो गई, किन्तु अवचेतन में वे सभी इच्छायें वर्तमान रहीं जिन्होंने यौन प्रतीकों के अधिक्य को जन्म दिया। अज्ञेय ने स्वयं स्वीकार किया कि—"आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।"[37] इस प्रकार की प्रतीक योजना के उदाहरण के रूप में प्रायः अज्ञेय की कविता 'सावन मेघ' उधृत की जा सकती है—

"घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका सा।
विसद, श्वासाहत, चिरातुर छा गया
इन्द्र का नील वक्ष, वज्र सा,
यदि तड़ित से झुलसा हुआ सा।"[38]

वस्तुतः इस कविता में इस कामना का इतना अतिरेक हो गया है कि कुछ ही आगे चलकर कवि प्रतीक शैली को तिलांजलि देकर अभिधा को अपना लेता है—

"आह, मेरा श्वास है उत्तप्त,
धमनियों में उमड़ रही लहू की धार।
प्यार है अभिशप्त तुम कहां हो नारि।"[39]

प्रयोगवाद में मनोविश्लेषण दर्शन के प्रभाव का यह द्वितीय चरण का जिसमें कवि अभिधात्मक शैली को ग्रहण करके प्रतीक शैली व रोमानी परिवेश को त्याग देता है। ऐसे अभिधात्मक स्थलों पर कहीं—कहीं इस वासना का

स्वरूप अत्यन्त स्वार्थपूर्ण और परम्परागत हो जाता है प्रेम सम्बन्ध में पुरूष स्त्री का साथी न होकर शाशक प्रतीत होने लगता है।

> "तुम हँसो, कह दो कि अब उत्संग वर्जित है
> छोड़ दूँ कैसे भला मैं जो अभीप्सित है?
> कोषवत्, सिमटी रहे यह चाहती नारी
> खोल देने लूटने का पुरूष अधिकारी।
> \+ \+ \+ \+ \+ \+
> दूर रहने की हृदय में ठानती क्या हो?
> तुम पुरूष की वासना को जानती क्या हो?"[40]

क्रमशः प्रतीक और भिधा शैली के बीच झूलते रहने का एक कारण, प्रेम और यौन भावनाओं के विषय में इन कवियों की निजी धारणा भी थी। गद्य में दमित वासना की अवधारणा को स्वीकार करते हुए भी अज्ञेय कविता में उसका निषेध करते हैं। हरी घास पर क्षण भर का वाचक कहता है—

> "आओ बैठो क्षण भर तुम्हें निहारूँ।
> अपनी जानी एक एक रेखा पहचानूँ
> चेहरे की आँखों की अन्तर्मन की,
> और हमारी साझे की अनगिनत स्मृतियों की :
> तुम्हें निहारूँ। झिझकन हो कि निरखना
> दबी वासना की विकृति है।"[41]

यह वही दमित यौन—भावना व वासना है जो कि मनोविश्लेषण दर्शन का आधार स्तम्भ है। प्रयोगवादी कविता ने युगों से चले आ रहे प्रेम सम्बन्धी इस मिथक को अनावृत्त कर दिया कि प्रेम केवल भावजन्य होता है। गिरजा कुमार माथुर ने इस तथ्य को सपाट ढंग से अभिव्यक्ति किया है।

> "मैं इन सारी बातों को हूँ खूब समझता
> बड़े—बड़े इस प्रणय काल के आदर्शों को
> पर मुझको है पाता कि बिछुड़न की इन तीखी पीड़ाओं में।
> ऊँचे—ऊँचे आदर्शों की इन बातों में छिपा हुआ है भेद कौन सा।
> तुम इस जीवन का निचोड़ जिसको कहते हो
> वह सारा वेदान्त फल सफा,
> काव्य कला की मधुर कल्पना केवल शारीरिक है।"[42]

अज्ञेय ने सांप के चिरपरिचित काम प्रतीक का चुनाव करके प्रेम और वासना के अनिवार्य सम्बन्ध को उद्घाटित ही नहीं किया है, अपितु वासना की महत्व स्थापना भी की है–

> "वासना को बांधने को तूमड़ी जो स्वर–तार बिछाती है।
> आह! उसी में कैसी एकान्त निविड वासना थर थराती है।
> तभी तो सांप की कुंडली हिलती नहीं फन डोलता है।"[43]

यहां क्रमशः तूमड़ी का स्वर तार–तार बिछाना प्रेम का भावात्मक पक्ष है। जो प्रयास करने पर भी 'सॉप की कुंडली' अर्थात् वासना को विचलित नहीं कर पाता।

प्रेम और यौन को सम्बद्ध करके प्रयोगवादी कवियों ने किसी अपराध बोध का अनुभव नहीं किया अपितु उसे जीवनदायिनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया–

> "वह आयेगी–
> मेरा ढांप लेगी नंग अपनी देह से।
> बहते स्नेह से; अभी सूखी रेत हूँ ,
> पर हो जाऊँगा हरा, गति जीवित, भरा।"[44]

प्रयोगवादी कवियों ने यौन भावना से जुड़ी किसी भी प्रवंचना को अस्वीकार करने का प्रण ले लिया और 'प्यास' और सिक्त दोनों को सहज रूप से स्वीकार किया। उसने इस यौन पिपासा को न तो गर्हित समझा और न ही इसका उदात्तीकरण करने का प्रयास किया –

> "पल भर ही सही, सिक्त जिस कण ने
> निर्मल समर्पण के जिस विविक्त क्षण ने
> अभी मुझे छुआ उसे क्यों झुठलाऊँ
> प्यास के जलते इस कंठ में।
> जो हलचल मची है उसे क्यों दबाऊँ।"[45]

यहां यह उल्लेखनीय है कि फ्रायड से प्रभावित जिस प्रकृतवाद की चर्चा डॉ0 शम्भूनाथ सिंह ने केवल प्रयोगवाद के सन्दर्भ में की है उससे प्रगतिवादी भी मुक्त नहीं थे। एक कवि का आत्म स्वीकार दृष्टव्य है– "आज के समुन्नत मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र ने उसे यह भी अनुभव कराया कि स्वयं अपने ऊपर उसका कितना कम अधिकार है। स्वयं अपने भीतर की अचेतन या

अर्ध चेतन वृत्तियों ने उसे कितना विवश कर रखा है।''[46] कुछ कवियों ने बुद्धि के स्तर पर प्राप्त किये गये ज्ञान को नैतिक स्खलन के रूप में देखा है–

''अहंकार के साथ बुद्धि की जबसे हुई सगाई।
हीन विवेक हुआ मानव–मन नैतिकता बिसराई।''[47]

केवल इतना ही नहीं अपितु यह भी देखा गया है कि प्रगतिवादी कविता में स्त्री शोषण की समस्या पर विचार करते हुए कुछ कवियों ने केवल उसके काम जीवन पर ही दृष्टि केन्द्रित रखी। यह प्रवृत्ति विशेषतः अंचल में पाई जाती है, जो आलोचक की दृष्टि से बच नहीं पायी प्रगतिवाद के नाम पर पैदा होने वाले साहित्य में अश्लीलता और उच्छृंखलता का कहीं आभास मिलता है तो उसका एक कारण है.... कि आधुनिक साहित्य पर दो भिन्न विचारधाराओं ने प्रभाव डाला है; जिनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण एकदम विरोधी है। यह मार्क्स और फ्रायड की विचारधाराओं का प्रभाव है। फ्रायड की विचारधारा.....जो लेखक उसके प्रभावित हुए उन्होंने अनियन्त्रित सेक्स, तृष्णा, प्यास, और वासना के गीत गाने शुरू किए। इस सारे दृष्टिकोण पर फ्रायड के प्रभाव की छाया है जो अभी तक एक दम नष्ट नहीं हो पायी है।[48] वस्तुतः इस कविताधारा ने प्रेम के सम्बन्ध में यौन को सर्वाधिक मुक्त रूप में स्वीकार किया, जहां एक ओर प्रगतिवादी कविता में सामाजिक प्रतिबद्धता थी वहीं प्रयोगवादी कविता पर आधुनिकता का दबाव था, जिस कारण से फ्रायड के मनोविश्लेषण दर्शन का स्पष्ट प्रभाव प्रयोगवाद में देखा जा सकता है।

# सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अज्ञेय—तार सप्तक : नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ—627 से उद्धृत।
2. डॉ० देवराज : प्रयोगवादी कवि : एक चेतावनी, नयी कविता प्रथम अंक, राजनाथ शर्मा, हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृष्ठ—643 से उद्धृत।
3. अज्ञेय : तार सप्तक।
4. अज्ञेय : तार सप्तक, पृष्ठ—272।
5. डॉ० मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृष्ठ—310।
6. अज्ञेय—तार सप्तक : डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास।
7. अज्ञेय : नगेन्द्र वही, पृष्ठ—628।
8. केसरी कुमार सांझ : कविता से उद्धृत।
9. अज्ञेय : उड़चन हारिल कविता से उद्धृत।
10. अज्ञेय।
11. मुक्ति बोध : अन्तर्दर्शन : (तारसप्तक) कविता से उद्धृत।
12. अज्ञेय : सर्जना के क्षण कविता से उद्धृत।
13. नलिन विलोचन शर्मा।
14. वही पृष्ठ—635।
15. अज्ञेय : तार सप्तक : डॉ० नगेन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ—309।
16. मुक्तिबोध : 'अन्तर्दर्शन तारसप्तक पृ० 18।
17. वहीं।
18. नेमिचन्द्र जैन 'नये पत्ते' (पत्रिका) 1953 — डॉ० शम्भूनाथ सिंह प्रयोगवाद और नयी कविता पृ० 70 से उद्धृत।
19. नेमिचन्द्र जैन : 'व्यर्थ' शीर्षक कविता — तार सप्तक पृ० 30।
20. दूसरा सप्तक भूमिका : पृ० 58—59 : रमाशंकर तिवारी — प्रयोगवादी काव्यधारा तथोक्ति नयी कविता) पृ० 73 से उद्धृत।
21. भवानी प्रसाद मिश्र : वाणी की दीनता दूसरा सप्तक पृ० 28—29।
22. रघुवीर सहाय : दूसरा सप्तक पृ० 164—65।
23. वहीं पृ० 162—63।

24. हरिनरायण व्यास : शिशिरान्त, दूसरा सप्तक पृ० 77।

25. भारतभूषण अग्रवाल : तार सप्तक : डॉ० शम्भूनाथ सिंह प्रयोगवाद और नयी कविता पृ० 78 से उद्धृत।

26. नेमिचन्द्र जैन 'व्यर्थ' शीर्षक कविता पृ० 69 ।

27. कुमार शर्मा : प्रयोगवाद और मुक्तिबोध, पृ० 33 से उद्धृत।

28- Sigmund freud - Complete Psychological works - Valume VII P. 155 — नयी कविता में प्रेम सम्बन्ध डॉ० सुषमा भटनागर, पृ० 182 से उद्धृत।

29. Sigmund freud Callected papers - Vol. iv, P. 215 से अनूदित।

30. "Altho totaly different in nature, sexual impulse and love are dependent on and complementary to each other" — Oswald Sehwarz — The psychology of Sex. P. 21.

31. अज्ञेय तार सप्तक, पृ० 272.

32. डॉ० शम्भू नाथ सिंह – प्रयोगवाद और नयी कविता पृ० 126।

33. गिरजा कुमार माथुर : तार सप्तक पृ० 169।

34. नेमिचन्द्र जैन : एकान्त पृ० 60।

35. अज्ञेय : तार सप्तक – वक्तव्य पृ० 273।

36. अज्ञेय : पूर्वा, तार सप्तक पृ० 192।

37. अज्ञेय : पूर्वा तार सप्तक पृ० 272।

38. वही पृ० 276।

39. अज्ञेय तार सप्तक पृ० 276।

40. अज्ञेय : 'चिन्ता' पृ० 44–45।

41. अज्ञेय : पूर्वा : पृ० 249।

42. गिरजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० 23।

43. अज्ञेय : आंगन के पार द्वार, पृ० 30।

44. अज्ञेय : पूर्वा, पृ० 183।

45. भारतभूषण अग्रवाल : अनुपस्थित लोग, पृ० 44।

46. अचंल : किरण–बेला, 'मैं अब तक' पृ० (क) ।

47. नरेन्द्र शर्मा : हंसमाला, पृ० 20।

48. शिवदान सिंह चौहान : हंस – अप्रैल, सन् 1942, पृ० 641–42।

# चतुर्थ–अध्याय

# नयी कविता

# नयी कविता

## (अ) नयी कविता एवं उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ :

छायावादोत्तर हिन्दी कविता साहित्य में स्वतन्त्रता के बाद रचित उन कविताओं को नयी कविता की संज्ञा दी गई जिनमें परम्परागनुगत मूल्यों, भाव बोधों, एवं शिल्प आदि से आगे बढ़ते हुए नवीन भाव बोधों शिल्प विधानों एवं मूल्यों का अन्वेषण किया गया है। हिन्दी कविता साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर यदि दृष्टि डाला जाये तो हमें प्रत्येक युग में अपने पूर्ववर्ती धाराओं या वादों की तुलना में नित नवीनता की एक परम्परा गतिमान रही है। नयी कविता स्वतन्त्रता के बाद लिखी गई उन कविताओं के लिए चल पड़ा जिसकी वस्तु छवि एवं रूप छवि दोनों अपने पूर्ववर्ती प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद से विकसित होने के बाद भी अपने आप में विशिष्ट है। इस काल में प्रगति, प्रयोग, तथा परम्परा सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के काव्य का सृजन होता रहा है। विभिन्न प्रभावों से समन्वित इस युग की काव्यधारा व्यक्ति और समाज के विभिन्न क्षेत्रों को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ती रही है। दूसरे सप्तक के बाद सन् 1954 में जगदीश गुप्त द्वारा सम्पादित नयी कविता नामक एक कविता संग्रह प्रकाश में आई। नयी कविता के कुल आठ अंक ही अभी तक निकले हैं और प्रत्येक अंक में इसके समर्थन में बहुत सी बातें कही गई जो कि पूर्णतः कसौटी पर खरी नहीं साबित होती है। यह युग काव्य क्षेत्र में विस्तार का युग रहा है उसमें जितना विस्तार रहा है उसकी तुलना में गहराई और कला सौन्दर्य कम आ पाया है। इस युग के काव्य विवेचन से पहले उन परिस्थितियों के बारे में जानना आवश्यक हो जाता है जो इस काव्य के मूल में रही हैं।

देश के स्वतन्त्र होने पर यहां ऐसी परिस्थितियां पैदा हुई जिसने दो प्रकार की प्रवृत्तियों को जन्म दिया। एक आशावादी और दूसरी निराशावादी। आरम्भ में वातावरण में एक उन्मत्त उल्लास के स्वर मुखरित हुए, सभी ने एक स्वर से इस नये उल्लास का उद्घोष किया, परन्तु देश के विभाजन ने जो एक अराजकता, हताशा, विध्वंस और सामूहिक हत्याओं का दौर आरम्भ कर दिया था। उससे यह उल्लास की भावना दब गई। इसके उपरान्त देश के नये शासकों ने जो रूप अपनाया उससे जन सामान्य का रहा सहा उल्लास भी

समाप्त हो गया। प्रेमचन्द्र के शब्दों में कहें तो शासन की गद्दी पर गोरे साहब की जगह काला साहब आ बैठा था, पुरानी नौकरशाही कायम रही, शासन की नीति और प्रवृत्ति में कोई मूलभूत क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। नयी—नयी योजनाओं के नाम पर नये—नये कर लगाये गये। राजनीतिक क्षेत्र में समाजवादी विचारधारा के समर्थकों की उपेक्षा होने लगी फलस्वरूप सन् 1948 में समाजवादी दल कांग्रेस से अलग हो गया। आजाद भारत में अपनी आशाओं को धूमिल होते देख युवक वर्ग निराश एवं विद्रोही हो उठा। उसने परम्परा और सामाजिकता के विरूद्ध उच्श्रृंखल लक्ष्यहीन, एवं असंतुलित विद्रोह आरम्भ कर दिया।

इन आन्तरिक परिस्थितियों के अतिरिक्त प्रसिद्ध अंग्रेज कवि टी०एस० इलियट के काव्य का भी प्रभाव नयी कविता पर देखा जा सकता है। इसका स्वर विशुद्ध रूपेण घोर व्यक्तिवादी स्वर था। हमारा इस युग का यह काव्य उपर्युक्त आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करते हुए आगे बढ़ा है। 'प्रयोग' शब्द पर आक्षेप ने तथा मुक्ति बोध, गिरजा कुमार माथुर, नरेश मेहता नेमिचन्द्र जैन आदि द्वारा प्रगतिशील वस्तु तथा प्रयोगशील शिल्प के प्रयोग ने युग की मांग के अनुरूप समन्वय स्थापित किया। यह समन्वय ही स्वस्थ काव्य दिशा का सही निर्देशक बनकर नयी कविता के रूप में हिन्दी साहित्य में सामने आया।

मुक्तिबोध ने कहा है कि नयी कविता वैविध्य मय जीवन के प्रति आत्म चेतन व्यक्ति की प्रतिक्रिया है, नयी कविता का स्वर एक नहीं विविध है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि नयी कविता में जीवन का कोई भी विषय अकाव्योचित नहीं माना जाता। उसमें मानव जीवन के यथार्थ को उकेरने का सीधा प्रयत्न प्रबल आग्रह के साथ हुआ है। अशोक बाजपेयी कहते हैं, संभवतः नयी कविता के पहले कभी मानवीय सम्बन्धों को इतना गौरव नहीं मिला था, और न ही उसमें निहित करुणा, तनाव, अकेलापन, आतंक सुख और अहलाद संक्षेप में मानवीय सम्बन्धों की ट्रैजडी और कामेडी, दोनों ही इतने सीधे ढंग से काव्य में अवतरित हुए थे, जितने की नयी कविता में हुए हैं। स्पष्ट है कि नयी कविता अपने समय सन्दर्भों में मानवीय उपस्थिति और लगाव की कविता है। वह बहुआयामी जीवन की सच्चाइयों को बिना लाग लपेट के रूपायित करती है। वह मताग्रही या मतवादी दृष्टिकोण को भी कायल नहीं। उसमें छायावादी

कल्पनाशीलता का नामोनिशान भी ढूढ़ना भी कठिन है। दरअसल वह जीवन की बहुपक्षीय अनुभूतियों को कलम बन्द करने की एक जटिल यथार्थवादी प्रक्रिया है।

नयी कविता का सारा दृष्टिकोण आधुनिक है। आधुनिक दृष्टिकोण का अर्थ नये मूल्यों के लिए विकलता, और संवेदना से है। इसी दृष्टिकोण के तहत नया कवि आज के तनावों, सार्वभौम संकट, मनुष्य की पीड़ा एवं उसकी नगण्यता तथा गरिमा से जुड़ता है, और इस सम्पृक्ति के दबाव में अभिव्यक्ति एवं सम्प्रेषण के माध्यमों ·को पुनराविष्कृत करता है। यह दृष्टिकोण अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल जैसे प्रौढ़ता प्राप्त कवियों के पास भी है और केदारनाथ सिंह, श्रीकान्त वर्मा, धूमिल, कुंवर नारायण, राजकमल चौधरी, विजय देव नारायण साही, लीलाधर जगूड़ी, जैसे नये कवियों के पास भी।

नयी कविता में किसी एक मतवाद का आग्रह नहीं है। यही कारण है कि उसके कुछ कवि गाँधीवादी हैं, कुछ अस्तित्ववादी, कुछ मार्क्सवादी, और कुछ अतियथार्थवादी। कुछ का स्वर राजनीति से प्रभावित है, तो कुछ का देह नीति से।

नयी कविता आधुनिक संवेदना के साथ मानवीय परिवेश के सम्पूर्ण वैविध्य को नये शिल्प में अभिव्यक्त करने वाली हिन्दी की नवीनतम काव्यधारा है। प्रयोग एवं सिद्धान्त के स्तर पर उसका सम्बन्ध प्रगतिवाद से भी है और प्रयोगवाद से भी। यहां कवि वादों की सीमाओं को लांघ कर कला और जीवन के क्षेत्र में कुछ नया रचने के लिए उत्सुक नजर आते हैं। उनमें मनुष्य के बाहर भीतर के संघर्ष एवं उससे उत्पन्न सच्चाइयों को वाणी देने की आतुरता है। इस प्रकार नयी कविता की सबसे बड़ी विशेषता है—कथ्य की व्यापकता।

इसका कारण है कि वह कोई वाद नहीं है, बल्कि व्यापक जीवन दृष्टि है। कथ्य कहाँ नहीं है? प्रगतिवाद और प्रयोगवाद ने कथ्यों को बांट लिया था किन्तु नयी कविता ने मानव को उसके समग्र परिवेश में सही रूप में अंकित करना चाहा है। नयी कविता की दृष्टि मानवतावादी है, किन्तु यह मानवतावाद मिथ्या आदर्शों की परिकल्पनाओं पर आधारित नहीं है। यथार्थ की तीखी चेतना, परिवेश से जुड़ाव, चिन्तन एवं संवेदना के उलझे हुए अनेकानेक स्तर उसके

आधार है। इसने छोटे–बड़े का भेद नहीं रखा छोटी–बड़ी अनुभूतियों, व्यक्तित्वों और क्षणों का बनावटी अन्तर नहीं स्थापित किया।

नयी कविता में अनगिनत नये मानव सम्बन्धों को खोजा और चरित्रार्थ किया गया। इस सिलसिले में अज्ञेय अभिजात्य संस्कार एवं बोध वाले अकेलेपन के कवि हैं। मुक्तिबोध में एक गहन निजी संघर्ष हमारे समय के राजनैतिक सामाजिक वैषम्य के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ जाता है। रघुवीर सहाय पहले तो जीने के कर्म को उद्घाटित करते हैं और बाद में समकालीन राजनीति से सीधे जुड़ते हैं। उनकी दृष्टि में कविता हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने के कर्म का बखान है। श्रीकांत वर्मा का काव्य संसार एक तरह का आधुनिक नरक है, जहां किसी के न होने से कुछ नहीं होता केदारनाथ सिंह की 'अपनी बच्ची के लिए एक नाम', रघुवीर सहाय की 'शक्ति दो पिता' सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'अपनी बिटिया के लिए दो कविताएँ' विजय देव नारायण साही की 'एक अर्धविस्मृत मित्र के नाम' और 'अलविदा' धूमिल की मोची राम' नागार्जुन की 'आकाल के बाद' इत्यादि कविताएं ऐसी हैं जिनमें जाने पहचाने सम्बन्धों को उनकी पूरी जटिलताओं में चरित्रार्थ किया गया है। यह कहना निराधार नहीं होगा कि नयी कविता में पहली बार मनुष्य पर पड़ने वाले दबावों एवं मानसिक तनावों को इतने व्यापक स्तर पर पहचानने का प्रयास किया गया है।

### (i) क्षणवाद/लघुमानववाद/द्वन्द्व एवं तनाव :

नयी कविता की जीवन के प्रति गहरी आस्था है। जीवन के प्रति आस्था का अर्थ है जीवन के सम्पूर्ण उपभोग में अगाध विश्वास। आज की क्षणवादी और लघुमानववादी दृष्टि जीवन के मूल्यों के प्रति नकारात्मक नहीं, स्वीकारात्मक दृष्टि है। मनोविज्ञान द्वारा उद्घाटित सत्यों ने यह प्रमाणित किया है कि हम क्षणों में जीते हैं। जो व्यक्ति इन क्षणों को जितनी ही सच्चाई से अनुभूत बनाकर जिएगा, वह उतना ही सम्पूर्ण जीवन जिएगा। क्षणों को सत्य मान लेने का अर्थ है जीवन की एक–एक अनुभूति को, एक–एक व्यथा को, एक–एक सुख को सत्य मानकर जीवन को उसके वास्तव रूप में स्वीकारना।

नयी कविता में लघु मानव का अर्थ क्षुद्र मानव नहीं है। जो पाप या घृणा या असुन्दरता की मूर्ति हो। लघु मानव का अर्थ है वह सामान्य मनुष्य जो अपनी सारी संवेदना, भूख–प्यास, और मानसिक आंच को लिए–दिए उपेक्षित

था। उसका लघु मानव किसी दर्शन, सम्प्रदाय या राजनीतिक दल के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है। उसकी प्रतिबद्धता सहज मानवीय संवेदना के प्रति है या उन सभी वर्गों के लिए है जो जीवन के दर्दों के प्रति ईमानदार हैं, जो उधार का नहीं अपना जीवन जीते हैं। यह लघु मानव हर स्थिति में अपने अहं का पोषक और रक्षक हैं। यह लघु मानव अपने लघुता में ही महान है।

"एक महान फलक पर अकेला एक बिन्दु
समूचे शून्य को अपने अस्तित्व में संजोता
अपनी लघुता से फलक का विस्तार प्रेषित करता
\+ + + + + +
सम्पूर्ण व्याप्ति का साक्षी पर अपने में पूर्ण।" — *लक्ष्मीकान्त वर्मा*

अज्ञेय ने भी लघुता को साहस एवं अहं से दीप्त बताया है।

"यह दीप अकेला स्नेह भरा है गर्व भरा मदमाता
पर इसको भी पंक्ति दे दो
\+ + + + + +
यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में भी कांपा।" — *अज्ञेय*

लघुमानव द्वारा एक क्षण को जीने और भोगने की मजबूरी ही उसके लिए द्वन्द्व और तनाव का संसार रचती है। नयी कविता द्वन्द्व और तनाव को भी काव्य मूल्य की तरह उपस्थित करती है। एक अटका हुआ आंसू' और 'पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता" शमशेर की काव्यानुभूति के तनाव के प्रतीक हैं। तनाव की दृष्टि से 'माया दर्पण' के कवि श्री कान्त वर्मा और 'आत्म हत्या के विरूद्ध' के कवि रघुवीर सहाय की कविताएं उल्लेखनीय है। 'मायादर्पण' की आखिरी कविता की आखिरी पंक्तियां हैं—

'तुम जाओ अपने वहिश्त में,
मैं जाता हूँ, अपने जहन्नुम में।"[1]

स्वर्ग के मुकाबले अपने नरक में जाने की चाह वैराग्य या निर्वेद की मनःस्थिति नहीं है। 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' में रघुवीर सहाय 'कहने' और 'फिर भी कुछ न होने' के तनाव को व्यंजित करते हैं—

'कल फिर मैं एक बात कहकर बैठ जाऊँगा।[2]

कोई सुने या न सुने लेकिन अपनी बात कहने का हौंसला मरा नहीं है। भले ही कहकर बैठ जाना पड़े। रघुवीर सहाय 'आत्म हत्या के विरूद्ध' कविता

संग्रह के आरम्भिक वक्तव्य में कहते हैं "इस दुनिया को देखें जिसमें हमें पहले से ज्यादा रहना पड़ रहा है। लेकिन जिससे हम न लगाव साध पा रहे हैं, न अलगाव।" लगाव और अलगाव का यह तनाव कवि के अपने सर्जनात्मक तनाव का प्रतीक है।

अज्ञेय जिस मानसिक तनाव को प्रमुखता देते हैं, वह जीवन की विविधता से विभाजित और शिथिल होता है, जबकि मुक्ति बोध का तनाव द्विस्तरीय है एक ओर अपने परिवेश के साथ, दूसरी ओर स्वयं अपने अन्दर, किन्तु अन्ततः ये दोनों तनाव परस्पर सम्बद्ध है।

"भागता मैं दम छोड़ धूम गया कई मोड़"
या अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे
तोड़ने होगों ही मठ और गढ़ सब।"[3]

में सघर्ष और तनाव की स्थिति जितनी बाहरी है उससे कहीं अधिक आन्तरिक है।

## (ii) अनुभूति की जटिलता और प्रामाणिकता :

नयी कविता जीने की एक जटिल प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है। अनुभूति की जटिलता का सम्बन्ध सन्दर्भ से उत्पन्न होने वाले भावबोध की प्रकृति से है। 'हरी घास पर क्षण भर' में प्रेमियों की बाहरी और भीतरी अनेक बाधाओं का पूरा बोध है। बाहरी बाधा के रूप में 'माली चौकीदारों के समय का खटका और भीतरी बाधा के रूप में और न सहसा चोर कह उठे मन में। प्रकृतिवाद है स्खलन।' प्रेम व्यापार के नाम पर अधिक से अधिक 'हरी घास पर क्षण भर' पास–पास बैठने का आग्रह था ।

"क्षण भर हम न रहें रहकर भी ।
सुनें भीतर के सूने सन्नाटे में"।
किसी दूर सागर की लोल लहर की।"

*इस अन्तस्थ भाव दशा में स्मृति रूप प्रकृति के भी कई चित्र उभरते हैं –*

"क्षण भर तुम्हें निहारूँ अपनी जानी एक–एक रेखा पहचानूँ
चेहरे की आँखों की अन्तर्मन की।
और हमारे साझे की अनगिन स्मृतियों की।"[4]

हरी घास पर क्षण भर का सन्दर्भ व्यापक यथार्थ और सघन है। सन्दर्भ के अनुकूल ही इस कविता में अनुभूति की जटिलता है।

नयी कविता का कवि उस अनुभव को कविता में पिरोता हैं जिसे उसने जीने के दौरान प्राप्त किया है। क्षण भोग से उभरने वाला उसका निजी सुख–दुःख चाहे कितना ही लघु एवं उपेक्षणीय हो किन्तु प्रामाणिक तो है ही।

अनुभूति शून्य व्यथारिक्त इतिहास असत्य हैं, निरर्थक है। इसलिए नयी कविता अनुभूति पूर्ण गहरे क्षण, प्रसंग, व्यापार या किसी भी सत्य को उसकी आन्तरिक मार्मिकता के साथ पकड़ लेना चाहती है।

"आओ इस झील को अमर कर दें छूकर नहीं
किनारे बैठकर भी नहीं एक संग झांक इस दर्पण में
अपने को दे दें हम इस जल को जो समय है" — *नरेश मेहता*

नयी कविता संगत और असंगत बिम्बों के माध्यम से क्षणों की परिधि में उफनते जीवन की संश्लिष्टता को मूर्तिमान कर देती है। ये कविताएँ आकार में छोटी होती है किन्तु अनुभव की प्रामाणिकता के कारण प्रभाव में बहुत ही तीव्र होती है।

### (iii) मूल्यों की परीक्षा :

नयी कविता ने किसी मूल्य को फार्मूले के रूप में स्वीकार नहीं किया। एक सत्य होता है व्यक्ति का, एक होता है समाज का। कभी–कभी दोनों समान और कभी दोनों विषम होते हैं। मानव मूल्यों के प्रति आस्थावान व्यक्ति अपने व्यक्तिगत विकल्प को सामाजिक संकल्प के सामने विसर्जित कर देता है। लंका युद्ध करने के पहले युद्ध के विषय में राम के मन में संशय की रात्रि उमड़–घुमड़ रही है। वे व्यक्तिगत रूप से युद्ध के विरूद्ध है किन्तु युद्ध सामाजिक हित में एक अनिवार्यता है। समाज का निर्णय युद्ध के पक्ष में होता है। राम उसे स्वीकार करते हैं–

"मैंने अपने को सौंप दिया ज्वारों को
विवश धरती सा सौंप दिया अपने को सौंप दिया
अब मैं निर्णय हूँ सबका अपना नहीं।"

नयी कविता ने धर्म, दर्शन, नीति, आचार सभी प्रकार के मूल्यों को चुनौती दी है यदि वे जीवन की नवीन अनुभूति, चिंतन और गति के रास्ते में आते हैं या ऊपर से ओढ़े गये हैं। कुँवर नारायण के 'आत्मजयी' का नचिकेता बाप द्वारा सौंपे हुए मूल्यों को अस्वीकारता हुआ यातनायें सहता है, और उन यातनाओं में से ही उसे सही जीवन दृष्टि और शक्ति प्राप्त होती हैं। नयी कविता ने पीड़ा यातना, या शून्य को एक वस्तु स्थिति न मानकर उसे जीवन की रचनात्मकता से जोड़ा है। नये कवियों के लिए पीड़ा एक सर्जनात्मक शक्ति है–

> "एक शून्य है, मेरे हृदय के बीच
> जो मुझे मुझ तक पहुँचाता है।"[5]
> दुःख सबको मांजता है और चाहे स्वयं सबको
> मुक्ति देना वह न जाने किन्तु जिनको मांजता है,
> उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।" – *अज्ञेय*

एक रोचक तथ्य है कि नये कवियों ने रामायण की तुलना में महाभारत को अपने संसार के लिए अधिक प्रसंगानुकूल पाया है। धर्मवीर भारती के काव्य नाटक 'अंधायुग में मूल्यों का संकट शुरू से अन्त तक बना हुआ है जिसके बिना पर महाभारत के बाद की निरर्थकता एवं दूसरे महायुद्ध के बाद की भयानक निरर्थकता को एक नाटकीय तादात्म्य दिया गया है। कुंवर नारायण 'नचिकेता' में नचिकेता के पुराण चरित्रों के माध्यम से जीवन का परम अर्थ ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं। 'असाध्य वीणा' में अज्ञेय एक बौद्ध कथा के माध्यम से आत्मदान एवं आत्म मुक्ति को चरित्रार्थ करते हैं। यह सब देखते हुए लगता है कि समकालीन अव्यवस्था को ढंग से समझने और वाणी देने के लिए नये कवियों ने पुरा कथाओं और मिथकों का भरपूर इस्तेमाल किया है। इलियट ने इसे ही 'वर्तमान का अतीत और अतीत की वर्तमानता' कहा है।

### (iv) अपना ही परिवेश :

नयी कविता पर यह आरोप है कि उसने विदेशी कविता और दर्शन से बहुत कुछ उधार लिया हैं उसमें टी०एस० इलियट, डी०एच० लारेंस, एजरा पाउण्ड, वाद लेयर आदि की कविताओं में चित्रित युद्धोपरान्त की पीड़ा अनास्था, बिखराव, अकेलापन, अराजकता, एवं मूल्यहीनता की छाया एवं प्रभाव ग्रहण

किया गया है। यह आरोप पूर्णतः सही नहीं है क्योंकि नयी कविता में निराशा एवं मरणधर्मिता के साथ जिजीविषा और आस्था भी है दूसरे यह कि निराशा एवं मरणधर्मिता की उत्पत्ति अपने ही समाज के विषम परिवेश से हुई है।

"जब होता हूँ बहुत–बहुत मैं उदास
चमक–चमक जाता है अद्भुद आकारों में एक सलीब
एक धर्मचक्र एक नंगे फकीर की अभय हस्त – ***प्रभाकर माचवे***

यहां निराशा के बाद एक आश्वासन है। नयी कविता जीवन को अनुभूति के क्षणों में पकड़ने की पक्षपाती है। अनुभूति प्राप्त करने वाला सृष्टा अपने परिवेश की ही उपज होता है।

## (v) निराशा और अवसाद :

आज के कवि को कई स्तरों पर नैतिक और सामाजिक वर्जनाओं का सामना करना पड़ रहा है। वह अपने आस–पास की परिस्थितियों से सामंजस्य बनाकर रखना चाहता है। पर हर जगह उसे निराशा ही हाथ लगती है–

"हमने जो कुछ भी अब तक सहा वह बहिश्त का सुख नहीं
जंगली सुअर का अकेलापन हैं।" – ***हरि नारायण व्यास***

आज कवि निराशा की उस स्थिति का भी चित्रण कर रहा है, जिसमें वह न तो मर सका है और न जीवित ही हैं। अज्ञेय लिखते हैं–

"सुख मिला उसे हम कह न सके
संश्पर्स वृहत का उतरा सुरसरि सा
हम बह न सके
यों बीत गया सब हम मरे नहीं, पर हाय कदाचित्
जीवित भी हम रह न सके।" – ***अज्ञेय***

इलियट ने भी कुछ ऐसी ही दशा का वर्णन करते हुए लिखा हैं–

I was nither living nor dead
and I know notning
Looking in the heart of light the silence

यही आज का खंडित जीवन है, जिसमें आदमी त्रिशंकु की तरह लटका है, इस अहसास के साथ –हमें फिर से जीने का भय सहना है, मृत्यु में रहना है।'

## (vi) लोक सम्पृक्ति :

नयी कविता ने लोक जीवन की अनुभूति, सौन्दर्यबोध, प्रकृति और उसके प्रश्नों को एक सहज और उदार मानवीय भूमि पर ग्रहण किया। साथ ही साथ लोक जीवन के बिम्बों, प्रतीकों, शब्दों, उपमानों आदि को लोक जीवन के बीच से चुनकर अपने को अत्यधिक संवेदनपूर्ण और सजीव बनाया। उसकी यह विशेषता उसके यथार्थवादी होने की पहचान है। नयी कविता वस्तुपरक है। नामवर सिंह ने कहा है, 'छायावाद काव्य रचना की प्रक्रिया जहां भीतर से बाहर की ओर है वहां नयी कविता की रचना–प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है। एक में रूप के भाव का आरोपण है तो दूसरी में रूप का भाव में रूपान्तर है।

नयी कविता की लोक संपृक्ति का वास्तविक प्रतिनिधि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को कहा जा सकता है। प्रजातन्त्र तथा व्यापक मानवतावाद, लोक संपृक्ति तथा नयी कविता आज एक दूसरे से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हैं। ये सभी आधुनिक युग की महत्वपूर्ण उपलब्धियां हैं। सर्वेश्वर में यह लोक सम्पृक्ति व्यक्तित्व के एक सहज गुण के रूप में विकसित हुई है। नये वर्ष के आगमन पर वे सबके लिए शुभ चिंतना करते हैं–

> ''नया वर्ष सबको हो हर घर का, हर खेत का
> हर खलिहान का, हर दिल का।'' – ***सर्वेश्वर दयाल***

लोक संपृक्ति की भावना पर आधारित यह मानो नयी कविता का घोषणा पत्र कहा जा सकता है।

## (vii) काव्य संरचना :

संरचना में भी कुछ नये मूल्य आये। नयी कविता की काव्य संरचना दो प्रकार की है। 'प्रगीतात्मक' और 'नाटकीय'। छोटी कविताओं की संरचना मूलतः प्रगीतात्मक है और लम्बी कविताओं की संरचना नाटकीय लेकिन सभी कविताओं की संरचना नाटकीय ही हो आवश्यक नहीं है। लम्बी कविताएं भी अनुचिंतात्मक या आत्मपरक होती हैं और उनकी संरचना एक सीधी रेखा वाली न होकर

'वर्तुल' होती है। उदाहरण के लिए अज्ञेय की लम्बी कविता 'असाध्य वीणा' अपने आकार की लम्बाई के बावजूद एक प्रगीत है, तो निःसंदेह उसमें एक छोटी सी कथा भी है और नाटकोचित संवाद भी। इसके विपरीत श्रीकांत वर्मा की 'समाधिलेख' रघुवीर सहाय की 'आत्म हत्या के विरूद्ध' राजकमल चौधरी की 'आत्म हत्या के विरूद्ध' राज कमल चौधरी की 'मुक्ति प्रसंग' साही की 'अलविदा' और मुक्ति बोध की अंधेरे में शीर्षक लम्बी कविताएं सही अर्थों में नाटकीय संरचना वाली कविताएं हैं।

नयी कविता की संरचना क्रिस्टल या स्फटिक की संरचना के समान है। इसका प्रमाण यह है कि आलोचना में उद्धरण की सुविधा के लिए उससे कोई एक अंश चुनना कविता के साथ अन्याय हो जाता है और जब भी ऐसा किया जाता है तो कविता की अन्विति की कीमत पर समग्र अर्थ की कीमत पर।

चूँकि नयी कविता में हर विषय कविता का विषय हो सकता है, इसलिए नये कवियों ने काव्य संरचना को अधिक लचीला और समावेशी बनाया। नयी कविता में संरचना के नये आविष्कृत तत्वों को पुराने से मिलाकर कई तरह के नये और उत्तेजक संयोजन किए गये। जैसे अज्ञेय ने पारम्परिक छंद के एक तत्व तुक का संगीतात्मकता के लिए और मुक्तिबोध ने व्यंग के लिए उपयोग किया है। नयी कविता 'मुक्ति छंद की कविता' नहीं बल्कि छंद मुक्त कविता है। नये कवि छंद को एक पूर्वाग्रह मानते हैं। यह कहना गलत है कि नया कवि कविता में बातचीत करता है, ठीक यह कहना है कि नया कवि बातचीत में कविता करता है–

> "बजो ओ काठ की घंटियों बजों
> मेरा रोम–रोम देहरी है सूने मन्दिर की जो — ***मुक्तिबोध***

नये कवियों ने अपने काव्य संरचना के लिए फैंटेसी का भरपूर उपयोग किया हैं उनमें मुक्तिबोध, श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय प्रमुख हैं।

### (viii) काव्य भाषा :

नयी कविता पुरानी काव्य भाषा का त्याग कर बातचीत की सामान्य भाषा का उपयोग करती है। संकेतों चिन्हों, सीधी टेढ़ी, लकीरों, अधूरे वाक्यों आदि से

वह अपनी संवेदना प्रकट करती है, उदाहरण रूप में सैय्यद सफीउद्दीन की एक रचना देखी जा सकती है–

→ ∇ ←

(हाय !)

→ Δ ←

(नहीं चैन जागते ही कट गई रैन)

(प्रेम यानी इश्क यानी लव)

" ! "

" ! " [6]

फैशन के रूप में स्थापित नयी कविता की यह शैली काफी दुरूहता लिए हुए हैं, और यह गद्य के आस–पास है, किन्तु कविता की भाषा एवं बातचीत की भाषा की निकटता कलात्मकता के त्याग अथवा भावना की शिथिलता के कारण यदि उत्पन्न है तो वह निःसंदेह निरर्थक है। ऐसी कविता में संवेदनाघात नहीं होगा। ध्यान में रखने की बात है कि नयी काव्य भाषा में सामान्य वार्तालाप की भाषा के प्रयोग का अर्थ यह नहीं होता कि उसमें संस्कृत शब्दों का त्याग हो न वैसा माना ही जाता है।

नये कवियों ने अपनी भाषा को निजी प्रतीक व्यवस्था से समृद्ध किया है। हरी घास, इन्द्र धनु, सेतु, सागर, मछली, चक्रान्त शिला आदि बीसियों प्रतीक अज्ञेय द्वारा विकसित और प्रयुक्त हुए हैं। ये प्रतीक अज्ञेय की कविताओं में बार–बार आते हैं। मुक्ति बोध ने अपने प्रतीक मिथिकल अतीत से या हाल के इतिहास से लिए हैं। विशाल वटवृक्ष, 'ब्रह्म राक्षस', 'पागल–मनुष्य' शक्ति पुरुष तथा महात्मा गांधी, तिलक, तालस्ताय, आदि इसका प्रमाण है। मां और शिशु अन्य उनके उल्लेखनीय प्रतीक हैं। अंधायुग एक कंठ विषपायी' संशय की एकरात' कवियों ने मात्र पौराणिक आख्यानकों से प्रतीक चुना है। ये प्रतीक ही नयी कविता पर लगे पाश्चात्य प्रभाव को आरोप को झुठलाते हैं।

### (ix) काव्य बिम्ब :

नयी कविता के दौर में काव्य बिम्ब पर काफी जोर दिया गया। केदारनाथ सिंह ने घोषणा की, "कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब विधान पर। बिम्ब विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की वस्तु से होता है, उतना

ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है रूप को संक्षिप्त और दीप्त। काव्य वस्तु जितनी संश्लिष्ट, सूक्ष्म और जटिल होती है, उसे बिम्ब रूप में अभिव्यक्त करना कवि के लिए उतना ही अनिवार्य होता है।"

"जल रहा है जवान होकर गुलाब
खोलकर होंठ जैसे आग गा रही है फाग।"— ***केदारनाथ अग्रवाल***

1959 ई० का साल ऐतिहासिक दृष्टि से नयी कविता के विकास का प्रायः चरम बिन्दु था। इस बिन्दु से एक रास्ता नयी कविता की रूढ़ियों की ओर जाता था जिनमें बिम्ब आदि विज्ञापित नुस्खों के अंधानुकरण की प्रवृत्ति थी और दूसरा रास्ता सच्चे सृजन का था जिसमें बिम्बवादी प्रवृत्ति के बंधन को तोड़ना आवश्यक प्रतीत हुआ।

नयी कविता में बिम्ब का आग्रह इतना बढ़ा कि काव्य उपेक्षित हो गया और कविता की अच्छाई—बुराई बिम्ब पर निर्भर हो गई। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'वह खिड़की' शीर्षक कविता अपने सारे काव्य के बावजूद मुख्य रूप से पाठक के मन पर दो बिम्ब छोड़ जाती है।

"जिन्दगी मरा हुआ चूहा नहीं है
जिसे मुख में दबाये,
बिल्ली की तरह हर शाम गुजर जाये
और मुड़ेर पर कुछ खून के दाग छोड जाये।"
"लोकतन्त्र को जूते की तरह लाठी में लटकाये।
भागे जा रहे है सभी सीना फुलाये।"[7]

यौन बिम्बों एवं कल्पनाओं में भी नयी कविता थी। अपनी अलग ही विशेषता है। कविता में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिससे निकलने वाला गौण अर्थ ऐसा यौन बिम्ब प्रस्तुत करता है, कि मुख्य अर्थ अमुख्य बन जाता है। अज्ञेय का एक बिम्ब दृष्टव्य है—

"और वह दृढ़ पैर मेरा है
गुरू, स्थिर, स्थाणु सा गड़ा हुआ
तेरी प्राण पीठिका पे लिंग सा खड़ा हुआ।" — ***अज्ञेय***

धीरे—धीरे काव्य सृजन बिम्ब के दायरे से निकलकर एक खास तरह की सपाट बयानी की ओर अग्रसर हो रहा है—

'प्रिय पाठक ये मेरे बच्चे हैं कोई प्रतीक नहीं
और इस कविता में मैं हूँ मै कोई रूपक नहीं
यह मैं खड़ा हूँ भरा–पूरा एक आदमी।''[8]

'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' के माध्यम से रघुवीर सहाय का यह कथन उस बदली हुई मनःस्थिति का अर्थपूर्ण संकेत है। कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब विधान पर।'' एक समय यह कहने वाले केदार नाथ सिंह बिम्ब विधान का मोह छोड़कर अब सीधे–सीधे इस प्रकार के वक्तव्य देने लगे हैं।

''तुमने जहां लिखा है
प्यार वहां लिख दो सड़क फर्क नहीं पड़ता
मेरे युग का मुहावरा है फर्क नहीं पडता।'' — ***केदार नाथ सिंह***

बिम्ब मोह टूटने का एक प्रधान कारण यह था कि कवियों की यह महसूस हुआ कि बिम्ब विधान सीधे सत्य कथन के लिए बाधक है। इसे विरोधाभास ही कहना चाहिए कि जबसे कविता में बिम्बों की प्रवृत्ति बढ़ी सामाजिक जीवन के सजीव चित्र दुर्लभ हो चले। सुन्दर बिम्बों के चयन की ओर कवियों की ऐसी वृत्ति हुई कि प्रस्तुत गौण हो गया और अप्रस्तुत प्रधान इस तरह कवि की दृष्टि ही संकुचित नहीं हुई, कविता का दायरा भी सीमित हो गया। पहले जीवन से खींचकर प्रकृति की ओर फिर प्रकृति में भी विशेष प्रकार के रमणीय दृश्य की ओर।

वस्तुतः इस बिम्ब मोह के टूटने का कारण सामाजिक और ऐतिहासिक है। छठे दशक के अन्त और सातवें दशक के आरम्भ में सामाजिक स्थिति इतनी बिषम हो उठी कि उसकी चुनौती के सामने बिम्ब विधान कविता के लिए अनावश्यक भार प्रतीत होने लगा। जिस प्रकार सन् 36 तक आते–आते स्वयं छायावादी कवियों को भी सुन्दर शब्दों और चित्रों से लदी हुई कविता निस्सार लगने लगी, उसी प्रकार सन् 60 के आस–पास नयी कविता की बिम्ब धर्मिता की निरर्थकता का एहसास होने लगा। इसके बाद जिस प्रकार की कविता लिखी गई, उसे अशोक बाजपेयी ने सपाट बयानी कहा है। अशोक बाजपेयी कहते हैं ''नयी कविता बिम्ब केन्द्रित रही है और अक्सर कवियों में विम्बों का ऐसा घटा टोप तेयार हुआ है कि कविता को बिम्ब से मुक्त कराकर ही उसे जीवंत और प्रासंगिक रखा जा सकता है। उनके सामने बिम्ब प्रधान कविता

कुछ शक की चीज बन गई और सपाट बयानी की तरफ कई कवि झुके और उसे अधिक विश्वसनीय माना जाने लगा।" रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह और श्रीकांत वर्मा ने खास तौर पर सपाट बयानी के मूल्य को पहचाना लेकिन उसे अपनी बुनियादी विम्ब धर्मिता के प्रतिकूल न रखकर उसे उसके साथ संयोजित किया।

कविता सिर्फ बिखरे हुए विम्बों की श्रृंखला नहीं है। विम्बों से कोई कुछ नया नहीं सीखता, क्योंकि पहले से जो उसकी जानकारी में होता है, विम्ब उसी को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का ढंग भर है। कविता में विम्ब वास्तविकता के साक्षात्कार का ही सूचक नहीं होता प्रायः वह वास्तविकता से बचने का एक ढंग भी रहा है।

इस युग में प्रायः दो प्रकार का काव्य सृजन हुआ। व्यक्तिपरक और समाज परक। व्यक्तिपरक काव्य के अन्तर्गत मुक्तक काव्य और गीत काव्य दो प्रकार की कविताएं लिखी गई। व्यक्ति परक अनास्था एवं समष्टिपरक आस्था दोनों का समन्वय हमें नयी कविता में देखने को मिलता है। समाज परक काव्य के अन्तर्गत प्रबन्ध काव्य, मुक्तक तथा गीतों की रचना इस युग की प्रमुख विशेषता रही है। इनका मूल स्वर सांस्कृतिक उन्नयन, प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं की प्रशस्ति व समाजवादी रहा है।

### (x) समाज परक काव्य :

स्वतन्त्र भारत में देश के विभाजन के उपरान्त उत्पन्न परिस्थितियों समस्याओं सिद्धान्तों और आस्थाओं के साथ–साथ नयी कविता में विश्व समस्याओं, युद्ध की विभीषिका, परमाणु युद्ध की आशंकाओं एवं मानवतावादी भावनाओं का अंकन हुआ है। इस काव्य में प्रधानतः दो दृष्टिकोण हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। एक यथार्थवादी दूसरा सांस्कृतिक पुनुरूत्थानवादी। यथार्थवादी कवियों में नरेन्द्र शर्मा, अंचल, केदारनाथ अग्रवाल, राम विलाश शर्मा, रंगेय राघव, त्रिलोचन, नागार्जुन आदि है। जिन्होंने स्वतन्त्र भारत की तत्कालीन परिस्थितियों को अपने काव्य का विषय बनाया है। सांस्कृतिक पुनुरूत्थानवादी कवियों में पंत, दिनकर, बच्चन, माखन लाल चतुर्वेदी, बाल कृष्ण शर्मा नवीन, भगवती चरण वर्मा, आदि का नाम उल्लेखनीय है, इन्होंने प्राचीन सांस्कृतिक पुनुरूत्थान व मानवता के उन्नयन को अपने काव्य का विषय बनाया है। इस

समाजपरक काव्य में प्रबन्ध, मुक्तक एवं गीत तीनों ही प्रकार की रचनायें हुई हैं, पौराणिक एतिहासिक तथा आधुनिक, तीनों ही प्रकार के प्रबन्ध काव्यों का सृजन इस काल में हुआ है।

जहां तक पौराणिक प्रबन्ध काव्यों का सवाल है, इस काल में, साकेत सन्त, रामराज्य (बलदेव प्रसाद मिश्र), उर्मिला (नवीन), रावण (हरदयाल सिंह), एकलव्य (राम कुमार वर्मा), रश्मिरथी (दिनकर), जयभारत (मैथिलीशरण गुप्त), कृष्णायन (द्वारिका प्रसाद मिश्र), कनुप्रिया (धर्मवीर भारती) आदि प्रमुख रचनाओं का सृजन इस काल में हुआ है।

पौराणिक ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्यों में दिनकर की उर्वशी, विष्णुप्रिया (मैथिली शरण गुप्त), आर्यावर्त (मोहन लाल महतो 'वियोगी'), बाणाम्बरी (रामावतार पोद्यार 'अरूण), सारथी (राम गोपाल शर्मा 'दिनेश') आदि का नाम गिनाया जा सकता है।

इस काल में आधुनिक कालीन प्रबन्ध काव्यों में जन नायक (रघुवीर शरण मिश्र) मेधावी (रंगेय राघव), प्रेमचन्द्र (परमेश्वर द्विरेफ), लोकायतन (पंत), के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रबन्ध काव्यों का भी सृजन किया गया, जिनमें कवियों ने पौराणिक आख्यानों तथा महापुरुषों को ही अपना आधार बनाया है। इनके अन्तर्गत पौराणिक आधारों के माध्यम से वर्तमान युग की समस्याओं पर विचार किया गया है। रंगेय राघव का 'मेधावी' समाजवादी परिप्रेक्ष्य को ग्रहण करते हुए आदिकाल से अब तक के मानव विकास, की रूपरेखा एवं उसके राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, समस्याओं का चित्रांकन करता है। रधुवीर शरण मित्र के 'जननायक' एवं पंत के 'लोकायतन' में युग पुरुष गाँधी जी का ही अंकन किया गया है। प्रसिद्ध की दृष्टि से दिनकर का 'उर्वशी', पंत का 'लोकायतन' तथा रामावतार पोद्यार 'अरुण' का 'बाणाम्बरी' इस युग के सर्वश्रेष्ठ काव्य रहे हैं।

संक्षेप में इन प्रबन्ध काव्यों की निम्नलिखित विशेषताएं मानी जाती है–

1. व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध,

2. युद्ध और शान्ति तथा हिंसा और अहिंसा का चित्रण।

3. वर्ग एवं वर्ण वैषम्य पर करारा प्रहार।

4. पौराणिक विषयों के माध्यम से आधुनिक युग की समस्याओं पर प्रकाश।

5. नारी पुरुष के सनातन आकर्षण और काम सम्बन्धों का दार्शनिक पुनर्विश्लेषण।

6. गाँधीवाद, मार्क्सवाद और फ्रायडवाद का प्रभाव।

7. उपेक्षित विशेषकर निम्न समझे जाने वाले पात्रों को नायक बनाना।

8. भाषा, छंद, अलंकार, शब्द शक्ति आदि अभिव्यक्ति के विविध उपकरणों का यथा संभव स्वच्छन्द प्रयोग।[9]

## (xi) समाज परक मुक्तक कविताएं तथा गीति काव्यः

सन् 1947 में भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति पर अनेक कवियों ने उल्लास मुग्ध हृदय से चिरवांछित आजादी का स्वागत करते हुए नयी आशाओं की दीप जलाए। पंत ने गया–

"सभ्य हुआ अब विश्व सभ्य धरणी का जीवन
आग खुले भारत के संग भू के जड़ बंधन।"[10]

और इससे भी आगे बढ़कर 'दिनकर' द्वारा समाजवादी शासन व्यवस्था को स्वप्न को हृदय में संजोये हुए उद्घोषणा की गई–

"दो राह समय को रथ का घर्घर नाद सुनो
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।[11]

परन्तु यह उल्लास अधिक समय तक नहीं रह सका, देश के विभाजनोपरान्त उत्पन्न साम्प्रदायिक वैमनस्य जनित दंगों ने विध्वंस और जन संहार का ऐसा ताण्डव नृत्य किया जिसे देख युग दृष्टा, स्वप्नदर्शी गांधी जैसा महापुरुष भी हताश हो गया। भारत अभी इस संक्रमणकालीन स्थिति से उबरने की कोशिश कर ही रहा था कि एक धर्मांध व्यक्ति ने युग पुरुष गांधी की हत्या कर समूचे विश्व जनमानस को स्तब्ध कर दिया। हिन्दी के कवियों ने अपने अश्रुपूरित नयनों से गांधी जी को भावभीति श्रद्धांजलियां अर्पित की गई–नरेन्द्र शर्म ने गाया–

"तुंग हिमाद्रि समान आज दिक्काल परिधिके पार
शोभित हो तुम वहां जहा पहुंचे न शब्द झंकार।
अपने अलिखित गीत अनाधृत पुष्पों से इस हेतु
अर्पित करता हूँ अंजलि दे सादर बारम्बार।"[12]

पूंजीवादी नग्नताण्डव के सामने आजाद भारत की जनता की स्थिति बहुत कुछ वैसी ही रही जैसी कि अंग्रेजों व इसके पूर्व थी। पूंजीपतियों एवं मिल मालिकों का शोषण उत्तरोत्तर शासन के वरधहस्त तले बढ़ता ही गया।

इस स्थिति ने माखन लाल चतुर्वेदी जैसे लेखनी के धनी जन नायक कवियों को झकझोर, कहने पर मजबूर कर दिया–

"वही तो सोना बनावें, खेत में मोती उगावें।
वही मेरी पतित प्रभुता का व्यथित बोझ उठावें।
वही कठिन सुरंग खोदें, वही उठ पर्वत बहावें।
वही पत्थर सी भुजाएं, राष्ट्र रथ के पथ बनावें।
किन्तु उनके 'गले में दारिद्रय नागन, कमर में चिथड़ा नहीं है।
दान 'दानों' की करें विधि, पेट में टुकड़ा नहीं है।[13]

इस स्थिति से आक्रोशित ह्रदय दिनकर ने भावी जनक्रान्ति का आह्वान कर दिया–

"अपने को ही नहीं देख, टुक ध्यान इधर भी देना।
भूमि हीन कृषकों की कितनी बड़ी खड़ी है सेना।
बांध तोड़ जिस रोज फौज खुलकर हल्ला बोलेगी
तुम दोगे कया चीज? वही जो चाहेगी सो लेगी।
कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट।
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट।"[14]

द्वितीय विश्व युद्ध की विभाषिका से आक्रान्त विश्व जनमानस अभी मुक्ति की सांस भी नहीं ले पाया था कि पूंजीवाद एवं साम्यवाद के विश्वव्यापी शीतयुद्ध ने तृतीय विश्व युद्ध के खतरे का आभास व आशंका उत्पन्न कर दी। इसके परिणामों से सशंकित शान्तप्रिय कवियों ने विश्व शान्ति को उन्नयन एवं प्रसार में अपनी वाणी का स्वर मिलाना आरम्भ कर दिया।

आधुनिक कवि 'नीरज' ने कहा–

> "मैं सोच रहा हूँ अगर तीसरा युद्ध छिड़ा
> इस नई सुबह की नई फसल का क्या होगा?"[15]

सन् 1962 के विश्वासघाती चीन के एंव 65 के पाकिस्तानी आक्रमण ने देश में पुनः एक अद्‌भुद एकता का संचार कर दिया फलतः अनेक कवियों की वाणी देश प्रेम के स्वर से झंकृत हो उठी। प्रसाद के नाटकों में गाये गये देश भक्तिपूर्ण गीतों का यह नये युग बोध के साथ नया और मनोरम संस्करण था। वीरेन्द्र मिश्र, सोम ठाकुर, राम कुमार चतुर्वेदी 'चंचल' आदि नव युवा कवियों ने देश गौरव देश श्री के गीत गये।

इसके अतिरिक्त अनेक कवियों ने समाज एवं शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, घूसखोरी आदि को लक्ष्य बनाकर अन्याय और अत्याचारों के विरूद्ध आवाज उठाई। पंत, दिनकर, बच्चन, शिवमंगल सिंह सुमन, नरेन्द्र शर्मा, गोपाल सिंह नेपाली, सोहन लाल द्विवेदी आदि पुराने मॅजे हुए कवियों के साथ नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, घनश्याम अस्थाना भारतभूषण, कमलेश, रवीन्द्र भ्रमर, शिव बहादरु सिंह भदौरिया, कमला चौधरी, सोम ठाकुर आदि नये कवि जन–जन की भावनाओं को मुखरित कर रहे थे।

जिस समय कवियों का एक वर्ग जनभावनाओं को अभिव्यक्ति दे रहा था। उसी समय अज्ञेय जैसे प्रतिभाशाली अहंवादी कवि ने व्यक्तिवादी विचारधारा से ओत–प्रोत काव्य सृजन करके नयी कविता की धारा को दूसरी तरफ मोड़ दिया। एक ओर अस्तित्ववादी, फ्रायडवादी दर्शन से प्रभावित यह काव्य वैयक्तिक अहं की परिधि में रहते हुए सम्पूर्ण परिवेश के प्रति अनास्था भाव से आक्रान्त होकर, वैयक्तिक कुण्ठाओं, निराशाओं व मानसिक यातनाओं के चित्रण तक ही सीमित था तो दूसरी ओर इसमें आस्थावादी स्वर भी मौजूद थे जो उज्ज्वल भविष्य के निर्माणाकांक्षी थे।

## (xii) व्यक्तिपरक अनास्थावादी काव्य :

अपने अस्तित्व के प्रति आशंकित व वैयक्तिक कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति इस काव्य का प्रमुख विवेच्य विषय रहा हैं इन्हें हमेशा अपने अस्तित्व की उपेक्षा का भय सताता रहता था।

"कूड़े सा हमको तज कर तट के पास
मंथर गति से बढ़ जायेगा इतिहास।"[16]

*इन कवियों को अपना अस्तित्व किसी झूठ पर आधारित प्रतीत होता था–*

"लगता है सारा अस्तित्व किसी झूंठ पर
टिका हुआ जाता है, आप ही आप बिखर।"[17]

अस्तित्व के प्रति इस अनास्था ने इन्हें पराजयवादी बना दिया –

"इस थके मस्तिष्क में मेरी पराजय
छिपकली सी पग दबाए चल रही।'[18]

इनकी पराजयवादी भावना ने इनकी आत्मा को कछुए के समान भयभीत और त्रस्त बना दिया था, फिर भी इनकी आत्मा में सुखोपभोग की उद्याम लालसा और सुख के उस क्षण को पूरी तरह से भोग लेने की पूरी इच्छा थी। इनकी सुखोपभोग की दमित एवं कुण्ठित इच्छाओं की सीमा का एक उदाहरण यहां द्रष्टव्य है, जिसमें इनकी वासना तृप्ति की लालसा सम्पूर्ण सामाजिक बंधनों को तोडकर अभिव्यक्त हुई है–

'आज मुख्य मेहमान तुम रात के 'फ्लोर शो में
एक बार बस एक बार अपने तन की छाप छोड़ना मुझ पर।
और साथ ही इतना और कहना है कि–
"उंगलियों को कह दो आज रियायत न करें तनिक भी
किन्तु पेश आएं मुनासिब बेरहमी से।"
क्योंकि फैल रही है परिधि स्तनों की हसरते अब जवान हैं।"[19]

यहाँ पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी यौवनवादी दर्शन का स्पष्ट प्रभाव यहां देखा जा सकता है। इन व्यक्तिवादी अनास्था मूलक काव्य के कवियों को हमेशा अपने अस्तित्व के विघटन का काल्पनिक भय सताता रहता था फलतः इन्होंने सम्पूर्ण सामाजिक मूल्यों को नकारते हुए व्यक्ति के सुखोपभोग में ही डूबे रहना अधिक अच्छा समझा।

## (xiii) व्यक्तिपरक आस्थावादी काव्य :

इन अनास्थामूलक व्यक्तिवादी कवियों के अतिरिक्त व्यक्तिवादी आस्था मूलक कवियों का भी एक वर्ग था, ये मानव स्वभाव की विकृतियें के

विघटनकारी प्रभाव को नष्ट कर स्वस्थ समाज व सृजन के आकांक्षी थे। इन कवियों ने आस्था के नये स्वर मुखरित करते हुए घोषित किया कि–

चढ़कर आया आज कर्म का युग नवीन।

और इसी स्वर ने मानव को निराशा और संत्रास से मुक्ति का सन्देश दिया।

"व्यष्टि भ्रष्ट जीवन समष्टि की सीमा में
अपने विश्वासों का खोया सुख खोज रहा
आस्था के सूर्य को उसके घर द्वारे पर ले आओ,
लेकिन दरवाजे में अड़कर मत खड़े रहो,
मन के घर आंगन में नयी धूप आने दो।"[20]

यहाँ पर अस्तित्ववादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इस वर्ग के कवि ने परम्परा के स्वस्थ रूपों को अपनाकर उन्हें नये युग के नये परिवेश के अनुरूप उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया और साथ ही व्यंग और हास्य का सहारा लेते हुए परम्परा धर्म, कला, आदि के अनुर्वर, अनुपयोगी रूढ़ रूपों पर व्यंग किए। यह व्यंग धर्म वीर भारती लक्ष्मीकांत वर्मा, नागार्जुन आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है।

नयी कविता के पूर्व की हिन्दी कविता विभिन्न वादों के खेमों में विभाजित थी, परन्तु नयी कविता ने इन विभाजक रेखाओं को व्यर्थ सिद्ध करते हुए अपने में प्रगति एवं प्रयोग का मिला जुला समन्वय स्थापित किया। नयी कविता के विवेचन से यही स्पष्ट होता है कि नयी कविता के मूल में टूटे मानव मूल्य, अस्त–व्यस्त परम्परा, प्रताड़ित भावनाएं, खण्डित मर्यादाएं। उसका उद्देश्य है विद्रोहात्मक सक्रियता, अहं की स्थापना, वैयक्तिक निष्ठा तथा बौद्धिक जागरूकता। नयी कविता चाहती है जीवन का यथार्थ चित्रित करना और जीवन का यथार्थ है वेदना, प्रतारणा, कुरूपता, निराशा, तथा बौनापन। इस तरह से नयी कविता में जहां एक ओर ऐतिहासिकता एवं पौराणिकता है तो दूसरी ओर सामाजिकता एवं समाजवादी दृष्टिकोण जहां एक ओर व्यक्तिवादी फ्रायड अनास्था का स्वर विद्यमान है तो दूसरी ओर व्यक्तिवादी आस्था का स्वर अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव भी देखा जा सकता हैं इस प्रकार नयी कविता में छायावाद प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद तीनों का अभूतपूर्व सामंजस्य देखा जा सकता है।

## (ब) नयी कविता पर अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव :

नयी कविता का आरम्भ किसी दर्शन को पुनरुज्जीवित करने के लिए नहीं हुआ था। हर वस्तु को अस्वीकार करने की भावना के कारण दर्शन का कोई स्पष्ट रूप हमें आरम्भिक नयी कविता में नहीं मिलता है। कविता और कहानी दोनों ही क्षेत्रों में जिस तरह से अस्तित्ववाद के नारे बुलंद किए जा रहे हैं उससे यही लगता है कि अस्तित्ववाद पश्चिमी प्रभाव अथवा आरोपित आधुनिकता की आवश्यकता के रूप में आया है। कवियों को आधुनिक होने के लिए अपने को अस्तित्ववादी घोषित किए बिना निस्तार नहीं दीखता।

अस्तित्ववादी, गद्यलेखन को एक विशिष्ट कला रूप मानते हैं। जिसके द्वारा मानव चेतना, वास्तविकता का उद्‌घाटन करके क्रियाशील होती है। अतः साहित्य—सृजन के माध्यम से लेखक अपने अस्तित्व की सार्थकता खोजना चाहता है और अपनी स्थिति को प्रमाणिकता प्रदान करना चाहता है। कविता के क्षेत्र में स्थिति कुछ भिन्न है। कविता विचारों के सम्प्रेषण का माध्यम नहीं हो सकती। कविता का विषय अनुभूति को विम्बों द्वारा सम्प्रेषित करना है। उसमें भाषा की बिम्ब क्षमता नहीं सांकेतिकता ही मूल्यवान होती है। कवि क्षण जीवी हो सकता है, किन्तु कविता में क्षण जीविता का विचार ही क्षण की अनुभूति की अभिव्यंजना करेगा तभी काव्यात्मकता संभव होगी।

पश्चिम से आयातित दर्शन की संगति हम अपने परिवेश से नहीं बैठा सके हैं। क्यों कि अस्तित्ववाद को आरम्भ करने वाली परिस्थितियां हमारे देश की नहीं हो सकती हैं और संभवतः यही कारण है कि हिन्दी की अस्तित्ववादी कहलाई जाने वाली रचनाओं में देश की परिस्थितियों में मानव की समस्याओं का समाधान नहीं है। कामू, काफ्का, कीर्केगार्ड, सार्त्र के नामों के साथ एक बनावटी संत्रास का आभास मिलता है। पश्चिम की परिस्थितियों में जो नैराश्य और संत्रास स्वाभाविक लगता है, हमारी परिस्थितियों में आरोपित होकर वह झूठ, आरोपण, और असंगति के अतिरिक्त कुछ नहीं लगता।

नयी कविता उन विस्थापित युवामनों की अभिव्यक्ति है जो किसी प्रकार की मान्यता न पाकर अपने अग्रजों के प्रति विक्षोभ से भर जाते हैं और वह विक्षोभ जब कोई निकास नहीं पाता तो आत्मदया, आत्महीनता का बोध बनकर काव्य में अभिव्यक्त होने लगता है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से सन् 1950 के

बाद साहित्य में महत्व पाया है। हिन्दी नयी कविता के पीछे अस्तित्ववादी चिन्तन का आधार है। अस्तित्ववादी चिन्तन का हिन्दी नयी कविता पर प्रभाव निम्न रूप में देखा जा सकता है–

## (क) वैयक्तिकता पर विशेष आग्रह :

अस्तित्ववादी चिन्तन का वैयक्तिकता पर विशेष आग्रह है। नयी कविता के सन्दर्भ में अहं का महत्व एक सीमा तक इसी वैयक्तिकता का पर्याय हो सकता है। पश्चिम में व्यक्तिवाद व्यक्ति को हर प्रकार की स्वाधीनता देता है। व्यक्ति किसी से प्रतिबद्ध नहीं है, न ईश्वर से न देश से, न समाज से और न ही परिवार से। यहां व्यक्तिवाद का स्वर उससे पर्याप्त भिन्न है। अप्रतिबद्धता के प्रति मोह तो व्यक्ति के मन में है, किन्तु यह अप्रतिबद्धता अभी उसका 'प्रेय' मात्र है। वह इच्छित स्थिति है जिसे वह अनुभूति के स्तर पर कभी नहीं भोग सकता है।

> "न खेलूँ मैं अगर शतरंग ऐसी गलत शर्तों पर
> कि जिसमें सभी चालें बस तुम्हारी हों?
> न हो स्वीकार यदि यह खेल मुझको
> जीतना जिसको तुम्हारी बदनियत हो?
> और जिसमें हारना मेरी नियति हो?"[21]

व्यक्ति का अहं उसे दुनिया से कुछ ऊपर उठा देता है। उसके अहं को तोड़ने वाला कोई भी प्रयास उसे असह्य है।

> "अहं की चट्टान को तोड़ती आ रही आवाज किसकी।
> कौन चुपके वस्त्र को तेज सुई की तरह छेदता?"[22]

अस्तित्ववादी के लिए वैयक्तिकता इसलिए आवश्यक हैं क्योंकि अपने को भीड़ से अलग करने के प्रयास में जो कुछ वह करता है उसमें उसका स्वत्व अधिक है। जो कुछ कर रहा है उसके लिए वह स्वयं जिम्मेदार है। दायित्व बोध की भावना मानवीय स्वतन्त्रता का ही परिणाम है। लेकिन स्वतन्त्रता का मतलब उसके लिए समाज से कटकर जीना नहीं है वह सब आघातों को सह लेता है–

> "है छिपी, इन मुट्ठियों के बीच
> मजबूरियां, लाचारियां, असमर्थताएँ

एक हो जिसको बताएँ मुट्ठियां ये हैं बनी फौलाद की,
सबको समेटे युग युगों से बन्द हैं अब तक।"[23]

और इसी प्रकार–

"क्या मैं चीन्हता कोई न दूजी राह?
जानता क्यों नहीं निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह।"[24]

यह अतिरिक्त आत्म केन्द्रिकता की भावना वास्तव में अस्तित्व के प्रति, सत्ता के प्रति शंका का प्रतिफलन है। शंका बार–बार उठाई गई है, जिसमें अस्तित्व में प्रेम, मृत्यु, विषाद, भय सभी कुछ हैं– ये हमारे जीवन की अनिवार्यताएँ हैं जिनसे किसी भी प्रकार छुटकारा नहीं पाया जा सकता। ईश्वर के अभाव में मनुष्य एक दम अकेला हो जाता है, और ईश्वर रिक्त समाज में जीने वाला व्यक्ति उसी अकेले पन से अपने होने मात्र (अस्तित्व) पट शंका के कारण अपने में ही सिमट जाता है। अपने लिए उसे जो अर्थ ('सार') मिलता है। वह उसे संवेदनशील होने से बचाता है। पहले अपने 'अस्तित्व' का एहसास और उसके बाद अपने लिए 'सार' प्राप्त करने का आत्म संघर्ष महायुद्धों के बीच भटकी हुई मानवता के लिए संगत जीवन दृष्टि थी।

"लोभ के वशीभूत गद्‌गद् श्रद्धालुओं के मेले में,
भीड़ के प्रपंच बीच शंकित जिज्ञासु एक
अशुभ उपस्थित हूँ।
मैं अपनो के हठांत सत्यों से दण्डित हूँ।
उनके विश्वासों से हारा हूँ, उनकी
नादानी से कुछ ऐसे अपराधी साबित हूँ,
मानो अपना ही हत्यारा हूँ,
जीवन में कैसा यह कुटिल द्वैध?
यह कैसा विधान–निर्भय जीना वैध?
जीवित हूँ या केवल अपहृत हूँ?
संज्ञा हूँ या केवल व्यावहृत हूँ?
क्यों इतना उहापोह यदि मात्र अनुकृति हूँ तुम्हारी।"[25]

## (ख) क्षणजीविता :

नयी कविता को देश की उहापोह ने जो अनुभूतियां दीं उनमें इस अनिश्चितता का भी हाथ है। नया कवि क्षण की अनुभूति पर बल इसलिए देता है कि वह अपने को समसामयिक जीवन के प्रति प्रतिक्षण उत्तरदायी समझता है। उससे विरत होकर शश्वत की गोद में विश्राम करने की कल्पना करना उसके स्वभाव के प्रतिकूल है। जीवन क्रम की स्वाभाविक अखण्डता उसे क्षण की अनुभूति में भी उन तत्वों की यथेष्ट उपलब्धि करा देती है जो वास्तव में नित्य हैं–

> "क्या बुरा है यदि क्षण से अचानक प्रस्फुटित होकर प्रगल्भ बहार सा
> मूर्छित वनो में पुनः अपने बीज के भवितव्य ही तक लौट जाऊँ......
> और अगला कदम ही मेरा उठाया क्रम कहीं भी या कहीं भी नहीं।"[26]

## (ग) अप्रतिबद्धता :

अप्रतिबद्धता का प्रश्न स्वाधीनता के बाद सन् 1960 के आस–पास जितनी तीव्रता से उठने लगा उतना पहले कभी नहीं उठा। अप्रतिबद्ध वैसे ही रह सकता है, जिस पर कोई उत्तरदायित्व न हो और निजी सुख–दुःख के चिन्ता के अतिरिक्त और कोई चिन्ता उसे न भावे। "यों स्वतन्त्रता के उपरान्त की साहित्यिक युवा पीढ़ी के समक्ष तमाम स्थितियां इस प्रकार प्रतिफलित हुई हैं कि विश्वास नाम का तन्त्र छिन्न–भिन्न हो गया है। उसे लग रहा है कि इस यान्त्रिक उहापोह में वह एक अनियन्त्रित इकाई बनकर रह गया हैं तमाम पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्ध उसे मात्र कडुआहट के लग रहे हैं। उसे समय की अनिवार्य सत्ता ने अपने शिकंजे में जकड़ लिया है। वह इस छटपटाहट को व्यक्त करने के लिए प्रतिश्रुत है। यह छटपटाहट उसे अलगाव दे रही है और यही अलगाव उसकी कृतियों में भी परिलक्षित हो रहा है।"[27] नयी कविता का कवि अपनी पीढ़ी का विश्वास टूटता हुआ पाता है जिसके कारण अपने को अप्रतिबद्ध रखने के लिए उदासीनता ओढ़ रखी है–

> "न हमारी आँखें हैं आत्मरत,
> न हमारे होठों पर शोक गीत।
> जितना भी जी सके ऊब लिए
> अब हमें किसी भी व्यवस्था में डाल दो
> –जी जाएंगे।"[28]

और इसी प्रकार–

> "ऐसी अवस्था में तोड़ा भी जिसे नहीं जा सकता
> भोगा भी जिसे नहीं जा सकता
> छोड़ दूँ सोचता हूँ सोचना भी छोड दूँ।"[29]

यह अप्रतिबद्धता दायित्वहीनता तक विस्तृत नहीं है, उसने अपने ही सन्दर्भ में अपने ही प्रति उदासीनता में अभिव्यक्ति पाई है। वास्तव में साहित्यकार किसी के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, प्रतिबद्धता एक ऐसी नांगफांस हैं जो यक्ति को मात्र कुंठित करती है। उसे एक दायरे में कैद कर देती है। वह दायरा राजनीतिक हो या सामाजिक मर्यादाओं का या साहित्यिक चिन्तन का। साहित्यकार कोई विदूषक नहीं है कि उसे किसी मानी हुई परिपाटी का सृजन करने के लिए बाध्य किया जाये। आज का विद्रोही साहित्य कार प्रतिबद्धता के प्रति कोई आकर्षण नहीं रखता। अगर किसी से प्रतिबद्ध है तो अपने आन्तरिक संघर्ष से, अपनी ग्रन्थियों से, अपने बेनकाब व्यक्तित्व से। जो क्रान्तिदर्शी व युगद्रष्टा रहे वे किन्हीं भी बन्धनों में नहीं बंधे।

> "लीक पर वे चले जिनके, चरण दुर्बल और हारे हैं।
> हमें तो जो हमारी यात्रा से बने ऐसे अनिर्मित पंथ प्यारे हैं।"[30]

*इसी प्रकार मुक्तिबोध ने भी अप्रतिबद्धता के संकट को कई तरह से झेला है–*

> "अधूरी और सतही जिन्दगी के गर्म रास्तों पर हमारा गुप्त मन।
> जिसमें सिकुड़ता जा रहा जैसे कि हब्शी का गहरा स्याह।
> गोरों की निगाहों से अलग ओझल,
> सिमट कर सिफर होना चाहता हो जल्द।"[31]

यहां गोरे वे समकालीन हैं जिनके प्रति मुक्तिबोध एक अतिरिक्त घृणा से भरकर फैंटेंसी को शब्दबद्ध करने लगते हैं। एक निर्वासन की तीव्र इच्छा उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त हैं यहां पर सार्त्र की विचारधारा का प्रभाव 'The other man is hell". (दूसरा मनुष्य नरक है) का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। जब मन की घृणा भी चुक जाये तो अप्रतिबद्धता ही एक मात्र उपाय अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए बचा रहता है।

(घ) संत्रास :

अस्तित्ववादी विचारधारा विस्तृत पैमाने पर हुए युद्धोत्तर परिवर्तन के बाद उभरकर आई थी। योरोप के लिए यह युद्ध जितना निर्णायक था एशिया का वह भाग जो कि भारत है, भी उसकी लपटों की गर्मी से अंशतः परिचित हो सका था। फिर भी भारतीय साहित्य में वर्णित संत्रास की पृष्ठभूमि युद्ध उतनी नहीं है जितना कि औद्योगीकरण व स्वतन्त्रयोत्तर विभ्रम।

व्यक्ति त्रस्त होता है कि किसी विभीषिका से, वह युद्ध हो या कोई भयंकर परिवर्तन। यह संत्रास खड़–खड़ाते हुए रोबोट, कम्प्यूटर, जबड़ा फाड़े हुए आदमी को समूची निगल जाने वाली मशीनों, महत्वाकांक्षाओं की हत्याओं, बेतहाशा भागते हुए शहरों, या एक पर एक चढ़ी आ रही सेनाओं में दिखाई देता है जो हर कदम के साथ किसी देश को नक्शे से हटा देती है। किसी व्यक्ति को शतरंज के मोहरे की तरह आगे बढ़ा देती है या एक पर एक चढ़े मकानों के सामने गर्दन उठाये मानव को बौना बना देती है। यह सन्त्रास बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के लिए कोई नई बात नहीं है। सब जीते जा रहे हैं क्योंकि जीवित हैं।

महानगरों में जीवन की गति सिमट जाने के कारण रेंगने वाले शहर भी लाल हरी बती के नियन्त्रण में चलने लगे हैं। आधुनिकता के दौड़ में हम शायद बहुत पीछे हैं, फिर भी यान्त्रिकता की विभीषिकता स्वाधीनता के बाद बहुत बढ़ गई है–

> "हर मकान की पीठ पर नये मकान हर दिन
> शहर की सीढ़ी पर नया शहर,
> किन्तु नवागन्तुक के आने का बोध नहीं
> हर्ष नहीं, दुःख नहीं, क्रोध नहीं।"[32]

इसके अतिरिक्त चिन्तन में एक प्रकार की सार्वभौमिक एकरूपता आने से यह स्थिति आ गई है–

> "मैं किसी भी सड़क पर निकल जाता और किसी भी
> बस पर आहिस्ता बैठ जाता हूँ मेरा कोई नाम नहीं।"[33]

## (ङ) मृत्यु के एहसास का आतंक :

अस्तित्ववादी विचारधारा क्योंकि महायुद्धों का परिणाम है, अतः आसन्न मृत्यु का आतंक मात्र उन्हें अपने से ही अजनबी बना देता है। जीवन की एक परिणति है, मृत्यु। आधुनिक मनुष्य की त्रासदी यही है कि वह जीवन और मृत्यु दोनों से ही नहीं उबर पाता। उसे जीवन के उत्तर में ही प्रश्न मिलते हैं और मृत्यु के उत्तर में भी–

> "जीवन क्या है? मृत्यु क्यों?
> मुक्ति कैसे? ईश्वर कहाँ?।"[34]

मृत्यु से इतना भयभीत है मनुष्य कि उसे हर गति में हर स्वर में मृत्यु की ही पग ध्वनि सुनाई देती है –

> "सूखे पत्तों की – टूटती आवाज की,
> एक सुरी लय में मृत्यु की पदचाप गूंजती है"

इसी प्रकार की कुछ भावनाएं विजय देव नारायण साही ने भी अभिव्यक्त किया है। यद्यपि उन्हें मृत्यु का साक्षात्कार नहीं हुआ फिर भी किन्हीं रातों में–

> "देर तक मैंने, अट्‌ठास और संगीत सुने हैं
> करीब तीसरे पहर जाकर, भयानक चीख सुनाई पड़ती है।"[35]

## (च) ईश्वर की सत्ता में अविश्वास :

अस्तित्ववादी की तरह नया कवि भी ईश्वर को स्वीकार नहीं करता है। नया कवि नास्तिक नहीं है, लेकिन वह उन स्थापित मूल्यों के प्रति आस्तिक भी नहीं है जिनमें घंटा बजाकर भगवान को जगाना और मन्दिर की देहरी पर माथा पटक कर प्रायश्चित करना ही आस्तिकता मानी जाती है। उनकी व्यस्तता उन्हें इतना समय ही नहीं देती कि वे ईश्वर के होने या न होने की समस्या पर बहस कर सकें। ईश्वर के अस्तित्व मात्र तो उसके उत्तरदायित्व को समाप्त नहीं कर सकता। कवि को अपने पर आस्था ईश्वर में विश्वास से अधिक है–

> "बार–बार अपने भीतर दोहराता हूँ, मैंने जो कुछ किया।
> ठीक किया मैं जो कुछ कर रहा हूँ, ठीक कर रहा हूँ।

मैं जो कुछ करूँगा, ठीक करूँगा। अपने पर मेरी आस्था इतनी छोटी नहीं।

कि ईश्वर के कंधे पर बैठकर ही इन पहाड़ियों के पार देख सकें।"[36]

जिस ईश्वर की मृत्यु की बात नीत्शे ने की थी, वह इस युग के समस्त काव्य में गायब है, उसका ईश्वरत्व कहीं खो गया है और उसके प्रभामण्डल का प्रकाश खण्डित हो गया है। ईश्वर के होने न होने से वैसे भी कुछ विशेष अन्तर नहीं पड़ता है—

"ईश्वर तो नहीं ही है सहा नहीं जाता अन्याय अगर,
तब यह बदबू भरी मांस की कोठरी छोड़ दो वह तो नहीं ही है।"[37]

अस्तित्ववादी दृष्टिकोण काफी सीमा तक इस दृष्टिकोण के समकक्ष है। ईश्वर के अस्तित्व के प्रति दोनों निरपेक्ष हैं और दोनों ही ईश्वर को इतना महत्व भी नहीं देते कि उसके होने न होने पर विवाद करें।

अस्तित्ववादियों का विरोध ईसाइयों के ईश्वर से है जिसे वे व्यर्थ समझते हैं। साठ के बाद की कविता भी ईश्वर के किसी ऐसे रूप का विरोध करती है जिसके नाम के साथ सैकड़ों विश्वसनीय अविश्वसनीय दन्त कथाएं जुड़ी हों।

ईश्वर का विचार मात्र इस काव्य के विपरीत पड़ने लगता है। अपने को निर्वासित किए हुए ये आत्म हारा केवल अपने लिए उत्तरदायी है और इनका उत्तरदायित्व ईश्वर के होने मात्र से इनके कंधे पर से नहीं उतर जाता।

इसके अतिरिक्त मुक्ति बोध की अंधेरे में कविता पर सार्त्र की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। अंधेरे में कविता मुक्तिबोध की सबसे अधिक चर्चित एवं कलात्मक रचना है। कविता का प्रारम्भ जिन्दगी के अंधेरे कमरों से होता है—

"जिन्दगी के कमरों में अंधेरे लगाता है चक्कर कोई एक लगातार।
आवाज पैरों की देती है सुनाई बार—बार...... बार—बार,
वह नहीं दीखता नहीं ही दीखता, किन्तु वह
रहा घूम तिलस्मी खोह में गिरफ्तार कोई एक।"[38]

और फिर वहीं कवि कहता है कि वह रक्त लोक स्नात पुरुष और कोई नहीं है,

"वह रहस्यमय व्यक्ति अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति है,

पूर्ण अवस्था वह
निज सम्भावनाओं, निहित प्रभावों प्रतिमाओं की,
मेरे पूर्ण का आर्विभाव,
हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव,
वह आत्मा की प्रतिमा।"[39]

सार्त्र की विचारधारा का प्रभाव यहां स्पष्ट हैं, व्यक्ति को उसके अस्तित्व का मान उसे जन्म से ही नहीं प्राप्त हो जाता है, बल्कि धीरे–धीरे एक अवस्था आने पर स्वतः ही इसका आभास उसे हो जाता है कि वह स्वयं वही है। कोई दूसरा नहीं। मुक्तिबोध की उपर्युक्त पंक्तियों में कवि को उसी अस्तित्व बोध का भान हो रहा है।

जैसा कि कवि ने पहले ही स्पष्ट किया कि यह उसकी न पायी गई अभिव्यक्ति है

"जो लगातार घूमती है जग में
पता नहीं जाने कहाँ जाने कहाँ, वह है।"[40]

और अभिव्यक्ति को पाने के लिए कवि उसी गलियों, सड़कों, पठारों, पहाड़ों, समुद्रों की खाक छानता फिरता है–

"खोजता हूँ पठार.....पहाड़.....समुन्दर जहां मिल सके मुझे
मेरी खोयी हुई परम अभिव्यक्ति अनिवार आत्म संभवा।"[41]

जिस प्रकार सार्त्र के दर्शन की परिणति मार्क्स से प्रभावित साम्यवाद में हो जाती है उसी प्रकार 'अंधेरे में' कविता में मुक्ति बोध का दृष्टिकोण भी अन्ततः मार्क्स से प्रभावित हो उठता है–

"यह कथा नहीं है, सब सच है, हाँ भाई!!
कहीं आग लग गयी कहीं गोली चल गयी!!"[42]

कवि ने कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी घटना की बार–बार पुनुरूक्ति से जन क्रान्ति का जो अविस्मरणीय माहौल पैदा किया है उसमें भव्याकार भवनों के विकृत चेहरे बेनकाब हो गये हैं।"[43]

हिन्दी कविता में आत्मजयी के अतिरिक्त ऐसी कोई कृति नहीं है जिसे पूर्ण अस्तित्ववादी स्वीकार किया जाये। आत्मजयी का नचिकेता अस्तित्व का

प्रश्न उस रूप में उठाता है जिसमें अस्तित्व, प्रेम, युद्ध, मृत्यु, विषाद का पर्याय है। जिनसे पलायन किया ही नहीं जा सकता। ईश्वर विहीन समाज में जीने वाले व्यक्ति का अकेलापन और मृत्यु आधुनिक सन्दर्भों में मृत्यु है जो मनुष्य के होने को समाप्त कर देती है, क्योंकि व्यक्ति मरता है, और अपनी मृत्यु में वह बिल्कुल अकेला है विवश असांत्वनीय।

हाइडेगर ने भी यही कहा है कि "मनुष्य ऐसे अकेला नहीं होता, केवल मृत्यु के समय ही उसे अपनी हताशा और विवश स्थिति का बोध होता है।"[44]

निराशा आज अधिक स्थायी है, घोर यथार्थ से उसकी मुक्ति नहीं होती और न ही नैराश्य से वह उबर पाता है–

> "जिधर मार्ग उधर आगे पहले ही से एक कठिन अनिश्चय,
> पीछे आ खड़ी होती है एक नयी दीवार जो पहले न थी।
> एक डरावनी छाया और हिचकते पांवों को धमकाकर आगे ढकेलते।
> घातक इरादों के निमर्म इशारे किसी को फाँद जाने का जी चाहता है।"[45]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नयी कविता पर अस्तित्ववादी दर्शन का व्यापक प्रभाव रहा है। एक ओर अस्तित्ववादी दर्शन जहां साम्राज्यवाद पूंजीवादी विचारधारा का विरोध का स्वर मुखर करती है वही नयी कविता ने व्यक्तिवादी आदर्शों के अनुरूप ही इसे स्वीकार किया है, अस्तित्ववादी विचारधारा से हटकर भी वैसे बहुत सी रचनायें हुई हैं जिन पर फ्रायड का प्रभाव परिलक्षित होता है उसका विवेचन आगे किया जा रहा है।

## (स) नयी कविता पर मनोविश्लेषणवादी दर्शन का प्रभाव :

नयी कविता का काव्य सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही दृष्टियों से आभाव का काव्य है। यही अभाव व्यक्ति में कुंठाएं और हीनभावनाएं उत्पन्न करने का उत्तरदायी है। नयी कविता में इसकी अभिवयक्ति क्षणवाद एवं भोगवाद के रूप में हुई है। कवि ने अपने इन्हीं आभावों और दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से करता है–

> "हजारों सालों से सूरज मरा हुआ पड़ा है
> हजारों सालों से आकाश की छाजन चू रही है,
> हजारों सालों से मरे बच्चे पैदा हो रहे हैं,

हजारों सालों से ताजी हवा के इश्तहार सांसों में छपे हैं
हजारों सालों से धूप का इतिहास धरती की छाती पर लिखा है......
मुझे इस धरती को पढ़ने से डर लगता है
मुझे क्षितिज की भूरी दीवारों से डर लगता है,
मुझे आसमान की निगाहें कुतरने से डर लगता है
यह दुनियां एक फाहशा औरत की अँधियारी डाली है—
मुझे इस फाहशा के प्यार में यों ही
गुजरते जाने से डर लगता हैं बेहद।[46]

एक अपूर्ण सुख स्वप्न की स्मृति तृप्ति देती है किन्तु उसके बीत जाने का दर्द जो रिक्तता दे जाता है वह मन को कुंठित कर देती है—

तुम यहां, बैठी हुई हुई थी अभी उस दिन
सेब सी बन लाल, चिकने चीड़ सी वह
बाँह अपनी टेक पृथ्वी पर, यहां इसपेड़ जड़ पर बैठ
मेरी राह में उस धूप में.....चाहता मन तुम यहां बैठी रहो,
उड़ता रहे चिड़ियों सरीखा वह तुम्हारा धवल आंचल
किन्तु, अब तो ग्रीष्म, तुम भी दूर, और यह लू।"[47]

इसी प्रकार की अतृप्त और कुंठित यौन भावनाओं की अभिव्यक्ति गिरजा कुमार माथुर की निम्न पंक्तियों में भी देखा जा सकता है—

"गूँज रही पिछले रंगीन मिलन की यादें
नींद भरे आलिंगन में चूड़ी की खिसलन
मीठे अधरों की वे मीठी—मीठी बातें।"[48]

नयी कविता का कवि यौन भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए रीतिकालीन व छयावादी संस्कारों को छोड़ दिया। इन कवियों ने अपनी दमित व कुंठित यौन भावनाओं की अभिव्यक्ति साफ—साफ एवं सहज भाव से किया, किसी कल्पना व प्रतीक का आवरण ओढ़कर नहीं।

"आह मेरा श्वास है उत्तप्त
धमनियों में उमड़ आई लहू की प्यास
प्यार है अभिशप्त तुम कहां हो नारि?"[49]

व्यक्ति का चेतन उसके अचेतन से प्रभावित व परिचालित रहता है। उसकी काम प्रेरक मनोवृत्तियां इसी अचेतन की ही उपज हैं, और इसकी

अभिव्यक्ति सहज भाव से न होने पर यें कुंठित हो जाती हैं, और मनोविकार, व मानसिक रोगों का कारण बनती हैं इसलिए इसकी अभिव्यक्ति को फ्रायड अनिवार्य मानते हैं। शमशेर, केदारनाथ सिंह, कुंवर नारायण, और विपिन अग्रवाल की अधिकांश कविताओं में भी यह बात देखी जा सकती हैं–

"वह मुझे एक बहुत बड़े काफी हाउस में ले गई,
जहाँ गोल चीनी के वर्तनों की भरमार थी
वृत्तों से मर्यादित सात समुन्दरों की दुनिया थी,
उनके बीच मेरा समतल पन देख
उसने मेरे दोनों हाथों को अपने हाथों में ले लिया,
वह मुझे एक बहुत बड़े मेले में ले गई,
जहाँ सब खुश थे सबको बड़ा मजा आ रहा था,
वहाँ मुझे खाली हाथ देख,
उसने अपनी दृष्टि में मुझे बांध हल्के से चूम लिया
वह मुझे एक सजे सजाये कमरे में ले गई,
जहाँ कुर्सियां थीं मेजें थी और उसकी प्रिय,
कुत्तों की नस्लें और नीली पीली बिल्लियां थीं,
उनके बीच मुझे परेशान देख उसने वहाँ मुझे
रूकने के लिए अपनी दो टाँगे उधार दे दीं
इसी को सच समझे, तबसे मैं कहीं गया नहीं,
यहीं पड़ा हूँ।"[50]

इस कविता में सभी विम्ब यथार्थ जीवन के और बहु परिचित है। वह स्त्री अचेतन मन की प्रेरक शक्ति काम वृत्ति हैं जो संसार में आये एक अजनबी को, जो स्वयं कवि है, आधुनिक जीवन के मंच पर प्रतिष्ठित करती, उसकी अव्यवहारिकता, अकिंचनता, अपंगता को अपनी अजस्र प्रेरणा शक्ति से दूर करके उसे दुनियादार बनाती है।

नयी कविता में यौन प्रतीकों के अधिक्य केवल मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव ही नहीं हैं, सत्य तो यह है कि इन प्रतीकों का सम्बन्ध व्यक्ति की काम वासना से उतना नहीं है जितना कि काव्य पर लगाये गये शुद्धतावादी निषेधों से है। काव्य क्योंकि एक काल्पनिक स्वर्ग की अनुभूति देने वाला माना जाता रहा है। अतः किसी भी प्रकार की अतृप्ति अभाव अथवा वैयक्तिक पीड़ा का

स्थान उसमें नहीं हो सकता था। छायावादी कविता में अपनी बातों को कहने के लिए प्रकृति का माध्यम लिया गया, किन्तु नयी कविता हर बात को निरावृत कर प्रस्तुत करने लगी। जो कुछ कवि की अनुभूति थी उसे स्वर देने के लिए मेघ और सूर्य की छाया का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इस अतृप्त, आभाव तथा वैयक्तिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए मनोविश्लेषणवाद एक आधार के रूप में अवश्य उपस्थित रहा।

धर्मवीर भारती की कविता प्रणय की किशोर भावना से भरी हुई है उसकी कोमलता को व्यक्त करने के लिए श्री भारती ने किन्हीं संकोचमय प्रतीकों और विम्बों को नहीं लिया है—

> ''सोन जूही की पंखुरियों पर पले
> ये दो मदन के बान मेरी गोद में।
> हो गये बेहोश दो नाजुक मृदुल तूफान मेरी गोद में।''[51]

इसी प्रकार की भावना से भरी एक अन्य पंक्ति श्री भारती जी की द्रष्टव्य है—

> ''मृनालों सी मुलायम बाँह ने सीखी नहीं, उलझन,
> सुहागन लाज में लिपटा शरद की धूप जैसा तन
> अँधेरी रात में खिलते हुए बेले सरीखा मन।
> पंखुरियों पर भँवर के गीत सा मन टूटता जाता
> मुझे तो वासना का विष हमेशा बन गया अमृत
> बशर्ते वासना भी हो तुम्हारे रूप से आबाद।''[52]

इन दोनों ही कविताओं को धर्मवीर भारती ने 'गुनाहों के गीत' कहा है। गुनाह संभवतः इसलिए कि ऐसी निर्भीक और स्पष्ट उक्तियां द्विवेदी युगीन निर्देशों ने निाद्धि कर रखी थीं और उन निषेधों का उल्लंघन गुनाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जाता।

नयी कविता में बहुत सी कविताएँ फैंटेसी, शीर्षक देकर लिखी गई है, और इन कविताओं में भी दमित यौन भावनाओं की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। अजित कुमार की 'फैंटेंसी' शीर्षक कविता का कुछ अंश इस प्रकार है—

"एक सपना आँख में झलका
आँसुओं से बनी, दुख के देश की लज्जावती रानी
थिरक कर किसी तारे से उतर आई बड़े अनजान में।
जगमगाता सा अतीन्द्रय रूप, स्वप्नों से रंगा परिधान,
वह अज्ञातनामा राजकन्या प्राण में घिरने लगी,
एक मण्डप में अपरिचित वेदमंत्रों बीच
गठबन्धन किये, छाया सलीखी, भाँवरे फिरने लगीं।
+ + + + + + +
शुभ्र वसना बधू आगे चली, पीछे में विमोहित सा
नगर–पथ विजन वन सब छोड़ता बढ़ता गया।
बड़ा कोहरा, राजकन्या खो गयी, छाया अँधेरा,
मैं शिलाओं पत्थरों पर दूर तक चढ़ता गया।......
एक पर्वत के हिमाच्छादित शिखर पर मैं खड़ा,
नीचे अतल सागर उफनता औ हिलोरें मारता
रह गया मैं चीख से अपनी, गुफाओं कन्दराओं में
बसे निर्दय अदर्शित शून्य को गुंजारता..........
फिर; अचानक प्रियतमा मेरी, गरजते अतल जल से,
जलपरी जैसी उभर कर पास मेरे आ गयी,
बाँह में भर कर, मुझे भी साथ ले कर, होंठ पर
रख होंठ, फिर से लहर बीच समा गयी।"[53]

नयी कविता के कुछ कवियों ने अपनी रचना में दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए काम प्रतीकों का भी प्रोग काफी मात्रा में किया है। काम वृत्ति के प्रतीकात्मक विम्बों का प्रयोग कीर्ति चौधरी की कविताओं में भी काफी दिखाई पड़ता है। उनकी 'बरसते हैं मेघ झर–झर" शीर्षक कविता में बादल के झर–झार बरसने और धरती के भीगने का विम्ब काम प्रतीक हैं और यह कामना भी–

"चाहता मन, छोड़ दूँ, निर्बन्ध तन को
यहीं भीगे, भीग जाये देह का हर रन्ध्र
रन्ध्रों में समाती स्निग्ध रस की धार
प्राणों में अहर्निस जल रही ज्वाला बुझाये!
भीग जाये, भीगता रह जाय यह उत्ताप।"[54]

हिन्दी साहित्य में रीतिकाल की निर्बाध श्रृंगारिकता भारतीय नैतिकता की कठोरता की ही प्रतिक्रिया है। यह प्रतिक्रिया नयी कविता में मनोविश्लेषणवादी दार्शनिक आधार लेकर एक विद्रोह के रूप में प्रकट हुई है। रघुवीर सहाय की कविताओं में यौन वर्जनाओं से विद्रोह की भावना बहुत ही सामान्य और घरेलू बिम्बों के रूप में अभिव्यक्त हुई है।

"थके–थके एक दूसरे को उघरे देखें और न शरमायें.........
कानों के पीछे का मैल निकल जाने दो।"[55]

अज्ञेय के काव्य में भी यौन प्रतीकों का अभाव नहीं है –

"घिर गया नभ उमड़ आये मेघ काले
भूमि के कंपित उरोजों पर झुका सा
विशद, स्वासाहर, चिरातुर छा गया इन्द्र का नील वक्ष –
बज्र सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ सा।"[56]

अपने वक्तव्य में उन्होंने स्वीकार किया है कि, "आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है।.......आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनायें सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है उसके उपमान भी सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।"

अज्ञेय का उपर्युक्त कथन नयी कविता पर मनोविश्लेषण दर्शन के प्रभाव के सन्दर्भ में अक्षरशः सत्य है।

# सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


1. श्रीकान्त वर्मा : 'मार्या दर्पण' शीर्षक कविता से उद्धृत।
2. रघुवीर सहाय : एक अधेड़ भारतीय आत्मा' कविता से उद्धृत।
3. मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा अंधेरे में, सम्पादक अशोक चक्रधर, पृष्ठ–52 से उद्धृत।
4. अज्ञेय : 'हरी घास पर क्षण भर' शीर्षक कविता से उद्धृत।
5. कुंवर : नारायण आत्मजयी' शीर्षक कविता से उद्धृत।
6. सैय्यद सैफुद्दीन : मोहन अवस्थी, हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृष्ठ–313 से उद्धृत।
7. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना 'वह खिड़की' शीर्षक कविता से उद्धृत।
8. रघुवीर सहाय 'एक अधेड़ आत्मा' शीर्षक कविता से उद्धृत।
9. डॉ० राम गोपाल सिंह चौहान : आधुनिक हिन्दी साहित्य राजनाथ शर्मा, हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृष्ठ–668 से उद्धृत।
10. पंत राजनाथ शर्मा–हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृष्ठ–668 से उद्धृत।
11. दिनकर वही, पृष्ठ–668 से उद्धृत।
12. नरेन्द्र शर्मा : 'रक्तचन्दन' शीर्षक कविता राजनाथ शर्मा, हिन्दी साहित्य का वि० इतिहास, पृष्ठ–669 से उद्धृत।
13. माखन लाल चतुर्वेदी 'युगचरण' राजनाथ शर्मा, पृष्ठ–669 से उद्धृत।
14. दिनकर 'नील कुसुम' राजनाथ शर्मा, वही पृष्ठ–669।
15. गोपाल दास 'नीरज' : 'नील के बेटी के नाम पाती' शीर्षक कविता राजनाथ शर्मा हि०सा० का विवेचनात्मक इतिहास, पृष्ठ–670 से उद्धृत।
16. धर्मवीर भारती : 'जिज्ञासा'' राजनाथ शर्मा, वही, पृष्ठ–672 से उद्धृत।
17. जगदीश गुप्त : 'नाँव के पाँव' शीर्षक कविता राजनाथ शर्मा हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृष्ठ–673 से उद्धृत।
18. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : राजनाथ शर्मा, पृष्ठ–673।
19. श्रीमती शान्ता सिन्हा : 'समानान्तर सुने' वही, पृष्ठ– 674 से उद्धृत।
20. घनश्याम अस्थाना वही पृष्ठ–675 से उद्धृत।
21. तीसरा सप्तक : कुँवर नारायण, पृ० 273।

22. दूसरा सप्तक : नरेश कुमार मेहता, पृ० 124।

23. नाँव के पाँव : जगदीश गुप्त, पृ० 21।

24. इत्यलम : अज्ञेय :

25. आत्मजयी : कुँवर नारायण पृ० 120।

26. चक्रव्यूह : कुँवर नारायण, पृ० 125।

27. आलोचना : नामवर सिंह, 1968 जनवरी/मार्च अंक से उद्धृत।

28. संक्रान्त : कैलाश वाजपेयी, पृ० 1 ।

29. वहीं, पृ० 73।

30. एक सूनी नाँव : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, पृ० 31 ।

31. चाँद का मुँह टेढ़ा है : मुक्तिबोध, पृ० 148।

32. माया दर्पण : श्रीकान्त वर्मा पृ० 61 ।

33. वहीं, पृ० 18 ।

34. आत्मजयी : कुँवर नारायण, पृ० 108।

35. विजय देव नारायण साही : राम विलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद के पृ० 105 उद्धृत।

36. एक सूनी नाँव : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, पृ० 29–30।

37. देहान्त से हटकर : कैलाश वाजपेयी पृ० 46।

38. अंधेरे में : मुक्तिबोध

39. अंधेरे में : मुक्तिबोध

40. अंधेरे में : मुक्तिबोध

41. अंधेरे में : मुक्तिबोध

42. अंधेरे में : मुक्तिबोध

43. हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास : डॉ० मोहन अवस्थी पृ० 323 से उद्धृत।

44. मेरी वारनाक : एक्झिशटेंशियल एथिक्स, पृ० 14 से उद्धृत।

45. आत्मजीय : कुँवर नारायण, पृ० 42।

46. दूधानाथ सिंह : 'अपनी शताब्दी' के नाम, पृ० 4 ।

47. नेरश मेहता : 'बोलने दो चीड़ को' पृ० 3 ।

48. गिरजा कुमार माथुर : 'तारसप्तक', सम्पादक अज्ञेय, पृ० 44 ।

49. अज्ञेय : 'इत्यलम' पृ० 157 ।

50. विपिन अग्रवाल : 'एक आत्म कथन' नयी कविता अंक 5–6 पृ० 150।

51. दूसरा सप्तक : धर्मवीर भारती, पृ० 188।

52. वहीं, पृ० 184।

53. अजित कुमार : 'फैटेंशी' शीर्षक कविता अकेले कंठ की पुकार पृ० 15।

54. कीर्ति चौधरी : 'बरसते मेघ झर–झर' शीर्षक कविता से, शंम्भू नाथ सिंह, 'प्रयोगवाद और नयी कविता' पृ० 170 से उद्धृत।

55. रघुवीर सहाय : 'आओ नहाये' सीढ़ियों पर धूप में शीर्षक कविता पृ० 126।

56. इत्यलम : अज्ञेय, पृ० 144 ।

पंचम–अध्याय

# नयी कविता के बाद की हिन्दी कविता

# नयी कविता के बाद की हिन्दी कविता

कविता को काल खण्डों में विभाजित करने के अपने खतरे होते हैं। कविता जिस काल में स्थिति प्राप्त करती है उसकी एक लम्बी प्रवाहमान धारा होती है। जिस भाषा में कविता लिखी जाती है उसे कोई एक कवि या कुछ आदमी मिलकर नहीं बनाते। शब्दों की एक बहुत लम्बी परम्परा है कवि जिन स्मृतियों और कल्पनाओं से काव्यानुभव को भाषा में रचता है वह बरस दो बरस की नहीं होती है उनका भी एक लम्बा बहुत लम्बा संस्कार होता है, इसलिए जब हम कविता को किसी छोटे काल खण्ड में बांट कर पहचानने की कोशिश करते हैं तो उसके खतरों के प्रति सचेष्ट रहना आवश्यक हो जाता है।

नयी कविता के बाद की हिन्दी कविता या साठोत्तर कविता में केवल उन्हीं कवियों को नहीं शामिल किया गया है जिन्होंने सन् 1960 के बाद कलम पकड़ना शुरू किया, बल्कि इस काल खण्ड में तीन–तीन पीढ़ियां साथ–साथ लिख रही हैं। एक अज्ञेय, शमशेर, नागार्जुन और मुक्तिबोध की पीढ़ी है, तो दूसरी सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, मोहन अवस्थी, तथा केदारनाथ सिंह आदि के समकालीनों की तीसरी धूमिल और बाद के कवियों की।

नयी कविता के बाद हिन्दी कविता विविध आन्दोलनों की कविता रही है। अपने समसामयिक पत्र–पत्रिकाओं में वह अनेक चर्चित नामों के रूप में सामने आयी। 'अकविता' न कविता 'अस्वीकृत कविता', 'युयुत्सवादी कविता', 'प्रतिबद्ध कविता', 'भूखी पीढ़ी की कविता', 'नंगी पीढ़ी आदि विभिन्न पीढ़ियां उभरने लगी।

पीढ़ी आधारित वर्गीकरण एक अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। इसलिए इन सभी की चर्चा विषयान्तर होने के नाते करना व्यर्थ है। यहां फिर भी श्मशानी पीढ़ी का एक नमूना देखा जा सकता है–

> "गंगा पार करते हुए मुझे लग रहा है कि मैं, पार
> पार कर रहा हूँ पृथ्वी की सार्वजनिक योनि से"[1]

ऐसी कविता को पढ़ने से किसी दर्शन या विचार की अनुभूति नहीं होती सिवाय जुगुप्सा या घृणा के ऐसी कविताएं मानसिक दीवालिएपन एवं विचार

शून्यता की प्रतीक हैं। इनका मुख्य उद्देश्य पाठकों को चौंकाने के लिए नये—नये हथियार इजाद करना था, पढ़ने के पश्चात् पाठक को चाहे उल्टी ही क्यों न हो जाये। कुछ स्पर्धा, कुछ 'द्वेष और कुछ बीटनिक' तथा 'हिप्पी', 'संस्कारों के प्रभाव से अनेक प्रकार की कविताएं सामने आईं।'

## (क) युयुत्सावादी कविता :

सर्वप्रथम युयुत्सा पत्रिका में युयुत्सावादी कविता की बात उठाई गई। इसके पश्चात् 'रूपांबरा' 1966 के अंक में उसे स्थापित करने की चेष्टा हुई। शलभ श्री राम ने 'साहित्य सर्जन की मूल प्रेरणा' 'आदिम युयुत्सा' को ठहरा कर उसके विभिन्न आयामों को कविता में विम्बित करने पर बल दिया। युयुत्सा के जिजीविषावादी, मुमूर्षावादी, विद्रोहात्मक आदि कितने ही रूप हो सकते हैं। युयुत्सावादी कविता इन सभी रूपों की कविता है। लेकिन इसे किसी दार्शनिक या वैचारिक निकष पर यदि परखा जाये तो इसमें इस प्रकार का कोई तत्व विद्यमान नहीं है जिसे कि दर्शन या उसका प्रभाव कहा जा सके।

## (ख) अकविता :

डॉ० श्याम परमार ने 'अन्तर्विरोधों की अन्वेषक, कविता को 'अकविता' नाम दिया। सन् 1965 में 'अकविता' पत्रिका में इसका अनुमोदन हुआ। धीरे—धीरे उसको व्याख्यायित करके उसका दायरा और बढ़ाया गया। निष्कर्ष यह कि अकविता व्यक्ति के अकेलेपन और उसकी काम, कुंठाओं का चित्रण करती है। जो कुरूप है उसे अनावृत्त करती है और जो अनावृत्त है उसे प्रस्तुत करती है। आत्म रति एवं विकृत सम्बन्धों पर टिका सभी कुछ 'अकविता' का दृश्य है।[2]

> "जोरू के गुलाम साले तमाम मर्द
> पतलूनों के ढीले पायचे चढ़ाकर
> सड़कों पर घूमते"[3]

राज कमल चौधरी, कैलाश वाजपेयी, जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, सौमित्र मोहन आदि अकवितावादी कवि है। राज कमल चौधरी इस दशक के अगुआ थे, एवं इनमें आधुनिकता अपनी समग्रता में दिखाई पड़ती है। इनका आक्रोश एवं गुस्सा परवर्ती परम्पराओं एवं मूल्यों को नकार यौन विद्रूपताओं की

अभिव्यक्ति रूप में व्यक्त हुआ है। चौधरी के काव्य के अलबम में वेश्या, बीमार, शहर, सड़े गोश्तों वाली औरतों के संभोग के फूहड़ चित्रों की कमी नहीं है। इसके पूर्व की मनोविश्लेषण दर्शन से प्रभावित कविता की तुलना में इसमें घृणा व जुगुप्सा के भाव अधिक हैं। फ्रायड की काम भावना में प्रेम सन्नहित था जबकि अकविता में विक्षिप्त मनस् की हबस ही का चित्रण है जिसका प्रभाव पाठक के मन में मिचली का भाव उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार यह कविता भी किसी दार्शनिक छवि को प्रस्तुत नहीं कर पाती हैं। राज कमल चौधरी की 'कंकावती' और 'मुक्ति प्रसंग' के अध्ययन द्वारा इस दशक की नब्ज को देखा जा सकता। श्री चौधरी कंकावती की भूमिका में स्वयं लिखते हैं–"कंका से विवेक हीन घृणा, आसक्ति, हिंसा, संभोग, ईर्ष्या क्षमा विरति, हिंसा संभोग आक्रमण घृणा, ईर्ष्या, पशुत्व संभोग करते हुए मैंने प्रतिक्षण अपने अहम् और अस्तित्व को प्रमाणित किया है।"[4] ये प्रवृत्तियां कंकावती की ही नहीं बल्कि पूरे दशक की है। संभोग को तीन बार दुहराया गया है। जाहिर है इसमें संभोगात्मक नोट्स अधिक है।

कैलाश वाजपेयी के 'संक्रान्त' में समूचे पीढ़ी की अनास्था अभिव्यक्त है–

"चिल्लाती धूप में, बदहवास रात में
कहीं किसी गटर पर
हम खुली पलकें सो जायेंगे
हमें अब किसी व्यवस्था में डाल दो
–(जी जायेंगे)"[5]

स्वतन्त्रता के बारे में कवि कहता हैं–

"एक सिलकी तरह गिरी है स्वतन्त्रता
और पिचक गया है पूरा देश।"[6]

जगदीश चतुर्वेदी का एक काव्य संग्रह 'इतिहास हंता' जिसमें भय, अजनबियत, भदेसपन, सेक्स आदि का वर्णन और सुन्दर लड़कियों को रस्से में बांधकर कोलतार की सड़क पर घसीटते देखने में सुखानुभव, स्तनों को दाँत से काटकर थूक देने में आनन्द। ये सभी विक्षिप्त मानसिकता का पर्याय है। इनके पीछे कोई दार्शनिक आधार नहीं है।

## (ग) अस्वीकृत कविता :

'जुलाई सन् 1966 में उत्कर्ष' पत्रिका के माध्यम से श्री राम शुक्ल ने संभोगानुभव को ही काव्योत्कर्ष का कारण मानते हुए 'अस्वीकृत कविता की पेश बन्दी की। उन्होंने 'मरी हुई औरत के साथ संभोग' शीर्षक कविता लिखकर अपने सिद्धान्त की खुले दिल से व्याख्या करते हुए कहा "संभोग का अनुभव ही पर्याप्त है सात महाकाव्य लिखे जाने के लिए।" और उन्होंने महाकाव्य सप्तक गर्भित अपने उस अनुभव की अभिव्यक्ति किस बेबाक ढंग से की—

राज्य का तख्ता उलट कर
नये लड़कों ने किया देश पर अधिकार—दूसरी खबर

तीसरी खबर —

किसी ने आज अपनी प्रेमिका की योनि पर तेजाब छिड़का।
अब आप पूरी खबरे सुनेंगे।"[7]

इस प्रकार की कविताओं का भाव अकविता के समान ही हैं व इसमें भी कोई दार्शनिक तत्व हमें नहीं देखने को मिलता है।

'नयी कविता के बाद कई नाम आये जैसा कि जगदीश गुप्त ने नयी कविता अंक 8 के 'किसकम—किसिम की कविता' शीर्षक लेख में इन कविताओं की एक लम्बी सूची दी थीं लेकिन तब से अब तक न जाने कितने नारे गूंजकर हवा में उड़ चुके हैं।[8] इसी बीच सन् 1978 ई0 में विचार कविता नामक नारा बुलन्द किया गया, इसके समर्थकों का कहना था कि कविता शुष्क विचारों पर आधारित है, एवं पाठक से तादात्म्य कर सकने में समर्थ नहीं है। लेकिन विचार कविता जैसी कोई धारा हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठापित नहीं हो सकी।

एक प्रकार से यदि देखा जाये तो ये सभी काव्यान्दोलन नयी कविता के उत्तरवर्ती विकास का ही प्रतिफल है। इनका बहुत कुछ नजरिया नयी कविता के समान ही है। गद्यात्मकता का विरोध नहीं करके बल्कि उसे अपनाये रखा। इन सभी का उद्देश्य अपनी कविता में विचित्रता उत्पन्न करके पाठकों का ध्यानार्काण प्राप्त करना भले ही इसके लिए इन्हें गाली या भौंड़े शब्दावली का प्रयोग ही क्यों न करना पड़े।

## (घ) नयी कविता के बाद की (साठोत्तर) हिन्दी कविता पर मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव :

नयी कविता के बाद की हिन्दी कविता नवीन अभिरूचि नवीन सौन्दर्य बोध और नये संवेदन की कविता है। रोमांटिक भावुकता के स्थान पर यथार्थपरक बौद्धिकता, संयम सुरूचि, संतुलन और भद्रता के स्थान पर सच्चाई साहस और खरापन, मासृण और कोमल के स्थान पर अनगढ़ की स्वीकृति, समझौता और यथास्थितिवाद के स्थान पर संघर्ष और विद्रोह का आग्रह, परम्परागत मूल्यवादी दृष्टि के स्थान पर अनास्था और मूल्यहीनता का स्वर; अलंकृत भाषा के स्थान पर बेलौस सपाट बयानी तथा आक्रोश, क्षोभ, उत्तेजना तनाव और छटपटाहट आदि संक्षेप में साठोत्तर कविता की विशेषताएं हैं। पर यथार्थ के नाम पर उच्छृंखल अभिव्यक्ति, सच्चाई और साहस के नाम पर आक्रामक नग्नता, विद्रोह के नाम पर बड़बोलापन, और यौन विकृतियों का प्रदर्शन, सपाट बयानी के स्थान पर सतही बयानबाजी, और तनाव के नाम पर अतिनाटकीय मुद्रा भी साठोत्तर कविता में कम नहीं है, बल्कि ज्यादा ही है।[9]

### (i) जनवादी कविता :

सन् 1970 के आस–पास आते–आते हिन्दी कविता अपने इस पुराने स्वर को त्यागने पर मजबूर हो जाती है। आजादी के बीस वर्षों के अनुभव, स्वतन्त्रता के समय के मूल्यों एवं मानदण्डों का टूटना, जिन आदर्शों को जनमानस अपने हृदय में संजोये था, उसका तिरस्कार, स्वतन्त्रता के समय निश्चित नीतियों, विकास योजनाओं आदि से जनता में विश्वास था कि स्वतन्त्र भारत उनके सपनों का भारत होगा, लेकिन तथा कथित, राजनेता, एवं नौकरशाही भ्रष्टाचारियों ने समूची व्यवस्था को व्यवस्थित भ्रष्ट्राचार द्वारा दीमक की तरह चाटकर खोखला बना दिया। इसी बीच चीन और पाकिस्तान से लड़ाई, एवं 1967 के भयंकर आकाल ने हमारी अर्थव्यवस्था की रही सही कसर भी निकाल ली, ऊपर से राजनेताओं एवं नौकरशाही का शोषण, आदि कुछ ऐसे कारण रहे जिससे कि जनमानस में एक विद्रोहात्मक चेतना का संचार हो रहा था। जिसकी अभिव्यक्ति 'जनवादी' रचनाकारों द्वारा समय–समय पर अपनी रचनाओं में किया गया है। ये जनवादी कवि चूंकि प्रगतिशील चेतना से सम्बन्धित रहे इसलिए इन पर मार्क्स के विचारों का प्रभाव लाजमी था। सन् साठ तक

आते–आते हिन्दी कविता की मुख्यधारा में जो स्थिरता आ गई थी प्रयोग का आग्रह लेकर बढ़ने वाली हिन्दी नयी कविता ने भी जाने अनजाने अपना एक कविता संस्कार बना लिया था, साठ के बाद के कवियों ने इन काव्य संस्कारों से अपने को मुक्त करने का प्रयास किया तथा पुराने काव्य रूढ़ियों को तोड़ा। अपनी कविता का पूर्ववर्ती कवि/कविताओं से अन्तर बताते हुए रघुवीर सहाय लिखते हैं।–

"कितना अच्छा था छायावादी
एक दुःख लेकर वह एक गान देता था
कितना कुशल था प्रगतिवादी
हर दुःख का कारण पहचान लेता था।
कितना महान था गीतकार
जो दुख के मारे अपनी जान देता था।
कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में
जहां सदा मरता है एक और मतदाता।"[10]

मरते हुए मतदाता को कविता के केन्द्र में लाने की कोशिश राजनीति को कविता के केन्द्र में लाने की कोशिश थी जो साठोत्तर कविता की एक विशेष उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। ये सब कुछ एकाएक नहीं हो गया कि अब तक जो कवि प्रेम एवं यौवन/यौन के गीत गा रहे थे वे राजनीतिक कविताएँ लिखने लगे। इसके पीछे तत्कालीन परिस्थितियां और इन परिस्थितियों को उत्पन्न करने वाले तथाकथित भ्रष्ट राजनीतिज्ञ थे जो कि शोषण को बढ़ावा दे रहे थे। दरअसल आज के युग में राजनीति से जूझना कवि कर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। राजनीति आज की मानव–नियति को नियन्त्रित करने वाली शक्तियों में प्रमुख है अतः उसे इन्कार करने का अर्थ सच्चाई को इनकार करना है, भारत जैसे अल्प विकसित लोकतन्त्र में रहने वाले कवि के लिए तो यह और भी आवश्यक है। नयी कविता के बाद की (साठोत्तर कविता) हिन्दी कविता अगर जुलूस, नारा, लाठी चार्ज, कर्फ्यू, चुनाव, मतदान, भीड़ और संसद की बात करती है तो वह इसीलिए कि वह मनुष्य को उसके सही परिवेश में रखना चाहती है। हाँ इस प्रसंग में यह स्वीकार करना ईमानदारी होगी कि सातवें दशक में ढेर सारी कविताओं में उपर्युक्त शब्दों को चालू मुहावरों की तरह इस्तेमाल करके राजनीति को एक फैशन का रूप दिया गया जिससे कविता समर्थ होने की जगह भ्रष्ट भी कम नहीं हुई। वस्तुतः राजनीति के लिए कविता का इस्तेमाल

करने और कविता के लिए राजनीति का उपोग करने में फर्क है। इस सन्दर्भ में पहली पीढ़ी के कवियों 'नागार्जुन' और बीच की पीढ़ी के कवियों रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल और केदारनाथ सिंह का उल्लेख प्रासंगिक होगा।

साठोत्तर पीढ़ी के कवियों में 'धूमिल' जो एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में उभरे और अपने समय के कवियों पर जिनका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, की कविता सच्चे अर्थों में 'सड़क और संसद' अर्थात जनता और जनतन्त्र की कविता है। धूमिल की सारी शब्दावली सामाजिक राजनीतिक संसार की शब्दावली है। वह सही अर्थों में सामाजिक राजनीतिक चेतना के कवि हैं। आजादी के पन्द्रह–बीस वर्षों बाद भी जब एक देश आत्मनिर्भर न बन सका उल्टे वह और भी समस्यापूर्ण बन गया, बढ़ती हुई सामाजिक आर्थिक विसंगतियों ने जनता का प्रजातंत्र से मोह भंग कर दिया। सन् साठ के बाद की इसी स्थिति का चित्रण रघुवीर सहाय ने अपनी निम्न पंक्तियों में किया है–

> "बीस बरस बीत गये
> लालसा मनुष्य की तिलमिलाकर मिट गई।"[11]

इसी मोह भंग और वर्तमान व्यवस्था के प्रति असहमति व्यक्त करती हुई 'धूमिल' की कविता आगे बढ़ती है–

> "बीस साल बाद और इस शरीर में
> सुनसान गलियों से चोरों की तरह गुजरते हुए
> अपने आप से सवाल करता हूँ–
> क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है,
> जिन्हें एक पहिया ढोता है
> या इसका कोई खास मतलब होता है।"[12]

चौथे आम चुनाव में कांग्रेस की पराजय से सत्ता हथियाने के लिए वह घुड़दौड़ मची की पूंछिए मत गैर कांग्रेसी सरकार ने छः महीने में वह सब कुछ कर दिखाया जो कांग्रेसियों ने बीस वर्षों में नहीं किया था। नयी पीढ़ी के कवियों का लोकतन्त्र से विश्वास डिगना स्वाभाविक था–

> लोकतन्त्र को जूते की तरह लाठी में लटकाये,
> भागे जा रहे सभी सीना फुलाये।[13]

सन् 1947 ई० की आजादी आर्थिक असमानता को दूर करने वाली न होकर मात्र राजनीतिक आजादी ही रही है। विदेशों के समानान्तर स्वदेशी विदेशियों ने राजसत्ता को संभाला। जिसमें मुख्य रूप से पूंजीपत्तियों तथा जमींदारों का ही वर्चस्व रहा। जिसने अपने स्वार्थ से आम जनता के हितों को दूर रखा। जिससे सर्वहारा, सर्वहारा ही रह गया। पुराने जीवन के ढर्रे से नये जीवन के ढर्रे में कोई बदलाव नहीं आया। धूमिल ने लिखा है–

> "और हर बार मुझे लगा है कि कहीं,
> कोई खास फर्क नहीं है
> जिन्दगी उसी पुराने ढर्रे पर चल रही है
> जिसके पीछे कोई तर्क नहीं है।"[14]

देशकी वर्तमान स्थिति से अच्छी तरह से परिचित धूमिल की कविताओं में शोषण तंत्र की शिकार मानवता के उज्ज्वल भविष्य की कामना के भी दर्शन होते हैं लेकिन यह सपना साकार न हो सका–

> "मैंने इन्तजार किया–
> अब कोई बच्चा भूखा रहकर, स्कूल नहीं जायेगा
> अब कोई छत बारिश में नहीं टपकेगी,
> अब कोई आदमी कपड़ों की लाचारी में
> अपना नंगा चेहरा नहीं पहनेगा।
> अब कोई दवा के अभाव में
> घुट–घुट कर नहीं मरेगा
> अब कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा
> अब वह जमीन अपनी है, आसमान अपना है
> जैसा पहले हुआ करता था–
> सूर्य, हमारा सपना है
> मैं इन्तजार करता रहा।"[15]

परन्तु यह अभिलाषाा कवि के समक्ष विगत बीस वर्षों में दम तोड़ती नजर आयी। आजादी झूठी प्रतीत होने लगी कुछ इसी प्रकार की मनोदशा का चित्रण लीलाधर जगूड़ी की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है–

> "सूचना विभाग के हर पोस्टर पर
> खुशहाली है चारों ओर

कंगाली के पास आंटा नहीं गाली है
और जिस पर कोई नहीं खाना चाहता
आजादी एक जूठी थाली है।''[16]

निश्चित रूप से सन् 60 के बाद जागरूक जनता को मोहभंग का तीखा एहसास होने लगा था और देश के कोने-कोने में विद्रोह का स्वर सुनाई देने लगा था। एक तरफ जहां छठें दशक की युवा पीढ़ी की कविता नयी कविता द्वारा स्थापित की गयी मूल्यों के साँचे को तोड़ती हुई जनवादी लेखन परम्परा को जीवन्त दिशा प्रदान करती है। वहीं पूंजीवादी शोषण व्यवस्था के खिलाफ आवाज बुलन्द करने की अहम् भूमिका भी निभाती है और शोषणहीन समाज की स्थापना की दिशा में पहल करती हुई विद्रोहात्मक रूख अपनाती है। इनमें सामाजिक परिवर्तन की तीव्र उत्कंठा थी। सामाजिक परिवर्तन के लिए जनता को जगाने की जरूरत पड़ती है। केदार नाथ सिंह ने अपनी एक कविता में लिखा है-

''यह समय है जब आदमी को
चमत्कार के बारे में फिर से सोचना चाहिए।''

धूमिल जैसे विद्रोही कवि इस व्यवस्था की अनियमितताओं और कमियों को महसूस करते हैं और अपनी कविता में विद्रोह का स्वर देते हुए जनता से संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए और सही जनतन्त्र कायम करने के लिए कहते हैं-

''आओ यह नर्णय लें हम दोनों मिलकर
अपने जानने और अपने नकारने का
एक संयुक्त मोर्चा बनायें
आज की भूख से अगले पड़ाव तक लिख दें
यह रास्ता जनतन्त्र को जाता है।''[17]

धूमिल जनतन्त्र को बुर्जुआ वर्ग का नकाब मानते थे जिसे ओढ़कर वह अपने विष मुँही चेहरे को छिपाता है। गरीबों की गरीबी से खेलने वाले शोषकों की खबर लेते हुए धूमिल लिखते हैं-

''एक आदमी रोटी बेलता है, एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी है, जो न रोटी बेलता है और न खाता है।
वह सिर्फ रोटी से खेलता है, मैं पूछता हूँ-
''यह तीसरा आदमी कौन हैं?,
मेरे देश की संसद मौन है।''[18]

धूमिल की उपर्युक्त कविता सीधे पूंजीवादी शोषण व्यवस्था पर प्रहार करती है, तथा वह तीसरे आदमी को लेकर संसद से सवाल करती है। इस कविता पर मार्क्सवादी दर्शन का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

धूमिल की कविता समूचे देश और जनता को शोषण से मुक्ति दिलाने की राह तलाशती है। इस तलाश में वह विद्रोह करती है। वर्ण–वर्गविहीन समाज की स्थापना हेतु धूमिल की कविता जनक्रान्ति का आह्वान करती है।

"इसलिए उठो अपने भीतर,
सोये हुए जंगल को आवाज दो
उसे जगाओ और देखो–
कि तुम अकेले नहीं हो और न किसी के मुहताज हो,
लाखों हैं जो तुम्हारे इन्तजार में, खड़े हैं वहां चलो।"[19]

समूहगत चेतना पैदा करने वाली उपर्युक्त पंक्तियां धूमिल की वर्ग चेतना एवं मार्क्सवादी चेतना की प्रतीक हैं। धूमिल पूंजीवादी शोषक मानसिकता से एवं उसके छद्म वेश दोनों से ही भलीभांति परिचित थे। धूमिल आहिस्ता–आहिस्ता परिवर्तन के पक्ष में न थे इस तरह का परिवर्तन उन्हें संदेहजनक लगता था। उन्होंने लिखा है–

"यद्यपि यह सही है कि मैं, कोई ठण्डा आदमी नहीं हूँ
मुझमें भी आग है– मगर वह, भभक कर बाहर नहीं आती
क्योंकि उसके चारों तरफ चक्कर काटता हुआ
एक "पूंजीवादी" दिमाग है, जो परिवर्तन तो चाहता है
मगर आहिस्ता–आहिस्ता।"[20]

धूमिल की कविता शोषण से ग्रस्त जनता की मुक्ति मार्ग की खोज करती हुई सामूहिक मुक्ति चेतना के साथ आगे बढ़ती है। धूमिल वर्ग विहीन समाज को स्थापित करने की बात पर जोर देते हैं। जिस नये समाज में प्रत्येक व्यक्ति समान रहता है। वह ऊँच–नीच के भेदभाव और शोषण से मुक्त रहता है। जो साम्यवादी समाज में ही संभव है। धूमिल ने लिखा हैं–

"सच कहूँ मेरी निगाह में न कोई छोटा, न कोई बड़ा
मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने मरम्मत के लिए खड़ा है।"[21]

जनवादी कविता व प्रगतिवादी कविता का वर्ण विषय एक सा ही प्रतीत होता है दोनों में सर्वहारा शोषित जनता की पीड़ा का चित्रण किया गया है, एवं शोषण से मुक्ति का आग्रह जनक्रान्ति के माध्यम से किया गया है। कबीर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द्र, निराला, मुक्तिबोध और धूमिल जैसे युग कवियों ने साधारण जनता को अपने काव्य का विषय बनाकर इनके पक्ष में रचनायें की हैं। जनवादी कविता एवं प्रगतिवादी कविता दोनों ही मार्क्सवादी साम्यवादी दर्शन से प्रभावित अवश्य हैं किन्तु इनके बीच का मौलिक अन्तर रचना दृष्टि को लेकर है। प्रगतिवादी कवि मार्क्सवादी विचारधारा के बंधे बंधाये 'फ्रेम' में अपनी रचनाओं को प्रस्तुत करता है जबकि जनवादी कवि नारेबाजी, प्रचार, से दूर जनता के दुःख, दर्द, एवं सामाजिक, आर्थिक विसंगतियों का चित्रण अपनी कविता में करता है। वर्ग चेतना के साथ ही साथ इनमें प्रतिक्रियावादी शोषक शक्तियों का जवाब भी देने की शक्ति है।

आजादी के बाद निश्चित रूप से जनवादी कविता ने अपने को आगे बढ़ाया और जनवादी हितों के लिए संघर्ष किया। मुक्तिबोध की यह कविता जनवाद को व्यापकता देती है–

"जिनके स्वभाव के गंगा जल ने युगो–युगों को तारा है
जिनके कारण यह हिन्दुस्तान हमारा है
कल्याण व्यथाओं में धुलकर
जिन लाखों हाथों पैरों ने यह दुनिया पार लगाई है
जिनके ही पूत–पावन चरणों में हुलसे मन से
न्योछावर जा सकते सौ–सौ जीवन इन जन–जन का
दुर्दान्त रूधिर मेरे भीतर–मेरे भीतर।"[22]

इसी समूहगत चेतना और जन प्रतिबद्धता के साथ धूमिल का आगमन होता है। धूमिल के आगमन से जनवादी परम्परा को गति एवं दिशा मिलती है। धूमिल की कविता जनवादी हितों को नई दिशा की ओर अग्रसारित करती है। मुक्ति बोध की ललकार धूमिल की कविता में दिखाई देती है–

"मुझमें पूरे समूह का भय चीखता है।
दिग्विजय ! दिग्विजय !!"[23]

मोची राम कविता धूमिल की जनवादी चेतना को रेखांकित करती है। इसमें उन्होंने लिखा है–

"चोट जब पेशे पर पड़ती है,
तो कहीं न कहीं एक चोर कील
दबी रह जाती है, जो मौका पाकर उभरती है,
और अंगुली में गड़ती है।"[24]

धूमिल का जनवादी चिन्तन ऐसे मूलभूत समस्याओं के प्रति बयान इंगित करती है जो सीधे व्यवस्था की ढाँचे से जुड़ी रहती है। इसलिए बेरोजगारी और गरीबी की समस्या पैदा होती है तब जनता का सत्य रोटी से जुड़ जाता है—

"सुनो!
आज मैं तुम्हें वह सत्य बतलाता हूँ
जिसके आगे हर सच्चाई छोटी है। इस दुनिया में
भूखे आदमी का सबसे बड़ा तर्क रोटी है।"[25]

प्रगतिशील आन्दोलन के अधिकांश कवियों पर मार्क्सवाद का ही बोलबाला था वे मार्क्सवाद से प्रभावित होकर अपनी रचनाओं के माध्यम से शोषण व्यवस्था पर प्रहार कर रहे थे। हिन्दी कविता में जब धूमिल पदार्पण करते हैं तो उनका पूरा दौर भारतीय स्तर पर ही नहीं विश्व के स्तर पर भी वैचारिक संघर्ष का दौर था। वह स्पष्टतः अराजकता के दौर से गुजरने वाला समय था। जिसका एक तरफ निश्चित रूप से धूमिल पर गहरा प्रभाव पड़ता है तो दूसरी तरफ वे मार्क्सवाद से प्रभावित होते हैं। फिर भी किसी सक्रिय संगठन से न जुड़कर ईमानदार कलाकार के रूप में श्रमिक जनता के पक्ष में और शोषण व्यवस्था के विरोध में कविताएं लिखते हैं। यद्यपि धूमिल की भाषा एवं शब्दों के गठन की अतिरंजता एवं अकवितावादी अश्लीलता भी दिखाई देती हैं—

"हर लड़की तीसरे गर्भपात के बाद
धर्मशाला बन जाती है,
और कविता तीसरे पाठ के बाद।"[26]

तथा—क्रान्ति—

यहां के असंग लोगों के लिए
किसी अबोध बच्चे के हाथों की जूजी है।"[27]

फिर भी इन नकारात्मक पहलुओं को सकारते हुए यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि निश्चित रूप से धूमिल व्यवस्था (शोषणवादी व्यवस्था) को बुनियादी रूप में बदलना चाहते थे।

(ii) दलित चेतना :

सन् 1970 के बाद दलित चेतना को केन्द्र में रखकर कुछ रचनायें भी हुई हैं। इस संदर्भ में डॉ० मोहन अवस्थी कृत "अभिशप्त महारथी' खण्ड काव्य' दलित चेतना को अपूर्व प्रेरणा देने वाला काव्य है। इसकी भूमिका में स्वयं अवस्थी जी ने लिखा है, कर्ण को जीवन भर व्यक्ति से नहीं समाज से लड़ना पड़ा। जितना संघर्ष कर्ण ने किया महाभारत में अन्य किसी पात्र को उतना संघर्ष नहीं करना पड़ा और इस संघर्ष के मूल में उसका सूत जाति से सम्बद्ध होना था। आधुनिक युग में उच्च जाति से इतर जाति में उत्पन्न महान व्यक्तित्व को कर्ण की तरह ही सामज से लड़ना पड़ा रहा है अतः ऐसे नायक में ही वह अपना प्रतिरूप खोज सकेगा।'[28]

"इस समय हमारे देश के सामने जो प्रमुख समस्यायें हैं उनमें राष्ट्र की अखंडता के लिए राष्ट्रीयता की भावना जागृत करना प्रथम समस्या है। इसके लिए वर्ण व्यवस्था एक अभिशाप है। प्रतिभाशाली तरूणों की विद्रोहात्मक प्रकृति का नियन्त्रण भी कम जटिल चुनौती नहीं है। यह विद्रोही प्रवृत्ति क्यों उत्पन्न होती है इसका स्वरूप समझना भी आवश्यक है। तीसरी विकट समस्या शिक्षा पद्धति की असंगति है शिक्षा की विकृतियां क्या हैं और शिक्षा का आदर्श क्या होना चाहिए? मेरी समझ में कर्ण को इन सारी समस्याओं के विरूद्ध जूझना पड़ा होगा। अतैव मैंने उसके अन्तः संघर्ष को व्याख्यायित करने में इन सभी समस्याओं की कल्पना की है। आशा है कि यह काव्य भारतीय संस्कृति का चित्र प्रस्तुत करते हुए देश की आधुनिक समस्याओं का समाधान खोज निकालने में सहायक सिद्ध होगा।"[29]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पौराणिक पात्र द्वारा आधुनिक युग की समस्याओं को स्वर देना ही कवि की मूल दृष्टि रही है। समाज में व्याप्त शोषण, ऊँच–नीच, वर्गभेद आदि का बड़ा ही सजीव चित्रण इस खण्ड काव्य में मिलता है। इसकी संवाद शैली तो केशव की 'राम चन्द्रिका' की याद ताजा कर देती है।

यद्यपि कि कर्ण का जन्म कुंती के गर्भ से हुआ लेकिन उसका पालन पोषण सूत अधिरथ एवं उसकी पत्नी राधा ने किया। प्रथम सर्ग में इसके जन्म से लेकर युद्धाभ्यास तक की घटना का वर्णन किया गया है। युद्धाभ्यास के

समय कर्ण का अचानक उपस्थित होना एवं अर्जुन के समान वाण चलाने की क्षमता का होना–

> "हाय हाय! अरे यह अचानक विपत्ति कहां से आई?
> सबको दिया रंग में मानो होता भंग दिखाई।"[30]

एक बार तो कृपाचार्य भी सकते में आ गये, अर्जुन को द्वन्द्व युद्ध के लिए कर्ण द्वारा ललकारने पर कृपाचार्य ने युद्ध से पहले कर्ण का वर्ण एवं जाति जाननी चाही। यह सुनते ही कर्ण –

> "यह कर श्रवण विवर्ण हुआ वह वीर तनिक सकुचाया
> खेद प्रकट कर स्वेद त्वचा छिद्रों से बाहर आया।"[31]

और कहता है–

> "लेना जन्म हाथ में मेरे न था, मिला जो, पाया
> किन्तु हाथ में है पौरुष जो मैंने स्वयं कमाया।
> उसकी परख करे जो भी वह वीर सामने आये
> वर्ण जन्म का शून्य बहाना लेकर मुँह न छिपाये।"
> क्या पैतृक सम्पत्ति वर्ण है, या कोई बंधन है?
> + + + + + + +
> यह तो केवल सबल वर्ग का अपने मन का धन है।
> कर प्रयत्न कोई भी क्षत्रिय, ब्राह्मण पद पा सकता
> नीच कर्म रत होने पर है शूद्र कहा जा सकता।"[32]

कृपाचार्य द्वारा मर्यादा की बात की गई –

> "मर्यादा वश समकुल वालों का संगर होता है,
> हीन वर्ण से रण करने में वंशमान खोता है।
> परम्परा है क्षत्रिय, क्षत्रिय या नृप से लड़ता है
> अतः प्रथम परिचय होना आवश्यक आ पड़ता है।"[33]

चूंकि कर्ण निम्न कुल में पला था और वह राजा भी नहीं था इस मनःस्थिति से उसे उबारने के लिए दुर्योधन ने कर्ण को तत्काल अंग देश का राजा बनाया। राज्याभिषेक के बाद जब लोगों को यह पता चला कि कर्ण अधिरथ का ही सुत है तो भीम ने कर्ण को ताना मारा–

> "कश लेकर रथ हाँको, तुमको शस्त्र न शोभा देते
> तुम जैसों के साथ युद्ध कर वीर न अपयश लेते।"[34]

आज के वर्तमान समय में भी इस प्रकार की जातीय अयोग्यता द्वारा योग्य व्यक्तियों को उनके योग्य स्थान से वंचित होना पड़ रहा है। निम्न कुल से सम्बद्ध होने के कारण जो अपमान कर्ण ने झेला वह आज का दलित वर्ग भी झेल रहा है।

अर्जुन द्वारा अपमान के शब्द बाण कर्ण के हृदय को बेध रहे थे–

"अर्जुन बोले–"व्यर्थ यह काँव–काँव करता है?
क्या सियार को देख सामने सिंह कभी डरता है।"[35]

इस प्रकार की भावनायें आज भी दृष्टिगोचर होती हैं। शूद्रों के लिए (चमार–सियार) शब्दों का ही प्रयोग लोग प्रायः करते देखे जाते हैं। कर्ण के प्रति अपमान जनक शब्दों को सुन दुर्योधन को क्रोध होता है और समस्त मानव में समानता की बात करता है–

मानव है मानव, समान रक्त अस्थिमांस,
आत्म बल जिसमें है आगे बढ़ जायेगा।
कायरता वंश आवरण में नहीं छिपती है,
वंचक अवश्य करनी का फल पायेगा।
झूठ ऊँच–नीच का करेगा भेद जो समाज,
तीव्र द्रोह–ज्वाल में गिरेगा जल जायेगा
भौं–भौं करते जो करें, उच्च ही रहेगा उच्च
भौंकने से कुत्तों के, न हाथी रूक पायेगा।"[36]

इस प्रकार श्री अवस्थी जी ने अपने खण्ड काव्य के माध्यम से दलित चेतना को उभारने का प्रयास किया है, एवं साथ ही साथ उनमें, हमें मानवता का संदेश, समानता, व साम्यवाद का आग्रह प्रबल रूप में हमें दिखाई देता है। 'अभिशप्त महारथी दलित चेतना से प्रेरित उत्तर भारत का प्रथम खण्ड काव्य' है। इसकी रचना 1975 की है। इसके परवर्ती कवियों पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में नागार्जुन की बलछी काण्ड पर लिखी गई 'हरिजन गाथा' कविता भी हिन्दी साहित्य में अभूतपूर्व है। ऐसी कल्पना शायद ही किसी अन्य कवि ने की हो कि अपने जनकों पर जो अत्याचार हो रहे थे, उसकी पीड़ा से उनकी संतान भ्रूण उद्वेलित होकर पेट में दौड़ने लगे–

"एक अपूर्व आकुलता उनके गर्भ कुच्छियों के अंदर बार–बार,
उठने लगी टीसें लगाने लगे, दौड़ उनके भ्रूण अंदर ही अंदर।"[37]

"हरिजन गाथा' के नायक हरिजन शिशु का भाग्य उन हथियारों से नियत हो गया जिनसे उनके पिता को मारा गया था—

"देख रहा था नव जातक के दायें कर की नरम हथेली
सोच रहा था, इस गरीब ने सूक्ष्म रूप से विपदा झेली।
आड़ी तिरछी रेखाओं हथियारों के ही निशान हैं
खुखरी है, बम है, असि भी है गंड़ासा भाला प्रधान है।"[38]

समाज में व्याप्त अन्याय एवं शोषण का समूचा नाश एक दिन अवश्य होगा, क्रान्ति की भावना का चित्रण डॉ० मोहन अवस्थी जी की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है—

"जिस समाज में धन पर निर्भर न्याय, प्रताप प्रतिष्ठा,
लोग अपात्रों की प्रति ही दिखलाते सेवा निष्ठा
उस समाज में खोटे सिक्के धूम धाम से चलते,
स्वाभिमान पीसा जाता है, दुष्ट फूलते—फलते।
जिस समाज में पक्षपात, अन्याय, अनीति खराबी,
वह सड़ चुका समूचा उसका नाश अवश्य संभावी।"[39]

इस प्रकार जिस दलित चेतना के बीज हम अवस्थी जी के 'अभिशप्त महारथी' खण्ड काव्य में पाते हैं उसका विकास नागार्जुन की 'हरिजन गाथा' कविता के रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार नागार्जुन जन कवि है। वह प्रगतिशील भी हैं जनवादी कवि भी, नव जनवादी कवि भी और राष्ट्रीय कवि भी। वह किसी राजनीतिक दल की प्रशंसा कर सकते हैं तो किसी की आलोचना भी—

"आये दिन बहार के खिले हैं दांत ज्यों दाने अनार के
दिल्ली से लौटे हैं अभी टिकट मार के।"

यहाँ खिले हैं दाँत, नेता के मुखमण्डल का वीभत्स शोषक रूप दर्शाता है। 'अभिशप्त महारथी' एवं 'हरिजन गाथा' मार्क्सवाद के नारे या प्रचार स्वरूप लक्षित करके नहीं लिखी गई है फिर भी मार्क्सवादी साम्यवादी आदर्श की प्रति ध्वनि इसमें स्पष्ट सुनाई देती है।

आठवें दशक की जनवादी कविता का स्वर उतना आक्रामक नहीं रहा जितना कि इसके पूर्व था। इसमें उत्तेजना, खीझ, बड़बोलापन कम है। यह कविता केवल इशारा करती है–

"आप विश्वास करें मैं कविता नहीं कर रहा
सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ
वह पक रही है और आप देखेंगे–यह भूख के बारे में
आग का बयान हैं जो दीवारों पर लिखा जा रहा है।"[40]

आठवें दशक की कविता मामूली आदमी और आदमी के बुनियादी प्रश्नों को अपना विषय बनाती है पर एक गहरे काव्यानुशासन के साथ वह अधिक बोलती नहीं गंभीर अर्थ संकेत देती है। आठवें दशक की कविता में जहां एक ओर रोटी, भूख, चूल्हा पतीली है वहीं दूसरी ओर चिड़िया फूल पत्ती भी एक ओर आग है तो दूसरी ओर आग भी।

नयी कविता के बाद की साठोत्तर कविता के बारे में हम पाते हैं कि सन् साठ के बाद के अधिकांश कवि बामपंथी विचारधारा (मार्क्सवादी विचारधारा) के कवि हैं। यद्यपि की मार्क्सवादी एवं गैर मार्क्सवादी दोनों ही विचारों से प्रभावित कविताएं इस काल में मिलती हैं, लेकिन चाहे मार्क्सवादी हों या गैर–मार्क्सवादी उनकी कविता में एक गहरी सामाजिक चेतना प्राप्त होती है। उनकी कविता मामूली आदमी के संघर्षों को चित्रित करने वाली पक्षधर कविता है।

नवें दशक के मुख्य कवियों में राजेश जोशी, अरूण कमल, मंगलेश डबराल और असद जैदी। इन कवियों में जोशी और अरूण कमल प्रतिबद्ध कवि हैं। निःसंदेह ये कवि अच्छी रचनायें कर हरे हैं, किन्तु विषयान्तर होने के कारण हम यहां उनका उल्लेख नहीं कर पा रहे हैं। इस दशक के कुछ कवि जो कि जनवादी। नव जनवादी परम्परा के हैं उनकी रचनाओं में मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है, स्वर्गीय मान बहादुर सिंह की निम्न पंक्तियों में सर्वहारा वर्ग का प्रतीक रिक्शे वाले की व्यथा का सतही वर्णन है–

"धीरे–धीरे गहरा गई है रात डाट पुल के नीचे
रिक्शे पर सो गया रिक्शेवान टांग सिकोड़
सिवा सपनों के बन्द हो गया है हर किसी का आना जाना।"[41]

इसी प्रकार इनकी ''सुर्ती'' कविता में भी वर्ग चेतना की भावना अभिव्यक्त पा रही हैं–

''सुर्ती अपनी सच्ची साथी
सस्ती साथी
+ + + +
जहाँ सफेद अभिजन हों,
बड़ी महीन बात करते हों
इसको मलकर उनके आगे जब करता हूँ
मुँह बिचकाते
मैं बस हँसता
उनसे कहता–
छोटा होना बड़ी बात है
बड़ा तो कोई भी हो सकता
जिसमें थोड़ा छल फरेब है,
वह अपना इमान बेचकर कुछ पा सकता है।
जब शराब के दौर चल रहे
या सिगरेट फका फक उड़ते
अंग्रेजी में शेखी भरते
तब यह सुर्ती अवधी, भोज पुरी में उड़कर
उनकी सांसों के संग घुसकर
उनके अहंकार के ठसकों को,
आदिम छीकों से भरती।''[42]

सोवियत रूस में साम्यवादी शासन के समाप्ति के अनिवार्य परिणाम स्वरूप मार्क्सवादी विचारधारा का संकट ग्रस्त होना तथा कम्युनिस्ट पार्टियों के विघटन ने पूंजीवादी अमेरिकी शोषण को बढ़ावा दिया है। विश्व व्यापार संगठन के मसौदे पर हस्ताक्षर से भारत भी उसकी गिरफ्त से बच नहीं पायेगा कुछ ऐसी ही भावना भारत यायावार की निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुई हैं–

''हजारों मील से बढ़ा आ रहा है एक अदृश्य पंजा
उसने पहले लातीनी देशों को दबोचा
खाड़ी देशों को अपनी गिरफ्त में ले चुका है
अब हम तक भी पहुँचना ही चाहता है

उसका है एक विशाल उदर
और असंख्य लम्बे अदृश्य हाथ
वह दबोचता है दुनियां के कमजोरों को
और उदरस्थ कर लेता है
वह कबन्ध का आधुनिक अवतार – – – –
क्या तुमने कभी सोचा है
जब छीन ली जायेगी तुम्हारे निवाले की रोटी
और गली के कुत्तों की तरह
रह जायेगी तुम्हारी स्वाधीनता
कभी तुमने सोचा हैं?[43]

पूंजीवादी अर्थ प्रधान युग में मानवीय संवेदनायें मरती जा रही हैं, इसी का चित्रण निम्न पंक्तियों देखा जा सकता है–

"आदमी की भीड़ में तनहा खड़ा है आदमी
प्यार का घर खोजता ये फिर रहा है आदमी।
एक चेहरे पर कई चेहरे लगाते लोग जब
आज रहबर दोस्त भी रहजन हुआ है आदमी।
देश क्या है, धर्म क्या, भाषा न भाई है कहीं
चंद सिक्कों के लिए जब बिक रहा है आदमी।"[44]

मानवीय मूल्यों के ह्रास का जो चित्रण उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया हैं उसका कारण पूंजीवादी व्यवस्था ही है। इसी पूंजी वादी व्यवस्था की धज्जियां निम्न पंक्तियों में उड़ती नजर आती है–

"अरमानों की लटकती लाश आपका एहसान है,
रोटी नहीं कुछ नहीं, यही धर्म ईमान है
मरने–से जिन्दा हैं आपका एहसान है।[45]

पूंजीवादी शोषण का शिकार आम आदमी मुर्दे के समान ही अपने अस्तित्व को ढो रहा है। और ये शोषक वर्ग अपने ऐश एवं आराम में मस्त हैं। इसी पर यह पंक्ति तीखा व्यंग करती है।

पूंजीवादी शोषण को व्यंजित करने वाली डॉ० मोहन अवस्थी के अनुगीत की निम्न पंक्तियां दृष्टव्य हैं।

"भोग संग्रह स्वर निनादि उच्च वैभव सोध में
वासना नाचे विषम, शोषण न हो संभव नहीं।"[46]

तथा कथित एवं पूंजीवादी होड़ ने देश को खोखला कर दिया है, एक प्रवासी की स्वदेश वापसी कविता में कवि इस शोषण व शोषकों के विरूद्ध क्रान्ति व विद्रोह का आवाहन करता है—

"पालम हवाई अड्डे पर जब उतरा मेरा विमान
वर्षों बाद पाया अपना बिछुड़ा हिन्दुस्तान
राष्ट्र की दुर्दशा देख हो गया मन खिन्न
अंग्रेज तो गये पर राष्ट्र हो भिन्न
धर्मराजों के बदले दुर्योधनों का बोलबाला है।
अपनी—अपनी छोड़ औरों की कौन सुनने वाला है।
सदाचार के द्वार पर मरघट सी नीरवता है
हे आकुल मन जागो,
और ऐसी नीरवता का अन्तः स्थल चीर दो
परिवर्तन का शंखनाद करो
जीवन में नव जागरण का मन्त्र भरो।"[47]

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद के बाद प्रवाहित होने वाली प्रगतिशील चेतना, व मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित रचनायें आज भी हो रही हैं, भले ही उनका स्वरूप कुछ बदल गया है लेकिन उनके मूल में वही शोषक और सर्वहारा वर्ग ही है। जब तक यह असमानता समाज में व्याप्त रहेगी तब तक इसकी अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में कवि द्वारा होती रहेगी।

### (ङ) नवगीत :

नयी कविता के बाद मार्क्सवादी विचारधारा से अलग छाठोत्तरी हिन्दी कविता में एक धारा प्रवाहित हुई। इसके मूल में नयी कविता की गद्यात्मकता को त्याग कर कविता में विचार के साथ—साथ गेयात्मकता भी होना था। नयी कविता की तरह ही गीतकारों ने अपनी पहचान बनाने के लिए आन्दोलन चलाया। नवगीत एक यौगिक शब्द है जिसमें नव (नयी कविता) और गीत (गीत विधा) का समावेश है। "नवगीत ने नयी कविता से प्रेरणा ली थी लेकिन बाद में अपनी पहचान प्रथक स्थापित करने के लिए वह नयी कविता द्वारा ग्रहीत प्रचार ढंग का अनुकरण भी करने लगी 'सप्तकों के पैटर्न पर सन् 1982 में शंभूनाथ

सिंह द्वारा सम्पादित 10 कवियों (नईम, सोमठाकुर, देवेन्द्र ठाकुर, भगवान स्वरूप, उमाकान्त मालवीय, शिव सिंह भदौरिया, रामचन्द्र, चन्द्र भूषण, ठाकुर प्रसाद सिंह, शंभूनाथ सिंह) का संकलन 'नवगीत दशक'–1 नाम से सामने आया। नवगीत दशक–2 तथा नवगीत दशक तीन क्रमशः 1983 और 1984 में प्रकाशित हुए। इनके कवि हैं कुमार शिव, अनूप अवशेष, रामसेंगर, ओम प्रभावकर, उमाशंकर तिवारी, गुलाब सिंह, श्रीकृष्ण तिवारी, अमरनाथ श्रीवास्तव, एवं अखिलेश कुमार सिंह, राजेन्द्र गौतम, डॉ० सुरेश, योगेन्द्र दत्त शर्मा, जहीर कुरैशी, दिनेश सिंह, विनोद निगम, ब्रज किशोर, सुधांशु उपाध्याय, बुद्धिनाथ मिश्र।''[48]

नवगीत का काव्य नयी कविता की आरोपित आधुनिकता से ग्रस्त नहीं होने पाया हैं यहां भोगा यथार्थ है लेकिन है भारतीय–

> ''खाली जेबें जो ढीले दो हाथ लिए
> शोर के कुहासे में किस क्षण के साथ जिए।''[49]

शंभूनाथ सिंह की काव्य यात्रा काफी लम्बी है छायावादी संस्कारों से चलकर ये नये संस्कारों को समेटे हुए पुनः नवगीतों की सीमा तक जा पहुंचते हैं। वे मूलतः गीतकार हैं। उनके प्रारम्भिक गीत संग्रहों रूप रश्मि, छायालोक, में रूमानी रूपासक्ति और तरल प्रणयोद्गार है। 'उदयाचल' में वे उपरले स्तर की प्रगति शील चेतना से अक्रान्त हैं। शंभूनाथ सिंह की भाषा में अद्भुत लोच एवं मादलय, लोक धुन, आंचलिक शब्दावली विरोधाभास एक दूसरे में रच पच कर उनके गीतों को संश्लिष्ट बना देते हैं–

> ''किसकी यह छाँह और किसके यह गीत रे?
> बरगद की छांह और चैता के गीत रे।
> सिहर रहा जिया तुम कहाँ?
> टेर रही प्रिया तुम कहाँ?
> किसके ये कांटे है, किसके ये पात रे?
> बेरी के काँटे हैं केले के पात रे।
> बिहर रहा हिया, तुम कहाँ?
> टेर रही प्रिया तुम कहाँ?[50]

इस प्रकार हम देखते है कि नवगीत में गेयात्मकता है, आंचलिकता है, लेकिन दार्शनिकता नहीं है। इनमें किसी भी प्रकार की दार्शनिक विचारधारा का प्रभाव नहीं देखा जा सकता है।

## (च) अनुगीत :

नयी कविता के बाद के काल में कुछ ऐसी रचनायें भी हुई हैं जो किसी एक दार्शनिक विचारधारा से आबद्ध न होते हुए भी अपने आप में व्यापक जीवन दर्शन लिए हुए हैं। इनमें कहीं नैतिक मीमांसा दर्शन है तो कहीं अद्वैत वेदान्त। कहीं पर प्रगतिशील चेतना तो कहीं वैयक्तिकता के साथ–साथ सार्व भौमिकता का आग्रह भी है। 'कविता लय भाव बिम्बित मनोरम वाणी है।'[51] यदि भाव एवं बिम्बों के साथ मनोरमता भी हो तो उस पद्य को कविता कहते हैं। कविता शब्द साधना की चरमावस्था है। जिस प्रकार योग की अन्तिम स्थिति प्राप्ति हो जाने पर पुरूष कर्म न करता हुआ भी कर्म करता है एवं करने पर भी नहीं करता, उसी प्रकार शब्द साधना की पराकाष्ठा पर स्थित कवि लिखने पर भी कुछ नहीं लिखता और न लिखने पर भी सब कुछ लिखता है।

अनुगीत के प्रणेता डॉ० मोहन अवस्थी के अनुगीतों में शब्द साधना की इस उदात्त भावना के दर्शन किए जा सकते हैं। अनुगीत, अनु+गीत शब्दों से बना है अनु का अर्थ जो देखा, परखा एवं अनुभूत किया गया हो और गीत से गेयात्मकता का तात्पर्य व्यंजित होता है। इस प्रकार अनुगीत में भाषा की सुसंवेद्यता, भावों की गंभीरता और विचारों की प्रौढ़ता के साथ लय का आकर्षण अनुगीत की विशेषतायें हैं।

अनुगीतों की रचना का उद्‌देश्य किसी दर्शन या विचारधारा का प्रतिपादन या लक्ष्य नहीं रहा है, बल्कि ये विचार स्वतः ही इसमें प्रस्फुटित व व्यंजित हो जाते हैं। निराला की भांति श्री अवस्थी जी ने शब्दों की मणियों को पिरोकर अनुगीत की माला तैयार की है जिसका–

"हर शब्द व्यग्र धड़कन, हर अर्थ इशारा है।"[52]

जहां तक दर्शन और विचारधारा का प्रश्न है उनके प्रत्येक अनुगीत में कुछ न कुछ दार्शनिक या वैचारिक भाव व्यंजित अवश्य होता है–

"कौन गिनता है किसे लाख अकड़ते रहिए
हम कि तुम, तुम नहीं हम, खूब झगड़ते रहिए।
मोरचा लग न सके और चमक बढ़ जाए
दृष्टि सौन्दर्य के चरणों पर रगड़ते रहिए।"[53]

इस पंक्ति से अद्वैत वेदान्त दर्शन का भाव व्यंजित हो रहा है। व्यक्ति को सांसारिक माया, मोह हम तुम के झगड़ों से परे हटकर उस परम तत्व सत्यं शिवम् सुन्दरम् में अपना ध्यान रमाना चाहिए।

इसी प्रकार की भावनाओं का दर्शन एक अन्य पंक्ति में भी देखें–

"सर बहुत मारा जगत का रूप खुल पाया नहीं
फंस गया कुछ जीभ में, कुछ आंख में कुछ कान में
कीजिए क्या और उनको व्यर्थ क्या समझाइए
हाथ से यदि थक गये तो रम गये व्याख्यान में।"[54]

ब्रह्माण्ड के वास्तविक स्वरूप का बोध सामान्य बुद्धि, अनुभव व वाणी से परे है। यहां पर वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

अपने ज्ञातता का ज्ञान तो सभी को होता है लेकिन अपने अज्ञान का ज्ञान विरलों को ही होता है।

"क्या करें इस जिन्दगी में दूसरी संभव नहीं
ज्ञान मुश्किल से हुआ इतना, कि हैं अज्ञान में।"[55]

यहां पर सुकरात की विचारधारा–

"I know the only thing that I know nothing"

'सुकरात' से उपर्युक्त पंक्तियों की साम्यता देखी जा सकती है।

माया और भ्रम में व्यक्ति सारा जीवन बिता देता हैं–

केंचुली समझे कि मैं हूँ सांप को साधे हुए
यों बिता दी उम्र हमने पूर्ण इत्मिनान में।"[56]

यहां पर भी वेदान्त दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है। श्री अवस्थी जी की प्रगति शील चेतना निम्नलिखित अनुगीत में अपने ही ढंग से व्यंजित हो रही है–

"भस्म है कुछ अंग तो कुछ अधजले हैं

हम जहां जिस हाल में अच्छे भले हैं
भूख की ज्वाला जलन भी रोशनी भी
क्या समझ सकते कि टुकड़ों पर पले हैं।''[57]

उन्हें कभी भी उस भूख और गरीबी का आभास नहीं हो सकता जो स्वयं इन गरीबों के श्रम व शोषण से अपना पेट पाल रहे हों। इसमें मार्क्सवादी विचार प्रतिध्वनित हो रही है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन में परम तत्व ब्रम्ह, सच्चिदानन्द सत्यम् शिवम् सुन्दरम, सभी के अन्दर व्याप्त है, किन्तु उसे किसी ने देखा और छुआ नहीं हैं, पर उसे महसूस सभी करते हैं–

''प्रणाम सौन्दर्य तुझे हमारे कि तू सदा है हुआ नहीं है
रचा बसा तो हरेक में, पर कभी किसी ने छुआ नहीं है।''[58]

अद्वैत वेदान्त का प्रभाव यहां स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। सृष्टि का सब विधान नियत है इसी नियतवाद का प्रभाव निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है–

''अगर रवि न छिपता, अंधेरा न आता,
न चन्दा चमकता न तारे निकलते
न यदि नाचती भूमि, थोड़ी न झुकती
न दिन रात होते न मौसम बदलते
हुआ न गत न अपना, अनागत न वश में
न तो रोक सकते कि जो हो रहा है
मगर हर जगह सर खपाये पड़े हैं
किसी पर उबलते, कहीं पर पिघलते
न यदि नाचती भूमि, थोड़ी न झुकती
न दिन रात होते न मौसम बदलते।''[59]

हथौड़ा, हंसिया मार्क्सवाद का प्रतीक है। इन प्रतीकों का प्रयोग निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है।

''हथौड़ा, कि हंसिया किताबों के बंडल
लिए योजनायें कि झण्डे उठाये खुला रास्ता,
चल रहे सब रहेगा
अगर याद वह कि जो मंजिल मिलाए।''[60]

उपर्युक्त पंक्तियों में मार्क्सवादी नारे, और ढिढोरे को त्याग एक ऐसे रास्ते की बात की गई हैं जो की मानवता के मंजिल तक जाता है। समानता के पक्षधरता इसमें है लेकिन नारेबाजी नहीं।

इस प्रकार हमें अनुगीतों में व्यापक दार्शनिकता का पुट मिलता है। यह श्री मोहन अवस्थी जी के व्यापक जीवन दृष्टि का प्रभाव हैं। सही अर्थों में अनुगीत मन्त्र कविता है, जो अपने छोटे से कलेवर में गंभीर भावों एवं विचारों को समेटे हुए है।

# सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


1. निर्भय मलिक : हिन्दी सा० का अद्यतन इतिहास डॉ० मोहन अवस्थी, पृ० 316 से उद्धृत।
2. डॉ० मोहन अवस्थी– हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास पृ० 316 से उद्धृत।
3. जगदीश चतुर्वेदी वही, पृ० 317।
4. बच्चन सिंह : आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 297।
5. कैलाश वाजपेयी संक्रान्त बच्चन सिंह आ०हि० सा० का इतिहास, पृ० 297 से उद्धृत।
6. वही, पृ० 297
7. डॉ० मोहन अवस्थी, हिन्दी सा० का अद्यतन इतिहास, पृ० 317 से उद्धृत।
8. वही, पृ० 317
9. विश्वनाथ प्रसाद, त्रिपाठी : साठोत्तर हिन्दी साहित्य का परिप्रेक्ष्य पृ० 2 से उद्धृत।
10. वही, रघुवीर सहाय : पृ० 3 से उद्धृत।
11. आत्म हत्या के विरूद्ध : रघुवीर सहाय, पृ० 86।
12. संसद से सड़क तक, धूमिल, पृ० 10।
13. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना साठोत्तर हिन्दी साहित्य का परिप्रेक्ष्य, पृ० 5 से उद्धृत।
14. संसद से सड़क तक धूमिल, पृ० 123।
15. वही, पृ० 101
16. साठोत्तर हिन्दी साहित्य का परिप्रेक्ष्य विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, पृ० 5 से उद्धृत।
17. सुदामा पाण्डेय का प्रजातन्त्र : धूमिल– पृ० 34।
18. धूमिल : कल सुनना मुझसे, पृ० 33।
19. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० 110।
20. वही, पृ० 115।
21. वही, पृ० 36।
22. मुक्तिबोध : रचनावली भाग–5, पृ० 76।
23. धूमिल : कल सुनना मुझे, पृ० 10।

24. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० 38–39।

25. वही, पृ० 113।

26. वही, पृ० 7।

27. वही, पृ० 17।

28. डॉ० मोहन अवस्थी : अभिशप्त महारथी की भूमिका से उद्धृत।

29. वहीं, ।

30. वही, पृ० 28।

31. वही, पृ० 28।

32. वही, पृ० 29।

33. वही, पृ० 29।

34. वही, पृ० 30।

35. वही, पृ० 33।

36. वही, पृ० 35।

37. नागार्जुन : हरिजन गाथा, आजकल पत्रिका जून 1996 के पृ0 8 से उद्धृत।

38. वही पृ० 8।

39. डॉ० मोहन अवस्थीः अभिशप्त महारथी, पृ० 40–41।

40. केदार नाथ सिंह : 'साठोत्तर हिन्दी साहित्य का परिप्रेक्ष्य–विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, पृ० 9 से उद्धृत।

41. मान बहादुर सिंह : आवाजों का उजाला, वर्तमान साहित्य कविता विशेषांक/ (अप्रैल, मई संयुक्तांक) 1992 पृ० 79–80 से उद्धृत।

42. मान बहादुर सिंह, की 'सुर्ती शीर्षक कविता' वर्तमान साहित्य कविता विशेषांक/ (अप्रैल, मई संयुक्तांक) 1992 पृ० 81–82–83।

43. वहीं, भरत यायावर : 'कबन्ध'' पृ० 217–18।

44. राधेश्याम बंधु : 'आदमी की भीड़ में' कादम्बनी जनवरी, 1997 अंक पृ० 59 से उद्धृत।

45. केदार नाथ कोमल : गीतिका, कादम्बनी वर्ष अस्त, 1997 अंक पृ० 173।

46. नवनीत, फरवरी 1996 (मोहन अवस्थी अनुगीत) पृ० 44।

47. बद्री प्रसाद गुप्त : एक प्रवासी की स्वदेश वापसी नवनीत मासिक पत्रिका जून–1999 पृ० 49।

48. डॉ० मोहन अवस्थी : हि0सा0 का अद्यतन इतिहास, पृ० 329 से उद्धृत।

49. नईम, (हि0सा0 का अद्यतन इतिहास मोहन अवस्थी, पृ० 328 से उद्धृत)।
50. शंभूनाथ सिंह, वही, पृ० 328 से उद्धृत।
51. डॉ० मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ० 329।
52. डॉ० मोहन अवस्थी : हलचल के पंख, पृ० 1।
53. वही, पृ० 46।
54. वही, पृ० 50।
55. वही, पृ० 50।
56. वही, पृ० 50।
57. डॉ० मोहन अवस्थी : 'नवनीत' : हिन्दी पत्रिका अगस्त 1996, पृ० 96।
58. डॉ० मोहन अवस्थी : 'कादम्बनी' हिन्दी पत्रिका अगस्त 1997, पृ० 15।
59. डॉ० मोहन अवस्थी : 'नवनीत' नवम्बर, 1999, पृ० 60।
60. डॉ० मोहन अवस्थी : कादम्बिनी मार्च 2001, पृ० 54।

# सहायक ग्रन्थ सूची


1. हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास; डॉ० मोहन अवस्थी, सरस्वती प्रेस–इलाहाबाद 1994।

2. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ० नगेन्द्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1995

3. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998

4. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास : बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद 1997

5. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास राज नाथ वर्मा विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा; 1968

6. हिन्दी साहित्य, युग और प्रवृत्तियाँ, डॉ० शिव कुमार शर्मा अशोक प्रकाशन दिल्ली, 1980

7. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिध कवि : डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1993

8. हिन्दी साहित्य का इतिहास; लक्ष्मी सागर वार्षणेय, प्रकाशक।

9. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : विश्वनाथ त्रिपाठी, एन०सी०ई०आर०टी० प्रकाशन 1993

10. मार्क्सवाद लेनिनवाद क्या है? व बुजुयेव, व गोरादनोव प्रगति प्रकाशन मास्को, हिन्दी 1988।

11. कम्युनिज्म क्या है? ह० सबीरोव प्रगति प्रकाशन मास्को, हिन्दी 1988

12. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास भाग–1 सम्पादक प्रो० दयाकृष्ण : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1993

13. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड दोः सम्पादक प्रो० दयाकृष्ण राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 1990।

14. पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास : डॉ० हरिशंकर उपाध्याय दर्शन अनुशीलन केन्द्र इलाहाबाद 1999।

15. समकालीन पाश्चात्य दर्शनः बसन्त कुमार लाल, मोतीलाल बनारसी दास, 1990

16. समाकालीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास : जगदीश सहाय श्रीवास्तव : अभिव्यक्ति प्रकाशन 1996

17. सामाजिक विचारधारा – रवीन्द्र नाथ मुखर्जी विवेक प्रकाशन दिल्ली 1999।

18. समाज दर्शन एक विमर्शः डॉ० दुर्गादत्त पाण्डेय इण्डिया बुक ऐजेन्सी इलाहाबाद, 2000

19. समाज दर्शन : शिवभानु सिंह : शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1999।

20. धर्म दर्शन की रूप रेखा : डॉ० लक्ष्मी निधि शर्मा अभिव्यक्ति प्रकाशन इलाहाबाद, 1997

21. उपनिषद् – चक्रवर्ती राज गोपालचार्य (अनुवादक सीताचरण दीक्षित) सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन – 1995।

22. भारतीय दर्शन आलोचना और अनुशीलन – चन्द्रधर शर्मा : मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली 1995।

23. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ : नामवर सिंह लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1998।

24. राग विराग निराला लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद 1997।

25. सुमित्रानन्दन पंत कुष्ण दत्त पालीवाल : साहित्य अकादेयी 1990।

26. निराला की दो लम्बी कविताएँ डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद 1997।

27. आधुनिक काव्य कला और दर्शन : डॉ० राम मूर्ति त्रिपाठी : साहित्यभवन – इलाहाबाद 1973।

28. छायावाद काव्य तथा दर्शन – डॉ० हर नरायाण सिंह : ग्रंथ कानपुर 1964।

29. पंत काव्य कला और दर्शन : गोपाल दास नीरज और सुधा सक्सेना– आत्मा राम एण्ड संस 1963।

30. प्रगतिवादी कविता : श्री उमेश चन्द्र मिश्र : ग्रंथम कानपुर, 1966।

31. स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी और गुजराती नयी कविता (शोध प्रबन्ध) डॉ० मंजू सिन्हा। : नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 1998।

32. कवियों का कवि शमशेर : डॉ० रंजना अरगड़े वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 1998।

33. मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन इतिहास तथा सिद्धान्त, डॉ० शिवकुमार मिश्र : मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी 1973।

34. प्रयोगवाद और नई कविता : शंभूनाथ सिंह : समकालीन प्रकाशक 1966।

35. मुक्तिबोध की कविताई (आलोचना) : अशोक चक्रधर : राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1998।

36. चाँद का मुँह टेढ़ा है और अंधेरे में: सम्पादक अशोक चक्रधर संनीता प्रकाशन दिल्ली 1998।

37. प्रयोगवाद नरेन्द्र देव वर्मा : अनुसंधान प्रकाशन कानपुर 1964।

38. प्रयोगवाद और अज्ञेय : शैल सिन्हा।

39. प्रयोगवाद और मुक्तिबोध : नरेन्द्र शर्मा : संजय बुक सेंटर वारणसी 1964।

40. प्रयोगवादी काव्य धारा : रमाशंकर तिवारी : चौखम्बा विद्याभवन, वारणसी 1964।

41. अस्तित्व वाद और नयी कविता : डॉ० राम विलाश शर्मा : राजकमल नई दिल्ली, 1978।

42. क्रान्ति दर्शी कवि धूमिल : डॉ० वी० कृष्ण प्रकाशक – अशोक भारती हाथरस : 1994।

43. धूमिल और उनका काव्य संघर्ष : डॉ० मालती तिवारी प्रतिमा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966।

44. समकालीन कविता, डॉ० मालती तिवारी प्रतिमा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966।

45. साठोत्तर हिन्दी साहित्य का परिप्रेक्ष्य – विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, पुणे, 1988।

46. अभिशप्त महारथी : डॉ० मोहन अवस्थी : साहित्य पीठ इलाहाबाद 1991।

47. हलचल के पंख (अनुगीत सं०) डॉ० मोहन अवस्थी अनुगतों का संकलन 1995।

48. हलचल के पंख (अनुगीतों का संकलन) 1995 प्रकाश नीरजा अवस्थी वितरक– संतोष प्रिंटर्स जवाहर लाल नेहरू रोड इलाहाबाद।

49. नयी कविताओं में प्रेम सम्बन्ध : डॉ० सुषमा भटनागर प्रेम प्रकाशन मन्दिर, 1989।

50. हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य : रामकमल राय लोकभारतीय प्रकाशन इलाहाबाद 1991।

51. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद : डॉ० शिव प्रसाद सिंह : नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली 1988।

52. नयी कविता की भूमिका : डॉ० प्रेमशंकर नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली 1998।

53. प्रथम तार सप्तक : भाग 1, 2, 3, 4, – सम्पादक – अज्ञेय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

54. पत्र पत्रिकाएँ

55. वर्तमान साहित्य : सम्पादक विभूति नरायण राय नोयडा,

56. आजकल : प्रकाशन विभाग पाठशाला हाउस नई दिल्ली।

57. नवनीत बम्बई।

58. कादम्बिनी दिल्ली ।